श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला २, ६.

वर्णी-वाणी

(तृतीय भाग)

सङ्कलयिता और सम्पादक—

विद्यार्थी नरेन्द्र

काव्यतीर्थ, शास्त्री, साहित्याचार्य, बी० ए०

प्रकाशक—

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला

भदैनीघाट, काशी

समर्पण—

पूज्य गुरुवर्य्य श्री पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य
साहित्य अध्यापक श्री गणेशप्रसाद दि० जैन वि० सागर
जिन्होंने मुझ जैसे अल्पज्ञ विद्यार्थी की कर्कश हृदयभूमिमें
साहित्य-शिक्षा का अंकुरारोपण, सिञ्चन, संवर्द्धन और
संरक्षण कर साहित्य देवता के चरणोमें अपने श्रद्धा
सुमन समर्पित कर सकने योग्य बनाया; उन्हीं
पूज्य गुरुदेव

के

कर कमलों

में

श्रद्धावनत

शिष्य—

नरेन्द्र

प्रकाशकीय वक्तव्य

जैसा कि हमने "वर्णीवाणी" द्वितीय भागका प्रकाशन करते समय संकेत किया था कि "भविष्यमें वर्णीवाणीका जितना संकलन होता जायगा उसका प्रकाशन तीसरे चौथे आदि भागोंके रूपमें ग्रन्थमाला द्वारा होता जायगा" इसके अनुसार प्रसन्नताकी बात है कि वर्णीवाणी तीसरे भागके प्रकाशित करनेका सौभाग्य अति शीघ्र ग्रन्थमालाको प्राप्त हो रहा है। इस तरह आत्मकल्याणार्थी पाठकोंको पूज्यपाद वर्णीजीके उपदेशका एक और सुयोग आत्मकल्याणके लिये प्राप्त होगा।

वास्तवमें आत्मकल्याणका साधन जीवनकी पवित्रता है। लेकिन जीवनकी पवित्रता परावलम्बनवृत्तिसे उन्मुक्त होकर अधिक से अधिक स्वावलम्बनवृत्तिको अपनानेसे ही हो सकती है। जिसके लिये पर (पौद्गलिक) वस्तुओंमें अनासक्तिकी भावनाको अन्तःकरणमें स्थान देते हुए उनका (पर वस्तुओंका) यथाशक्ति त्याग करना आवश्यक है। वैसे तो वर्णीवाणीके प्रत्येक भागसे इसकी प्रेरणा पाठकोंको मिलती है फिर भी तीसरे भागकी विशेषता यह है कि श्रीपण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य सागरवालोंकी सत्कृपासे उनके द्वारा संकलित और संपादित पूज्यपाद वर्णीजीका दश धर्म उपदेशामृत भी इसमें जोड़ दिया गया है जो जनसमाजको अनासक्ति भावना और त्यागकी ओर अग्रसर होनेके लिये अत्यन्त स्फूर्ति प्रदान करता है। श्रीपण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्यके इस प्रयत्न और कृपाके लिये ग्रन्थमाला उनकी अतीव आभारी है।

दश धर्म उपदेशामृतके अतिरिक्त तीसरे भागके शेष विषयोंका संकलन और संपादन प्रथम और द्वितीय भागके समान श्री विद्यार्थी

नरेन्द्रजीने किया है। पाठक श्री विद्यार्थीजीसे काफी परिचित हो चुके हैं अतः उनके विषयमें मुझे विशेष कुछ नहीं कहना है। यही बात मैं श्री पंडित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीके विषयमें भी कहना चाहता हूँ। साथ ही इतना अवश्य कहूँगा कि वे ग्रन्थमालाके सयुक्तमंत्री पदपर आसीन अवश्य हैं परन्तु मैं तो ग्रन्थमाला और पंडितजी दोनोंको पृथक् पृथक् माननेको तैयार नहीं हूँ। वास्तवमें कार्यकी दृष्टिसे ग्रंथ-माला पंडितजीके अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रह जाती है।

इस समय भी मैं प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सहयोगियोंके प्रति आभार प्रदर्शित किये बिना नहीं रह सकता हूं। कारण कि उनके सहयोगके बिना इसका सुचारु रूपसे प्रकाशित होना अशक्य था।

श्री १०५ पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय गुरुदेव वर्णीजी महोदयके विषयमें मुझ जैसे व्यक्तिका प्रशसाके रूपमें कुछ लिखना शोभा नहीं देता जब कि इस सब प्रयत्नके मूल सूत्रधार वे ही है। आध्यात्मिक जगत्में जो उच्चतम स्थान उनको प्राप्त है उसके कारण अन्तःकरणसे बार बार यही आवाज निकलती है—

"तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनं।
तिष्ठतु वर्णिमहोदय········"

माननीय पाठकोंसे मैं यही आशा रखता हूँ कि वे प्रथम व द्वितीय भागकी तरह इस तीसरे भागको भी समुचित रूपसे अपनावेंगे।

निवेदक—

ता० २८–८–५४
बीना

वंशीधर व्याकरणाचार्य
मन्त्री श्री ग० वर्णी ग्रन्थमाला काशी।

अपनी बात

पूज्य वर्णीजीके साहित्यसे श्रद्धालु पाठक सुपरिचित हैं। द्वितीय भागकी तरह तृतीय भाग के संकलन और सम्पादन करनेमें मैंने जो आनन्दानुभव किया वह वचनातीत है। दोनों ही भागोंकी वैसी ही माँग और तृतीय भागकी उत्सुकतापूर्ण प्रतीक्षा—यह दोनों ही उसकी लोकप्रियताके प्रतीक हैं। यह लोकप्रियता मुझे इस भागकी तरह चतुर्थ और पञ्चम भागको संकलित करनेकी प्रेरणा देगी ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रस्तुत भागमें ली गई सामग्रीमें पूज्य गुरुदेव श्रीमान् पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य 'वसन्त' महोदय द्वारा सङ्कलित व सम्पादित पूज्य वर्णीजीके सागरमें हुए प्रवचन इस पुस्तकको साङ्गोपाङ्ग बनानेमें एक गुरु वरदानके रूपमें प्राप्त हुए हैं। बिना सङ्केत लिपिका सहारा लिये, तत्काल बिना कुछ लिखे, मन्दिरसे घर आकर समय मिलनेपर, वर्णीजीके प्रवचनोंको ज्योंका त्यों लिपिवद्ध करना पूज्य गुरुदेवकी विलक्षण क्षयोपशम शक्ति द्वारा ही सम्भव था। इस पुण्य कार्यके लिये मैं उनका चिरऋणी हूँ। शेष सामग्रीमें पूज्य श्रीकी सन् १९४७, ४८, ५०, ५१ की दैनन्दिनी तथा गयामें हुए प्रवचन प्रमुख हैं।

पूज्य गुरुमण्डलका, जिसकी सत्शिक्षा एवं शुभाशीर्वादसे इस पुण्य कार्यमें सफलता मिली, श्रीमान् पूज्य पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री महोदय जिनके निःस्वार्थ सहयोगसे पुस्तक सङ्कलन, सम्पादनमें सभी प्रकारकी सहायता मिली तथा अन्य सभी प्रत्यक्ष, परोक्ष सहयोगियोंका आभारी हूँ और भविष्यमें इसी तरहकी कृपाका आकांक्षी एवं भूलोंके लिये क्षमा प्रार्थी हूँ।

पूज्य वर्णी सन्तकी विमलवाणी—'वर्णी-वाणी' से जगजनका कल्याण हो यही भावना है।

काशी
वर्णी जयन्ती
वि० सं० २०११

विद्यार्थी नरेन्द्र

कहाँ क्या पढ़िये ?

वर्णी-वाणी

[कल्याण-कुटीर]

वर्णी-वाणी

तृतीय भाग

मङ्गलाचरण

निकन्दो विघ्नानां, सकलनिलयो धर्मतपसाम्,
निधिः कल्याणानां गुणगणचयः पूज्यचरणः ।
यतिस्थानं वाचां कविवरगणानां श्रमहरः,
गुरुर्वर्णी पूज्यो भवतु भवतां नित्यसुखदः ॥

कल्याण-कुटीर

१. सदा निर्मल भावनाकी चेष्टा करो। परोपकारकी भावना भी आत्मोपकारसे अनुस्यूति रखती है। बातोंसे न स्वोपकार होता है न परोपकार होता है। कार्यमें उद्यम करनेसे स्वोपकार होता है। आजन्म गल्पवादकी अपेक्षा एक मिनट भी उपयोग को निर्मल बनाने का प्रयत्न बहु कल्याणकारक होता है। जिस दिन यह कार्यमें परिणत हो जावेगा अनायास ही आत्म-कल्याण हो जावेगा।

(११।१।४७)

२. जब तक मनुष्य अपने कर्तव्यसे विमुख रहता है तब-तक आत्मोत्कर्ष करनेमें असमर्थ रहता है। कल्याणका मार्ग अत्यन्त सरल और सन्निहित है परन्तु हम उसे अति दूर और कठिन मानकर निरन्तर भयभीत रहते हैं। नाना प्रकारके मनुष्यों-के पास जाते हैं, उनकी सुश्रूषा करते हैं, मिलता कुछ नहीं, परन्तु आशा लगी रहती है। इस प्रकार जन्म गवाँ देते हैं।

(२।२।४७)

३. परकी निन्दा-प्रशंसामें हर्ष-विषाद करना अधम पुरुषोंका कर्तव्य है। यदि कल्याण-मार्ग चाहते हो तो इन विघ्नोंको टालो।

(२५।३।४७)

४. सबसे निर्मम भाव होकर सम्पूर्ण उपयोग शास्त्र स्वा-ध्यायमें लगाओ, गल्पवाद को समय मत दो, यही तुम्हारे कल्याणमें सहायक होगा।

(२०।४।४७)

५. अपना कल्याण करनेमें आपही शरण हैं। अन्यको शरण मानना मोही जीवोकी प्रणाली है। मोही जीव जो न करे सो अल्प है।

(२३।४।४७)

६. जो नियम करो पूर्वापर परामर्श करके करो। यदि कोई विवेकी बुद्धिमान उसे अनावश्यक बतलावे तो त्याग दो। सर्वोपरि नियम तो यह है कि आत्माको पर पदार्थोंसे रक्षित रक्खो। कल्याणकी उपादानता व अकल्याणकी उपादानता आत्मामे ही है अतः परकी निमित्तताको निमित्तता ही जानो। हृदयसे पदार्थोंका मनन करो, परको समझानेकी अपेक्षा अपनेको समझाओ। इसीमें कल्याण है।

(२५।४।४७)

७. अन्तरङ्गकी शुद्धिमे वहिरङ्ग शुद्धि कारण नही। वहिरङ्ग शुद्धिकी उत्पत्ति भी अन्तरङ्ग कारणोंसे होती है अतः जव अन्तरङ्ग मलिन है तव वहिरङ्गमे भी आचार मलिन रहता है। वहिरङ्गमे जो ब्रह्मचर्य पालन करता है उसको यह भय रहता है कि मेरी आत्मा निन्द्य न कहलावे। जिनको निन्दाका भय नहीं वे अनाचारसे नहीं डरते। परमार्थसे जिनको आत्मकल्याण करना है वे लोककी अपेक्षान करके ही आत्महित मे प्रवृत्ति करते हैं।

(२७।४।४७)

८. समागममें महान दुःख है। यदि सुख चाहते हो तो इसे छोड़ो। कल्याणका मार्ग तो आत्मामे है। आत्मा एकाकी है, इसका कोई दूसरा साथी नहीं।

(१०।५।४७)

९. कल्याणका मार्ग अति सुलभ है। न तो किसीसे प्रीति करो और न किसीसे अप्रीति करो। जब यह निश्चय हो गया कि

न तो कोई मेरा शत्रु है, न मित्र है तब उन पदार्थोंसे किसलिये सम्बन्ध रखना ?

(२।६।४७)

१०. आत्माका कल्याण तो निरपेक्ष वृत्तिमें है। वह तो दूर रही, बहुत मनुष्य तो श्रद्धासे भी शून्य हैं।

(७।६।४७)

११. यदि कल्याणकी कामना है तो निरपेक्ष रहो। अपेक्षा करना ही संसारका कारण है।

(९।६।४७)

१२. सभी आत्म कल्याण चाहते हैं परन्तु उन्हें अनुकूल उपदेश नहीं मिलता। वक्ता जो हैं वे यह चाहते हैं कि विशिष्ट मनुष्य प्रसन्न हो जॉय, जनता कहीं भी जावे।

(२०।६।४७)

१३. आजकल राजसी भोजन मिलता है, सात्विक भोजन नहीं मिलता। इसका मूल कारण हमारी दुर्बलता है, रसनेन्द्रियकी लम्पटता है। कल्याणका मार्ग तो निर्मलता है।

(२३।६।४७)

१४. मनुष्य प्रायः कल्याणमार्गमें जाना चाहते हैं, परिस्थितियॉ बाधक हैं। यह भी हमारी दुर्बलता है। जबतक कषायोंकी जातिसे हम परिचित नहीं निरन्तर दुःखोंके पात्र बने रहेंगे। यदि कल्याणकी प्रबलेच्छा है तब इन कषायोंको कृश करनेकी कोशिश करो।

(२५।६ ४७)

१५. परिणाम ही कल्याण (नित्य सुख) का बाधक है। विकार आत्माका वह भाव है जिससे आत्मा कभी रागी होता है, कभी द्वेषी होता है, कभी विकृत होता है तो कभी हर्षित होता है,

निरन्तर आकुलित रहता है। अतः ऐसी भावनाको अपनाओ जो यह विकृत भाव मिट जावे।

(२६ । ७ । ४७)

१६. जो मनुष्य परको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करता है वह अपनेको कल्याण पथसे दूर करता है। कल्याणका पथ तो निवृत्ति-मे है। निवृत्ति मार्ग वही है जो पर पदार्थमे आत्मबुद्धि मिटावे। पर पदार्थकी परिणति पराधीन है, उसे अपनाने की चेष्टा करना अन्याय है। अन्यायसे आत्मकल्याण होना कठिन है।

(२४।८।४७)

१७. कल्याणका मार्ग त्यागही मे है। हम लोग जो कहते हैं यदि शतांश भी उसका पालन करें तब कल्याणका मार्ग सुलभ हो जावे।

(१७।९।४७)

१८. संसार दुःखका पिण्ड है, इसमे कल्याणका मार्ग प्राप्त करना सरल नही और यदि जगतसे पीठ फेर ले तब सहज ही है। अभिप्राय ही तो बदलना है, वह स्वाधीनताकी बात है। स्वाधीनता स्वतन्त्रतामे है।

(७।१०।४७)

१९. बहुत मनुष्योंकी दृष्टिआत्मकल्याणकी ओर है परन्तु जो प्रयास है वह अनुकूल नही। परसे चाहते है यही बड़ी त्रुटि है। इसे त्याग देवे आजही कल्याण पास है।

(१०।१०।४७)

२०. आत्मकल्याणकी चर्चा तो सब करते है और बड़े-बड़े व्याख्यान देते है परन्तु कल्याणमार्गमे गमन करनेवाले विरले ही हैं।

"जनाघनाश्च वाचालाः सुलभास्युर्वृथोत्थिताः।
दुर्लभाह्यन्तरार्द्रास्ते जगदस्युजिहीर्षवः॥"

अर्थात् बोलनेवाले मनुष्य और गर्जनेवाले मेघ बहुत हैं परन्तु अन्तरङ्गमे आर्द्र मेघ और मनुष्य जो संसारका उद्धार करनेवाले हैं वह बहुत दुर्लभ हैं।

(२।११।४७)

२१. समयका सदुपयोग कल्याणपथका साधक है।

(१०।१।४८)

२२. यदि अपना कल्याण करनेकी वाञ्छा है तो अपनेको परसे रक्षित रक्खो। परकोई तुम्हारी रक्षा करनेवाला नहीं है और न तुम्ही किसी की रक्षा करनेवाले हो। मनुष्य स्वयं आपही अपना घातक है, और आपही अपना रक्षक है, केवल कल्पनाएं आकाश कुसमोकी तरह है।

(१०।५।४८)

२३. कल्याणका मार्ग उसको प्राप्त हो सकता है जो प्रत्येक अवस्थामें सुखी रहता है।

(१४।५।४८)

२४. मनुष्यजन्म कल्याणका कारण है यह नियम नहीं। कल्याणका कारण तो आत्माकी रागादि रहित परिणति है। आत्मा-का अहित न रागादि परिणति है और न नारक पर्याय है और न तिर्यक पर्याय है। और न मनुष्यपर्याय हितकारी है और न देवगति हितकारी है। हितकारी तो यह है कि आत्मामें रागादि परिणति न हो। वर्तमान मे जो जो रागादि हों उनमें आसक्त मत हो। जिससे उनकी सन्तान परम्परा न हो।

(१७।६।४८)

२५. कल्याणका मार्ग अन्यत्र नहीं, न तो तीर्थमें है और न मन्दिरों मे है, न पुराणोंमे है, न सन्तसमागममें है अपितु केवल मूर्च्छा छोड़नेमे है।

जहाँतक बने, अपनेसे जो बने, उसे करो परकी अपेक्षा छोड़ो। परसे न तो किसी का कल्याण हुआ न होगा।

(३०।७।४८)

२६. श्रोताओंको मनमानी सुना देना, अपनी प्रभुता जमाना पाण्डित्य प्रदर्शन करना तथा 'हम ही सब कुछ हैं' इत्यादि मनो विकारोंके होते आत्मकल्याणकी लिप्सा अन्धे मनुष्यके हाथमें दर्पण सदृश है। दूसरा मनुष्य उस दर्पणसे चाहे मुख देख भी सकता है परन्तु अन्धेको कोई लाभ नहीं।

(२५।८।४८)

२७. कल्याणका मार्ग तो कुछ कठिन नही परन्तु उसकी ओर कोई लक्ष्य नही। हम कल्याण मानते हैं कि अपने अभिप्रायके अनुकूल परिणमन हो परन्तु ऐसा होता नहीं क्योंकि जितने भी पदार्थ हैं वे सब अपने अपने द्रव्यादि चतुष्टयके अनुकूल परिणमते हैं। उन्हे अपने अनुकूल परिणमना सर्वथा सम्भव है।

(२८।८।४८)

२८. कल्याणका मार्ग कहीं नहीं, उसकी प्राप्तिके अर्थ किसी व्यक्ति विशेषकी आवश्यकता भी नही। कल्याणका बाधक केवल अकल्याण है अतः अकल्याणका जो कारण है उसे न होने देना यही कल्याणका अबाधित मार्ग है।

(१९।१०।४८)

२९. कल्याण और अकल्याण दोनों ही स्वतन्त्र आत्माकी परिणति है। स्वतन्त्रका अर्थ यह है कि आत्मा ही इनका कर्ता है इनमे एक पर्याय तो विकारी है और एक अविकारी है। यही

दोनोंमें अन्तर है। दोनों ही पर्याय आत्माकी हैं, इनमें एक पर्याय उपादेय और एक हेय है। इसका कारण एक पर्यायके स्वत्व-में जीवमें आकुलता होती है और एकके सद्भावमें निराकुलता रहती है। आकुलता दुःखकी जननी है अतः जिन्हें दुःखसे वचना है वे इसे त्यागें।

(११।११।४८)

३०. संसारकी दशा जो है वही रहेगी जिन्हें आत्मकल्याण करना हो वह इस चिन्ता को त्यागें तो अनायास कल्याणके पात्र हो जावेंगे।

(३०।११।४८)

३१. संसारमें जिनको आत्महित करना है वे परकी समा-लोचना करना छोड़ें। केवल आत्मामें जो विकार भाव उत्पन्न होते हैं वे त्यागें। परके उपदेशसे कोई लाभ नहीं और न परको उपदेश देनेसे आत्मलाभ होता है।

(१२।१२।४८)

३२. यदि कल्याणमार्गकी इच्छा है तो सब उपद्रवोंको त्यागकर शान्त होनेका उद्यम करो। केवल लोकेषणाके जालमें मत पड़ो। कल्याणका अर्थ है जो कामकरो 'उसे फिर न करना पड़े' यही भावना भाओ चाहे अच्छा काम भी क्यो न हो।

(३१।१२।४८)

३३. जो कार्य होता है उसकी उत्पत्तिका उपादान कारण स्वयं वही द्रव्य होता है। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। हम अनादि कालसे कर्म बन्धनमें पड़े हुए हैं, नाना प्रकारके भावोंसे लिप्त हो रहे हैं। वे भाव रागादिक हैं इनका उपादान कारण आत्मा है और निमित्त कारण मोह कर्मका विपाक है। जिस कालमें रागा-दिक होते हैं उस समय यह पर पदार्थमें प्रीतिरूप परिणमन करता

है और जब द्वेषका उदय आता है उस समय अप्रीतिरूप परिणाम का कर्ता होता है। इन परिणामोका मूल उत्पादक मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वके उदयमे यह जीव पर वस्तुमे आत्मीयताको मानता है। यद्यपि पर द्रव्य न अपना हुआ और न था और न होगा किन्तु हमारी परिणति मोहवश इस असत्य मान्यताको त्यागनेमे समर्थ नही। अतः जिन्हे कल्याण करना हो उन्हे सर्वप्रथम मिथ्या-दर्शनका त्याग करना चाहिये। इसके त्याग होते ही पर पदार्थों से रागद्वेष सुतरां पृथक् हो जाता है। (२।२।५१)

३४. यदि आत्मकल्याण करना चाहते हो तो इन बाह्याड-म्बरोका प्रभुत्व देख इनसे पृथक् होनेकी चेष्टा करो। व्यर्थकी प्रशंसामे पड़कर आत्माको वञ्चित करनेका ढंग मत बनो। जितने भी प्रशंसा करनेवाले है सभी आत्मतत्त्वसे दूर हैं। प्रशंसा कराना और प्रशंसाकी लालसा करना दोनो ही सहोदरी हैं। भगवानकी आज्ञा तो यह है कि यदि कल्याण चाहते हो तो न तो झूठी प्रशंसा करो, न कराओ।

(२६।४।५१)

३५. मौन रखनेकी आवश्यकता ही नहीं, यदि परको अपना मानना छोड़ दो तो अनायास मनोव्यापार उस ओर नही जायगा। काय, वचन, मनके व्यापार स्वाधीन नही। अन्तरङ्ग कषायके अधीन इनके द्वारा आत्मप्रदेश चञ्चल होते हैं। कर्तृत्व-मे मुख्य इच्छा कारण है। इच्छा, प्रयत्न तथा उपादान कारणका अपरोक्ष ज्ञान होना चाहिये। जहाँ मोहका अभाव हो जाता है वहाँपर काय, वचन और मनका जो व्यापार होता है उसमे पूर्व-का संस्कार ही कारण है। कहनेका तात्पर्य यह है कि यदि कल्याण करनेकी अभिलाषा है तो मन, वचन और कायके व्यापारोको संसारका कारण न मानो। (१४।५।५१)

३६. जितना अधिक बाह्य संसर्ग होगा उतना ही कल्याण-मार्गका विरोध होगा। कल्याण केवल आत्म पर्याय है, जहाँ परके निमित्तसे भाव होते हैं वे सब स्वतत्त्व परिणतिके निर्मलत्वमें बाधक हैं।

(१५।६।५१)

३७. किसीकी कथाको सुनकर सहसा विश्वास मत करो। अन्य कथाकी बात तो दूर रही धार्मिक सिद्धान्तोको श्रवणकर ऊहापोह द्वारा निर्णय करो। केवल श्रवणसे कोई लाभ नहीं। श्रवण तो शब्दों द्वारा प्रत्यक्ष ही होगा, उन शब्दोंका बोध ही तो होगा। घट शब्दसे घटका बोध यदि तुमको यह ज्ञान है कि इसका वाच्यार्थ कम्बुग्रीवादिमान घट है, तभी होगा अन्यथा नहीं। अथवा घट पदार्थका बोध हो गया उससे क्या लाभ हुआ? इतना ही लाभ हुआ कि घट विषयक ज्ञान होनेसे घट विषयक अज्ञान दूर हो गया। इसी प्रकार यह ज्ञान हो गया कि रागपदार्थ परपदार्थमें प्रीति रूप परिणाम होनेका नाम है। यह ज्ञान हमको रागसे उत्पन्न होनेवाली आकुलताको दूर नहीं कर सकता। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान होना मात्र कल्याणका साधक नहीं। अन्यकी कथा छोड़ो सर्वार्थसिद्धिके देव, लौकान्तिकदेव या सौधर्म स्वर्गका इन्द्र या अन्यसभी सम्यग्दृष्टि जीव पदार्थके स्वरूपको यथार्थ जानते हैं परन्तु सम्यक्चारित्रके बिना पञ्चमगुण स्थानवाले तिर्यक जीवके समान शान्तिका आस्वाद नहीं पाते। अन्यकी कथा छोड़ो जिनके पूर्ण ज्ञान है, क्षायिकचारित्र है, वे मनुष्य भी अभी संसारमें हैं। जब-तक सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यान नहीं; आस्रव होता ही रहता है। अतः जिनको कल्याण करना है वे कषाय और योगको त्यागें। योग तो उतना बाधक नहीं जितना कषाय बाधक है। कषाय भी उतना बाधक नहीं जितना बाधक मिथ्यात्व है। (१६।६।५१)

३८. यह विचार दृढ़तम होता जाता है कि कल्याणका कारण अन्य नहीं, आप ही हैं क्योंकि जब हम ही पापके कर्ता होते हैं और उसका फल एकाकी भोगते हैं तब स्वयं कल्याणके कर्ता भी हम ही हैं।

(२२।६।५१)

३९. कल्याण अकल्याणका सम्बन्ध तो आत्माके शुद्ध और अशुद्ध उपयोगसे है। उपयोग नाम चैतन्यके परिणामका है। जब चेतना किसी कार्यके जाननेका प्रयत्न करता है उसके पहिले जो उसका ज्ञान है उसही का नाम दर्शनोपयोग है। अर्थात् दर्शनोपयोगका नाम ही आत्माको जाननेका है। ज्ञानोपयोग ही का नाम पर पदार्थका ज्ञानमें आना है। जो परको जाने, आपको न जाने, उससे हमको क्या लाभ ?

(२।७।५१)

४०. कल्याणका मार्ग आपमें है और कल्याणभावका मार्ग भी अपने ही पास है। हम अपने द्वारा ही कल्याण और अकल्याणका मार्ग अनादिसे अवतक मानते आये है। वहुतसे अर्थात् वहुसंख्यक जीवतो ईश्वरको ही अकल्याण और कल्याणका कर्ता मानते है। यहाँ तक कहते हुए सुना गया है कि परमात्माकी इच्छाके विना पत्ता भी नहीं हिलता। हम जो कुछ करते है उसीकी इच्छापर निर्भर है परन्तु जब पाप करते हैं तब हम उसे स्वतन्त्र करते हैं। ईश्वर पाप करनेकी प्रेरणा नहीं करता। वहुतसे मनुष्य कहते है कि जो कुछ हम करते हैं कर्म ही कराता है। कर्म ही आत्माको अज्ञानी वनाता है। जब ज्ञानावरण कर्मका उदय आता है तब आत्मा अज्ञानी हो जाता है। कर्म ही ज्ञानी वनाता है। जब ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होता है आत्मा ज्ञानी वन जाता है। कर्म सुलाता और जगाता है जब निद्रावरण कर्मका उदय

आता है सोजाता है, जब निद्रावरण कर्मका क्षयोपशम होता है तब जाग जाता है। इसी तरह सुखादि जितने कार्य होते हैं सद्वेद्यादि कर्मके उदयसे ही होते हैं। कर्म ही आत्माको मिथ्यादृष्टि बनाता है, जब मिथ्यात्व कर्मका उदय आता है आत्मा उस कालमे मिथ्यादृष्टि हो जाता है। यह सब है परन्तु यह सर्वथा नहीं है। कार्यकी उत्पत्ति उपादान और निमित्त कारणोसे होती है। मिथ्यादर्शन अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणाम है, इसकी उत्पत्ति आत्मामें होती है। उपादान कारण आत्मा है, मिथ्यादर्शनका जब विपाक काल आता है उस समय आत्मा स्वयमेव मिथ्यादर्शन पर्यायरूप परिणमन कर लेता है। वास्तवमे कोई किसीको जबरन नहीं करता किन्तु परिणमनकी विचित्रता देखनेमे आती है' अतः कल्पना होती है कि अमुक परिणमन अमुक परिणमनमें हेतु हुआ। तत्त्वदृष्टिसे पदार्थोंका जो परिणमन है वह परिणमन स्वतन्त्र हो रहा है किन्तु जब परिणमन होता है, उस समय जो काल होता है, क्षेत्र होता है तथा जो द्रव्य होता है उन्हे हम कारण निरूपण कर देते हैं। जैसे श्रीवीरप्रभुको जिस समय केवलज्ञान हुआ उस कालको भी कारण कह देते हैं। जिस क्षेत्रमे हुआ उस क्षेत्रको भी कारण कह देते हैं। अस्तु यह कथा बहुत है।

(८, ९।१०।५१)

४१. आत्माका कल्याण आत्मासे ही होगा। अकल्याणका कारण निरन्तर परको आत्मीय मानना है। 'पर पदार्थका परिणमन परमें होता है' जब यह वस्तुस्थिति है तब हम जो परसे आत्म कल्याण करनेकी आशा करते हैं, नितान्त निर्मूल है परन्तु मोही जीव यही करते है।

(१२।१०।५१)

४२. अति चर्चाद्वारा श्रेयोगमार्गकी प्राप्ति अतिदुर्लभ हो

जाती है। कल्याणका मार्ग तो निर्मल परिणामों मे होता है।

(१५ । १० । ५१)

४३. समयविभागके अनुकूल प्रवृत्ति करो, केवल परके साथ व्यवहार करनेसे आत्मकल्याण न होगा।

(१५ । १० । ५१)

४४. अधिकांश मनुष्य अपना हित चाहते हैं परन्तु अनुकूल प्रवृत्ति नहीं करते। परपदार्थोंके संग्रह करनेमे निरन्तर व्यग्र रहते हैं और इसी व्यग्रताके आवेगमें पूर्ण आयुको व्यतीत कर देते है।

(२४ । १० । ५१)

४५. कल्याणका मार्ग अति सुगम है केवल मनोवृत्तिको सरल और स्वच्छ बनानेकी आवश्यकता है।

(७ । ११ । ५१)

आत्म-चिन्तन

१. एकबार तो यथार्थ ज्ञान करो। फिर चाहे तुम्हारे जो उपयोगमे आवे वही करो, परन्तु एकबार अपना स्वत्व पहिचानो। उसके लिये अपने उपयोगको एकबार परसे अपनी ओर ले जाओ। परकी सत्ताको अपना मानना ही इसका कारण है। यह कैसे छूटे इसके लिये दृढ़ संकल्प करो। ऐसा संकल्प करो कि उसमे अनुत्तीर्ण न होओ।

(१५ । १ । ४७)

२. 'समयका सदुपयोग करो' यह लिख देना जितना सरल है उसे कार्यमे परिणत करना उतना ही कठिन है। हम लोग इतने विकल्प करते हैं जिनकी गणना असाध्य है, जिनमे कोई सार नहीं

और न उनका विषय ही सिद्ध हो सकता है परन्तु न जाने कितने कल्मषका सञ्चय अन्तरङ्गमे है जिससे उद्धार होना कठिन है।

(२१ । १ । ४७)

३. 'किसी से विशेष परिचय मत करो' यही शास्त्र की आज्ञा है परन्तु आत्मन्! तुम इसका अनादर करते हो अतः अनन्त संसारके पात्र होगे। तुमने आजतक जो दुःख पाये उनका स्मरण शस्त्रोके सदृश दुःखदायी है परन्तु तुम इतने सहिष्णु हो गये हो कि अनन्त दुखोके पात्र होकर भी अपने आपको सुखी मानते हो।

(२२ । १ । ४७)

४. समयकी अवहेलना करना आत्माके उत्कर्षका घात करना है। उत्कर्षसे तात्पर्य निज परिणतिसे है। उत्कर्ष और अपकर्ष व्यवहार मोहनिमित्तक हैं, आत्मामे तो ज्ञातृत्व दृष्टत्व है। इसको छोड़कर जो वैभाविक भाव आत्मामे होते हैं वे ही भाव त्यागने योग्य हैं। जो भाव हो गया उसका त्याग होना अशक्य है, वह भाव न हो यही भावना श्रेयस्करी है।

(२३ । १ । ४७)

५. संसारमे जहाँ स्वार्थ है वहाँ उससे परोपकार होना असम्भव है। जो मिला सो स्वार्थी मिला। इसका अर्थ यह है कि हम स्वयं स्वार्थी हैं इसीसे हमारी दृष्टि मे परार्थ नहीं दीखता। हम स्वयं अज्ञानी हैं अतः संसार हमारी दृष्टिमे विपरीत भासता है। जिनने आत्महित नही किया वे मनुष्य नहीं पशु हैं।

(२४ । १ । ४७)

६. संसारमें बन्धनका कारण परिग्रहभाव है। धन्य है उन महानुभावोको जिन्होंने परिग्रहसे ममता त्याग दी। परिणामकी

गति विचित्र है, यही भाव हुए कि सब त्याग कर निर्द्वन्द्व हो जावं।

(१४ । ३ । ४७)

७. प्रातःकालका समय स्वाध्यायमे ही लगाना चाहिये और जहाँ तक बने परके सम्पर्कसे वचना चाहिये। वहुत काल वीत गया आत्मावलोकनकी कथा तो बहुतकी परन्तु वह क्या है इसकी गन्ध भी नहीं आई। कहने और करनेमे महान अन्तर है अथवा आत्मज्ञान होनेसे भी क्या लाभ यदि राग-द्वेष-मोहकी कालिमा न गयी। जानना सुखका हेतु नही रागहानि सुखका हेतु है।

(१३ । ४ । ४७)

८. हे आत्मन्! अव तो निज हितमे लगो। केवल इन प्रपञ्चोमे पड़कर क्यो अपने मार्गसे च्युत हो रहे हो? जब हम अपनी परिणति पर विचार करते हैं तव सवसे वड़ा दोप यह पाते हैं कि अपनी निन्दा सुनकर विषाद और प्रशंसा सुनकर हर्षका अनुभव करते है।

(१ । ६ ४७)

९. हे प्रभो! जिसमे जगतका कल्याण हो वह भाव मेरा हो। मैं ऐसा निर्मल हो जाऊँ कि एक दिन आपसे भी निरपेक्ष रहना पड़े। मै तो यह चाहता हूं कि वह भाव मेरे हों जो आपके सदृश हो जाऊँ अर्थात् संसार वन्धनसे छूट जाऊँ।

(१० । ६ । ४७)

१०. मोहमे मनुष्य उन्मत्त हो जाता है। तुम्हे तो थकान ही आती है पर वास्तवमे अभी तुम मोहके चक्रसे छूटना नहीं चाहते।

(२६ । ६ । ४७)

११. परिणाम ही कल्याण (नित्य सुख) का बाधक है। विकार आत्माका वह भाव है जिससे आत्मा कभी रागी होता है, द्वेषी होता है, कभी विकृत होता है, कभी हर्षित होता है, तो कभी निरन्तर आकुलित रहता है अतः ऐसी भावनाको अपनाओ कि यह विकृत भाव मिट जावें। बहुत आयु हो गई परन्तु आत्म-तत्त्वको निर्मल न किया।

(२६। ७ ४७)

१२. यह तो संसार है, इसमें विरले ही सत्पुरुष होते हैं जो आत्माकी ओर लक्ष्य देवें। लक्ष्य देकर भी तद्रूप रहना अति कठिन है। कोई रहे, न रहे, प्रथम तुम तो अपना लक्ष्य स्थिर करो।

(१९। ८। ४७)

१३. शक्तिके अनुकूल व्रत करो, बात बहुत मार्मिक है। हमको भी यही उचित है परन्तु हमको आजतक पता नहीं चला कि हममें शक्ति कितनी है? शास्त्रमें प्रतिदिन पढ़ते हैं कि आत्मामें अचिन्त्य शक्ति है परन्तु हम इतने कायर हैं कि क्षणमात्र भी राग छोड़ने में असमर्थ हैं।

(१। ९। ४७)

१४. जिन्होंने अपनेको समझा उन्होंने सब समझा और जिन्होंने अपनेको नहीं जाना उन्होंने कुछ नहीं जाना।

"एकोभावः सर्वथा येन दृष्टः, सर्वेभावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।"

अतः अपनेको देखनेकी परमावश्यकता है।

(२६। ९। ४७)

१५ आज नवीन वर्षका आरम्भ होता है, यों ही समय बीतता जाता है परन्तु हमारी प्रकृति कल्याणमार्गकी ओर नहीं

जाती, केवल रूढ़िके दास बन रहे हैं और यही संस्कार हैं जो अनादिसे आत्मामे लग रहे हैं।

(१।१।४८)

१६. हम मोही जीव निरन्तर परपदार्थोंकी गुण दोष विवेचना करते हैं, अपनेको नही जानते, केवल वाग् व्यवहार मात्रसे सन्तुष्ट हो जाते हैं!

(२३।१।४८)

१७. अनन्तानन्त तीर्थङ्कर हो गये वे भी संसारका उद्धार नहीं कर गये तब हम शक्तिहीन अल्पज्ञ क्या कर सकते हैं?

(१९।२।४८)

१८. मनुष्योमे वह शक्ति है कि द्रव्यादि सामग्रीके द्वारा सर्व परिग्रहके त्यागी हो सकते हैं परन्तु मोहके द्वारा मै इतना अशक्त हो रहा हूँ कि गृहवास छोड़कर भी स्वात्मकल्याणके मार्ग-से दूर हूं। यद्यपि मुझे दृढ़ श्रद्धा है कि मै चेतन द्रव्य हूं, और साथमे यह भी दृढ़ श्रद्धा है कि अन्य कोई कल्याण न करेगा।

(१०।३।४८)

१९. वस्तुतः 'कोई किसीका नहीं' इस वाक्यको गल्पवाद-मे न लाओ, कर्तव्य पथमे लाओ। 'परायेघरका भोजन इसमें बाधक है' इस कल्पनाको त्यागो। न तो कोई बाधक है और न साधक है। आत्मीय परिणति ही बाधक और साधक है।

(९।३।४८)

२०. हम लोगोमे सबसे महान दोष यह आ गया है कि किसीकी वैयावृत्त नही करना चाहते, ग्लानि करते है, सम्यक्त्वके अङ्गमे जो निर्जुगुप्सा गुण है उसका आदर नही करते।

(११।३।४८)

२१. हे प्रभो आत्मन्! आज क्षुल्लक दीक्षा लेता हूँ, तूँ स्वयं ही सब कुछ है, शान्तिसे कार्य करना।

(१७।३।४८)

२२. हमने आजतक अपनी दया नहीं पाली। अपनी रक्षा न करना इसका अर्थ यह है कि हम यही कहते हैं 'जीवोंकी रक्षा करो' परन्तु जीवोंसे अपनेको पृथक् समझते हैं। अन्यथा क्रोधादिक कषायोंसे अपनी रक्षा करते। आत्माकी परिणति जब क्रोधसे संतप्त होती है तब इसे चैन नहीं पड़ता।

(२६।३।५१)

२३. परमार्थसे हमने स्वरूपको नहीं समझा, यदि समझा होता तो कदापि परको नहीं अपनाते। अनादिकालसे विभ्रमज्ञानके वशीभूत होकर जैसे कोई रज्जुमें सर्पकी भ्रान्तिसे भयभीत हो जाता है इसी प्रकार हमारी भी दशा हो रही है! शरीरको निजमान, उसकी परिणतिको निजमान कर्ता बनते हैं, जहाँ कर्तापन आया वहाँ भोक्तापन अनायास ही आजाता है। अतः सर्वप्रथम परपर्यायमें कर्तापन माननेकी जो बुद्धि है उसे त्यागो। जहाँ कर्तापन नहीं वहाँ संसार नहीं।

(५।५।५१)

२४. हम इतना पुरुषार्थ कर सकते हैं कि आत्मीय अभिप्राय विशुद्ध करनेमें आनाकानी न करें। हमारे अन्तरङ्गमें एक दोष नहीं; इतने दोष हैं कि उनकी गणना हमारे ज्ञानकी विषय नहीं। एक ओर हम कहते हैं कि हमने कुछ नहीं किया परन्तु दूसरी ओर प्रशंसाकी अन्तरङ्ग वासना स्थान बनाये अपना काम कर रही है! यदि तुम्हारे कर्तृत्व भाव न था तो फलकी इच्छा कैसे? स्वयं कहेंगे—'हम क्या जानते हैं?' परन्तु सर्वज्ञ होनेका दावा करते हैं! संसारको तुच्छ मानते हैं, जो कुछ है हमारे पास ही है।

(१५।५।५१)

२५. परमात्माके ज्ञानमें सब पदार्थ आते हैं, इससे बहुतसे मनुष्य सन्तोष कर लेते हैं–'क्या करें, ऐसा ही होना था' यह सिद्धान्त बहुत ही सुन्दर है परन्तु इसका यथार्थ उपयोग नहीं होता। यदि ऐसी श्रद्धा है तब कार्य होनेपर पश्चात्ताप क्यों करते हो? 'क्या करें, बड़ी भूल हुई?' हम भूलको अपनी मानकर भी उसे त्यागनेकी चेष्टा नहीं करते।

(२६।५।५१)

२६. शान्तिका रस अभी तक नहीं आया, यदि आया होता तब उसकी प्राप्तिका उपाय न करते। हम केवल जगतकी निन्दा और प्रशंसामें दृष्टिदान रखते है। जहाँ प्रशंसा हुई वहाँ प्रसन्नता और जहाँ निन्दा हुई वहाँ अप्रसन्नताका अनुभव करते हैं अतः जहाँपर यह व्यवस्था है वहाँ शान्ति रसका आस्वाद तो दूर रहे उसकी गन्ध भी नही आ सकती।

(३०।७।५१)

२७. जब अपने स्वरूपको विचारते है तब सिवाय जाननेके कुछ भी नही आता। चाहे हम दुःखका वेदन करें, चाहे सुखका वेदन करें, चाहे अन्यका वेदन करें, सिवाय वेदनके और कुछ नहीं आता। इससे आत्मतत्त्वको यदि ज्ञानमात्र कह देवें तब कोई क्षति नहीं। केवल ज्ञान ही पदार्थ नही, यदि ज्ञान ही होता तब अन्यका वेदन कैसा?

(९।१०।५१)

———

आत्मतत्त्व

१. आत्मा यद्यपि अमूर्तीक चेतना द्रव्य है फिर भी पुद्गल-के साथ इसकी ऐसी स्निग्धता है कि दूर होना कठिन है।

(३।५।४७)

२. आत्मामे अचिन्त्य शक्ति है। उसके सदुपयोग और दुरुपयोगसे ही यह संसार और मोक्ष दोनोके मार्ग चल रहे हैं। सदुपयोगमे अन्यके सहायकी अपेक्षा नहीं पड़ती, दुरुपयोगमे पदार्थान्तरोकी अपेक्षा पड़ती है। दुरुपयोगसे तात्पर्य शुभाशुभो-पयोगसे है। सदुपयोगसे तात्पर्य निज परिणतिसे है। शुद्ध द्रव्यके परिणमनकी विशेष अवस्थाका नाम ही निज परिणति है।

(५।५।४७)

३. आत्मापर अधिकार रखना प्रत्येकका कार्य नहीं।

(७।५।४७)

४. लोकमे इस विषयकी बहुत अधिक चर्चा रहती है कि 'आत्मतत्त्व क्या है?' इसके अर्थ बड़े-बड़े पुराण और तर्क-शास्त्रका अध्ययन करते हैं फिर भी आत्मतत्त्वमें सन्देह रखते हैं! मेरी तो यह समझ है कि आत्मतत्त्वकी पहिचान प्रायः सबको रहती है अन्यथा अनुकूल कथामे हर्ष और प्रतिकूल कथामे विषाद नहीं होना चाहिये।

(२१।८।४७)

५. आत्मा एक ज्ञानवान् द्रव्य है। ज्ञानमे जाननेकी शक्ति है। उसके द्वारा हम पदार्थोंका परिचय करते हैं परन्तु मोहसे इष्टा-निष्ट कल्पना करते हैं।

(२३।१०।४७)

६. आत्मामें अनन्त शक्ति है परन्तु उसका विकाश होना चाहिये। विकाशके लिये परकी आवश्यकता नहीं प्रत्युत परके त्यागकी आवश्यकता है।

(३ । ११ । ४७)

७. कोई भी शक्ति आत्मस्वभावकी घातक नहीं, तुम स्वयं घातक मत बनो।

(१५ । २ । ४८)

८. आत्मा ज्ञानगुणवाला है, वह गुणही आत्माके अस्तित्वको जनाता है। उसकी महिमासे ही आत्मा पर पदार्थोंसे भिन्न है। यदि उस गुणकी पहिचान न हुई तब तुम कुछ नही कर सकते।

(१९ । ६ । ४८)

९. चतुर्थ पञ्चम कालसे कुछ तत्त्व नहीं। आत्मा जब चाहे तब इस जघन्य कालमे भी श्रेयोमार्गका पात्र हो सकता है। आत्मामें जो विभाव भाव होते हैं उन्हे अनात्मीय समझ ऐसी चेष्टा करे कि उत्तरकालमें वे न होवें। जिस कालमे यह होवें उन्हे रागादिभावकर अपनानेकी चेष्टा न करे। वह भी संभव नहीं, रागादि परिणाम ही तो विभाव हैं।

(२२ । ६ । ४८)

१०. आत्मा एक चेतन द्रव्य है। इससे अतिरिक्त तुम्हारे ज्ञानमे जो भी विषय आता है अचेतन है। इन दोनोका अनादिसे सम्वन्ध चला आ रहा है। यह दो पदार्थ हैं, दोनों मिलकर तादात्म्य सम्बन्धसे एक नही होते। गुण-गुणीका तादात्म्य होता है, दो द्रव्योका तादात्म्य आजतक न हुआ और न होगा। मोही जीव दोनोंका वन्ध देख दोनोमें एकताका अनुभव करता है। जैसे एक तोला चाँदी और एक तोला सोना दोनोको गलाकर एक पिंड

बना दिया जावे, उस अवस्थाको देखनेवाला दोनोंको एक पिण्ड पर्यायमें देखेगा, न उसे शुद्ध सुवर्ण कहेगा, न शुद्ध चाँदी ही कहेगा किन्तु अशुद्ध सोना ही व्यवहार करेगा। यद्यपि उस पिण्डमें जो सोना है वह सोना ही है, चाँदी नहीं हुआ और चाँदी सोना भी नहीं हुआ। एक तोला सोना और एक तोला चाँदी उस पिण्डमें है। बाजारमें उस पिण्डको बेचा जावे तब लेनेवाला जौहरी उसका मूल्य यदि २००) तोला सोनाका भाव है तब १००) तोला देगा। तब दो तोलेके २००) ही तो मिलेंगे। अतः सिद्ध होता है कि द्रव्य दृष्टिसे सोना उतना ही था जितना पहिले था। बन्धावस्थामें चाँदीके मेलसे उसके जो रूपादि गुण थे वे विकृत हो गये। इसी तरह आत्माको भी पुद्गल द्रव्यके साथ बन्ध होनेसे ज्ञाता दृष्टा जो उसका स्वभाव था वह मोहादि रूप परिणत भया।

(७५।४।५१)

११. संसारमें कोई भी शक्ति ऐसी नहीं जो आत्माको सुधार और बिगाड़कर सके। यह अपने परिणामोंसे ही अपना शत्रु और मित्र हो जाता है। आप ही आप अपना मोक्षमार्ग और विपर्यय मार्ग बना लेता है, अन्य तो निमित्त मात्र हैं। अचेतन पदार्थमें यही प्रक्रिया है किन्तु उसमें अभिप्राय व चेतना नहीं परन्तु परिणमन शील वह भी है। जैसे कुलालके निमित्तको पाकर मिट्टी घटरूप हुई। देखनेवालेको यह प्रतीत होता है कि कुम्भकारने घट बनाया, परमार्थसे अनन्त व्याप्य-व्यापक भावकर मृत्तिका ही घट रूप परिणमी और मृत्तिका ही कलश पर्यायके साथ तादात्म्य सम्बन्धकर अनुस्यूत है। बाह्य व्याप्य-व्यापक भावके द्वारा कलशकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यापारका कुम्भकार कर्ता है और कलशमें जो तोयका उपयोग होता है उसको पान करनेवाला जो कुम्भकार है उसके तज्जन्य जो तृप्ति हुई उसका कुलाल भोक्ता है

परन्तु लोगों द्वारा ऐसा व्यवहार होता है कि कुलाल घटका कर्ता है और उसका भोक्ता भी है। ऐसी लौकिक जनोंकी रूढ़ि है, यही व्यवस्था सर्वत्र है। वास्तवमे अनादिकालसे जीव परपदार्थके सम्बन्धसे बन्धरूप अवस्थाको धारण करता है और अनादिसे मोहका सम्बन्ध है। इससे निजमे परके माननेका व्यामोह है और वही मोह संसारका कारण है। इसके मैटनेके लिये इतने मत संसारमे हैं कि उसका एक पुराण बन सकता है।

(२१।४।५१)

१२. आत्मा अचिन्त्य शक्ति वाला है चाहे वह किसी पर्याय-मे हो। गुणोंके विकाशमे अन्तर हो सकता है परन्तु गुणोंकी सत्ता जितनी सिद्ध भगवानमे है उतनी ही एक निगोदके जीवमे है केवल विकाशकी विभिन्नता ही भेदका कारण है।

जिस माता पितासे बालक उत्पन्न होता है उसीको अपना मानता है। उसमे माताका तो पुत्रोत्पत्तिमे साक्षात्सम्बन्ध है क्योकि यह मातृउदरमें ही गर्भधारण करता है और इसकी वृद्धिका मूल कारण पिता है। यद्यपि पिताके वीर्य विना गर्भ धारण नहीं होता परन्तु गर्भधारण बाद पिताकी आवश्यकता नहीं रहती, माता ही के द्वारा इसकी वृद्धि होती है। जब तक यह गर्भमे रहता है तब तक तो अबुद्धि पूर्वक इसका पोषण होता है परन्तु जब गर्भसे निकलकर बाहर आता है तब माताके स्तनजन्य दुग्धको पीकर वृद्धिगत हो जाता है। पश्चात् अन्नादि द्वारा इसकी वृद्धि होती है। ऐसी सब बालकोकी व्यवस्था है। जिन बालकोको समागम अच्छा हुआ वे अच्छे हो जाते है, जिन्हे समागम अच्छा न मिला वे जघन्य प्रवृत्तिके हो जाते हैं।

(९।५।५१)

१३. आत्माको ज्ञानमात्र कहा, इसका तात्पर्य यह है कि

आत्मा अनन्त गुणोका पिण्ड है। ज्ञान गुणको त्याग शेष गुण जानन परिणमनसे शून्य हैं। ज्ञान गुण ही एक ऐसा है जो स्वपर प्रकाशक है अतः ज्ञानमें ज्ञानातिरिक्त जितने गुण है वे प्रतिभासमान होते हैं। तथा ज्ञान भी प्रतिभासमान हो रहा है। यही सिद्धान्त सबके प्रत्यक्ष है। इसीसे आत्माको ज्ञानमात्र कहा है। यह सिद्धान्त निर्विवाद है कि आत्मा ज्ञानादि गुणोका पिण्ड है और वे गुण परस्परमें भिन्न भिन्न स्वरूपको लिये हैं, एक गुणका परिणमन दूसरेसे नहीं मिलता। जैसे एक आममें रूपादि गुण हैं, कोई विज्ञान ऐसा नहीं जो रूपको रस, गन्ध, स्पर्शसे पृथक् कर दे किन्तु इन्द्रियजन्य ज्ञानमे वह शक्ति है जो रूपादिको पृथक् पृथक् विश्लेषण करके दिखा देता है। इसी प्रकार ज्ञानादिगुणोंको भिन्न दर्शा देनेकी शक्ति ज्ञान हीमें है। जब एक गुणका स्वरूप एक आधारमें रहकर अन्य गुणरूप नहीं होता तब जो परद्रव्य हैं वे आत्मारूप कैसे हो जावेंगी? जब वे आत्मरूप नही हो सकतीं तब शरीरको आत्मा मानना सर्वथा अनुचित है; क्योकि शरीर तो चेतना गुणसे शून्य है, पुद्गल परमाणुओंका पिण्ड है व पर है।

(१६।५।५१)

१४. आत्मा वस्तु ज्ञान दर्शनमय है। यह उसका स्वरूप कालत्रय व्यापी है। इसके अतिरिक्त जो परिणमन है वह औदयिक परिणमन कर्मके उदयमे होता है। विकार है। जैसे कषायके उदयमे क्रोधादि भाव होते हैं वे भाव होते तो आत्मामें हैं परन्तु विकारी हैं। विकारका कारण उदय है। उदय आत्मामें एक घातिकर्मोंका होता है एक अघातिकर्मोंका होता है। घातिकर्मका सम्बन्ध पाकर ही अघातिकर्म अपने कार्यमें समर्थ होते हैं। घातियाकर्मोंमें जब तक मोहका उदय है तब तक ही यह जीव ब्राह्मण

आदि वर्णका स्वामी बनता है तभी तक अनात्मीय भावोंका स्वामी बनता है, अपनेको महान् और जगत्को तुच्छ मानता है। पर पदार्थोंके द्वारा मोक्ष और संसारकी उत्पत्ति मानता है। अनेक धर्मोंका स्रजन करता है, असंख्य देवी और देवताओंकी कल्पना करता है। परके अतिशयसे निरन्तर मुग्ध रहता है, परको प्रसन्न-कर मोक्षमार्ग मानता है। परको प्रसन्न करनेमे ही शुभ बन्ध मानता है। कहाँ तक कहे इसी विडम्बनामे जन्म गमा देता है।

22561 (२३।५।५१)

१५. श्री कुन्द कुन्द मुनीश्वरके समयसारसे मेरी तो यह दृढ़तम श्रद्धा हो गई है कि आत्मा भिन्न है और पुद्गल भिन्न है। आत्मा, पुद्गल दोनोमे यद्यपि द्रव्य सामान्यका लक्षण जानेसे उनमे कोई अन्तर नहीं। जैसे गुणका लक्षण सहभावीपना है। यह लक्षण चेतन और अचेतन सभी गुणोमे सामान्यरूपसे विद्यमान है फिर भी चेतन गुण और अचेतनगुण भिन्न-भिन्न हैं। इसी तरह जीव और पुद्गल इनके लक्षण भिन्न-भिन्न होनेसे ये पृथक् पृथक् हैं। जब यह निश्चय हो गया कि जीव द्रव्य पुद्गल द्रव्यसे भिन्न है तब यह जो शरीर है उसमें रूप-रस-गन्ध-स्पर्श होनेसे पुद्गल द्रव्यकी वह पर्याय है। जब यह निर्णय हो गया कि आत्मा द्रव्य पुद्गलसे भिन्न है तो फिर उसे अपना मानना सर्वथा उत्तम नही। हॉ, इन दोनोके सम्बन्धसे ही यह मनुष्यपर्याय उत्पन्न हुई है। जैसे स्वर्ण और रजत मिलकर एक पिण्ड हो गया। उस एकता में हम उसे न तो रजत ही कहते है और न स्वर्ण ही कहते हैं किन्तु विजातीय दो द्रव्योके सम्बन्धसे निष्पन्न पर्यायको खोटा स्वर्ण कहते है। तत्त्व दृष्टिसे विचारो तो जो स्वर्ण है वह खोटा (दूषित) नहीं और जो दूषितपना है वह स्वर्ण नहीं। केवल रजत के सम्बन्धसे जो मलिनता आयी है वही तो उसमे वह व्यवहार करा रही है।

मलिनता केवल रजतकी भी नहीं, यदि रजतकी होती तव तो शुद्ध रजतमें भी होना चाहिये सो नहीं देखी जाती, अतः कथञ्चित् वह वह मलिनता संयोगज है। इसीतरह जीव और पुद्गलके सम्बन्धसे जो मनुष्यपर्याय निष्पन्न हुई वह केवल आत्माकी नहीं यदि आत्माकी होती तव केवल आत्मामें उसका अस्तित्व होना चाहिये सो नहीं। यदि पुद्गलमात्रकी है तव केवल पुद्गलमें होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता अतः सिद्ध हुआ कि यह मनुष्यपर्याय उभय द्रव्यके संयोगसे पैदा हुई।

ऐसा होनेपर भी यदि विश्लेपण किया जाय तो दोनो द्रव्यकी सत्ता पृथक् पृथक् है। इसमें एक चेतन और एक अचेतन द्रव्य है। चेतन द्रव्यमें अनादिकालसे मोह लगा हुआ है। इससे यह पुद्गल परिणमनको जो जीवके सम्बन्धसे हुआ अपना मान लेता है। जैसे कुम्भकारके निमित्तको पाकर घट पर्याय हुई परन्तु कुम्भकार उसे निज माने तव उसे लोग अज्ञानी ही कहेंगे। इसी तरह आत्मा और पुद्गलके सम्बन्धसे उत्पन्न जो मनुष्यपर्याय है इसे आत्मा सर्वथा अपनी माने यह महती अज्ञानता है। हॉ, यह अवश्य है कि आत्माके विभाव परिणामके निमित्तसे ही यह पर्याय होती है। वर्तमान आत्मामें जो वह पर्याय रागादिरूप परिणम रही है उसका तादात्म्य जिस पर्यायमें आत्मा है उसीसे है। फिर भी उन परिणामोका अभाव हो जाता है। अतः वे आत्माके स्वभाव नहीं। केवल ज्ञान जव उत्पन्न होता है तव वहॉपर केवल ज्ञानावरणका सर्वथा अभाव हो जाता है वह भाव सर्वथा रहता है। अतः उसे कथञ्चित् नित्य मानते हैं।

(२८, २९।५।५१)

१६ 'आत्मामें ज्ञान है इससे महान् है' यह कोई प्रवल युक्ति नहीं। ज्ञान होनेपर जव उसे भोजन नहीं मिलता तव क्या दशा होती

है ? तड़पता है, दुखी होता है। अब आप ही निर्णय करो कि उसका महत्त्व कहाँ गया ? कदाचित् जाननेवाला ज्ञान है इससे उसकी पूज्यता है परन्तु यह भी तो विचार करो कि यदि अन्य पदार्थ ही न होता तब ज्ञान किसको जानता ? अतः तत्त्वदृष्टिसे विचार करो, न कोई बड़ा है, और न कोई लघु है। सब पदार्थ अपने अपने स्वरूपमे प्रवर्त रहे हैं, केवल मोही जीव किसीको महान् और किसीको जघन्य व्यवहार करते हैं। देखिए, विचारिये, अनुभवमे लाइये, जो जीव मोक्षका अभिलाषी है वह तो—

"मोक्षमार्गस्य नेत्तारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥"

जिसमे मुक्तिके कारण विद्यमान हैं उसे नमस्कार करता है। इसीलिये कि उसे मुक्तिकी इच्छा है परन्तु जिसे मोक्ष जानेकी इच्छा नहीं वह उस वीतरागदेवको नमस्कार नहीं करता। इससे जो मुक्ति अभिलाषी है वह उस देवको पूज्य मानता है, जो तदभिलाषी नहीं वह उसे पूज्य नहीं मानता। इससे सिद्ध हुआ कि वीतरागदेव न पूज्य हैं और न अपूज्य हैं। लोग अपनी कल्पनाओंके वश होकर उनमे अनेक कल्पनाएँ करते हैं। वस्तुस्थितिपर विचार करो तब सब व्यवस्था अनादिसे अपने परिणमनके अनुसार हो रही है, और पहिले थी, इसीप्रकार भविष्यमे भी होगी। अतः वस्तुस्वरूपपर दृष्टि डालो तथा सबके साथ निर्मल व्यवहार करो जैसा अपनेको समझते हो वैसा ही अन्यको भी मानो।

(२६ । ६ । ५१)

१७. आत्मा वस्तु अतीन्द्रिय है। वह इन्द्रियो द्वारा उत्पन्न ज्ञानसे नही जाना जाता। इन्द्रियोसे जो ज्ञान होता है वह रूपीपदार्थोंके जाननेमे ही समर्थ है। यह भी उपचार है। परमार्थसे ज्ञान अपने

परिणमनको जानता है परन्तु जो ज्ञान रूपीपदार्थोंके सम्बन्धसे होता है उसीमे रूपीपदार्थ प्रतिभासते है। आत्माके जाननेमे पर ज्ञान समर्थ नही। आत्माका मानस प्रत्यक्ष होता है।

(२।७।५१)

१८. जिस भावको आत्मा करता है उस आत्माका वह भाव कर्म होता है और वह आत्मा उसका कर्ता होता है, चाहे भाव शुभ हो, चाहे अशुभ हो। जिस समय आत्मा जिस भावका परिणमन करता है उस रूप हो जाता है। जैसे लोहेका गोला जिसकालमे अग्निसे तप्तायमान हो जाता है उस कालमे तन्मय ही है। इसीप्रकार जब आत्मा शुभभाव रूप परिणमता है उस कालमे तन्मय हो जाता है। अतः जो यह कथन है कि—

"ण वि होदि पमत्तो ण अपमत्तो जाणजोदु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उसो चेव॥"

सो यह केवल द्रव्यकी अपेक्षासे कहा है। केवल जीव द्रव्य न तो प्रमत्त है, और न अप्रमत्त है। प्रमत्त व्यवहार प्रथमगुणस्थानसे लेकर छठवें गुणस्थान पर्यन्त होता है। अनन्तानुबन्धी कषायसे लेकर जहाँतक संज्वलन कषायका विशिष्ट उदय रहता है वहाँतक आत्मामे प्रमादका व्यवहार होता है। सप्तम गुणस्थानमें कषायका उदय है परन्तु उसे प्रमाद शब्द वाच्यतासे व्यवहार नहीं करते। सप्तम गुणस्थानसे लेकर आत्मामें अप्रमत्तका व्यवहार होता है। यह दोनों व्यवहार सापेक्ष हैं। केवल द्रव्यका विचार किया जावे तब न प्रमत्त है और न अप्रमत्त है। इसका अर्थ यह नहीं कि जो प्रमत्त और अप्रमत्त अवस्थाएँ हैं वे आत्मद्रव्यकी नहीं और जो आत्मद्रव्य हैं वह इन अवस्थाओसे सर्वथा शून्य हैं।

(५।८।५१)

१९. परमार्थसे सब द्रव्य भिन्न भिन्न हैं। कोई द्रव्य किसीके साथ तन्मय नहीं होता। फिर दो द्रव्योंमे परस्पर इतना निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि आज जो यह अखिलविश्व दृष्टिपथ हो रहा है वह न केवल पौद्गलिक है और न केवल चैतन्यका ही विकाश है अपितु यह दोनोंका ही परिणाम है। आज जो यह तुम्हारा मानवीय शरीर है, जिसकी उपमा दूसरे शरीरके साथ नहीं दी जा सकती। देव शरीर भी इसके सामने अपनी प्रभुता नहीं दिखा सकता, तिर्यञ्च और नरक शरीरोंकी कथा तो दूर रहो। इस शरीरके साथ आत्मामें वह योग्यता आ जाती है कि आत्मा अनन्त संसारके बन्धनोंका उच्छेदकर सिद्धगतिका पात्र हो जाता है। यद्यपि वह परिणाम आत्माहीका है परन्तु वह परिणाम मानव शरीर विशिष्ट आत्माके ही होता है। अतः हमे उचित है कि अपनी परिणतिको इतनी निर्मल बनानेकी चेष्टा करें कि घर घरके भिखारी न बनें। कायरता ही दुःखकी जननी है, किसीकी आशा मत करो, आशासे मिलता भी कुछ नहीं। भौतिकपदार्थोंका तो कभी भी मोह मत करो, तुम्हारा जो गुण ज्ञाता दृष्टापन है उसको प्राप्त करो, उसकी प्राप्तिके लिये स्वयं संयमी बनो।

(१५।८।५१)

२०. वेदान्ती अद्वैतवादको मानते हैं—

"एकमेवाद्वितीयंब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तत् पश्यति कश्चन॥"

इस संसारमे अद्वितीय ब्रह्म एक ही है। यह जो नानापन आप लोगोंकी दृष्टिमें आ रहा है, कुछ नहीं है, उसका विवर्त मात्र है। उसको आप लोग देखते हैं पर उस ब्रह्मको कोई नही देखता, यही संसार है।

यह देह या जो ये दृश्यमान पदार्थ हैं वे हमारे नहीं हैं, यह बात तो दूर रहो. जिस द्रव्येन्द्रियके द्वारा आत्मा देख रहा है वह भी इसकी नहीं। यह भी जाने दो, जिस भावेन्द्रियके द्वारा जानता है वह भी आत्माका नहीं, क्योंकि वह भी एक क्षयोपशम जनित पर्याय है। इसको भी छोड़ो; अवधि और मनःपर्यय ज्ञानभी आत्माके नहीं उनका भी केवलज्ञानके समयमें अभाव हो जाता है तब आत्माका निज लक्षण केवल जो ज्ञान है वही तो शेष रह जाता है अतः ऐसी चेष्टा करो कि वही रह जावे, वह तो सर्वदा शक्ति रूपसे है, उसमें जो विकार आ गया है वही पृथक करो, व्यर्थके झगड़ोंमें मत पड़ो।

(३०।८।५१)

२१. जो आत्माकी यथार्थतासे अनभिज्ञ हैं वे आत्म स्वरूपसे वञ्चित हैं। परमें निजत्वका व्यामोहकर निरन्तर दुःखके पात्र रहते हैं।

(२।९।५१)

'न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी नाक्षगोचरः।
असङ्गोऽसि निराकरो विश्वसाक्षी सुखीभव ॥'

२२. वास्तवमें विचारकर देखा जावे, तब आत्मा न तो ब्राह्मण है, न क्षत्रिय है, न वैश्य है और न शूद्र है। यह जो मनुष्य पर्याय है असमान जातीय जीव और पुद्गल द्रव्यके परस्पर सम्बन्धसे है। फिर भी इन दोनों द्रव्योंका परस्परमें तादात्म्य नहीं है। जीव चेतन लक्षणको लिये हुए भिन्न है, पुद्गल अपने लक्षणको लिये हुए भिन्न है। किन्तु दोनोंका बन्ध होनेसे दोनों अपने स्वरूपसे च्युत हो गये हैं। द्रव्य दृष्टिसे तो द्रव्यमें कोई विकार नहीं किन्तु पर्याय दृष्टिसे विकार हो गया है। जैसे चाँदी और

सोना दोनों मिलकर एक पिण्डावस्थाको प्राप्त हो गये। फिर भी सोना जितना पहिले था उतना ही है और चाँदी भी उतनी ही है किन्तु बन्धावस्थामें दोनों अपने स्वरूपसे च्युत हो रहे हैं। यही अवस्था आत्मा और पुद्गलकी है किन्तु यहाँ विजातीय दो द्रव्य हैं अतः आत्माका जो विभाव परिणमन होता है वह आत्मामें होता है। जिस कालमें आत्मामें पुद्गल कर्मके विपाकसे रागादिक होते हैं वे पुद्गल कर्मके विपाकसे भिन्न ही हैं और रागादि अज्ञान परिणत आत्माका निमित्त पाकर पुद्गलमें जो ज्ञानावरणादि पर्याय होती है वह रागादि अज्ञान परिणाम हेतुसे भिन्न ही पुद्गलद्रव्यका परिणमन है अतः वस्तु मर्यादा जानकर जबरन किसीके कर्ता मत बनो।

(८।९।५१)

'अविनाशिनमात्मानमेकं विज्ञाय तत्त्वतः।
तवात्मज्ञस्य धीरस्य कथमर्थार्जने रतिः॥'

२३. आत्मा अविनाशी है, एक है, उसे परमार्थसे जिनने जान लिया है उस आत्मज्ञानी के जो जड़ है, विनाशी है, पुद्गलकी पर्याय है, उसके अर्जन करनेमें रति क्यों होती है? इसका मूल कारण अज्ञान है। यदि वह तत्त्वतः आत्माको जानता तब आत्माका स्वरूप उसे ज्ञाता द्रष्टा ही दिखाई देता, जिसके आभ्यन्तरमें अन्यपदार्थोंका अंश भी नहीं जाता, केवल ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध परके साथ होता है फिर भी मोहके द्वारा उन्मत्त होकर परको आत्मीय मानकर उन पदार्थोंके संग्रह करनेमें निरन्तर पुरुषार्थ करता है। फल उसका अनन्त संसार होता है। संसारके सकल अनर्थोंका मूल यही परपदार्थोंमें आत्मीयता है। जिसको आत्मीय मान लिया उसकी रक्षा करना अपना कर्तव्य मान लेता है। यही कारण है कि

आवश्यक कार्योंमें भी अपना व्यय करनेमें संकोच करता है। संसारमें अनेक प्राणी प्राणसंकटमें पड़े हैं यदि उनको धनादि द्रव्यकी सहायता मिल जावे तब वह अपने प्राणोंकी रक्षाकर सकते हैं परन्तु जिसने धनको अपना सर्वस्व मान लिया है वह अन्यकी कथा त्यागो अपने प्राण भी संकटमें आ जावें तब भी उसे व्यय नहीं करता। अतः जिन्हें आत्मकल्याण करना इष्ट है वह इस धनसे ममता त्यागें।

'आत्माज्ञानाद् जगद्भाति आत्मज्ञानान्नभासते।
रज्ज्वज्ञानादहिर्भाति तज्ज्ञानाद् भासतेनहि॥'

आत्माके अज्ञानसे यह संसार प्रतिभासता है और आत्माके ज्ञान होनेपर नहीं प्रतिभासता है। अर्थात् जबतक विपर्यय ज्ञान है तबतक संसार है। संसारमें मोहके द्वारा यह आत्मा स्वस्वरूपसे अपरिचित है, शरीरको ही आत्मा मानता है। अतः निरन्तर उसीके अर्थ व्यापार करता है। इसीके अनुकूल जो पदार्थ होते हैं उनके संग्रह करने और इसके प्रतिकूल जो पदार्थ होते हैं उनके निग्रह करनेमें आत्मशक्तिका उपयोग करता है। पदार्थ न तो अनुकूल हैं, न प्रतिकूल हैं। यह कल्पना मोही प्राणीकी है जो पदार्थ आत्मीय रुचिके अनुकूल हुए उन्हें अपनानेका प्रयत्न करता है। और जो रुचिके प्रतिकूल हुए उन्हें पृथक करनेके लिये प्राणपनसे प्रयत्न करता है। यद्यपि कोई भी परवस्तु वर्तमानमें इसके अभिप्रायके अनुकूल नहीं देखी जाती परन्तु फिर भी मोही जीव निरन्तर अपनानेका प्रयत्न करता है। यदि अपनेको किसी कारणसे व्यसना है तो उन कालमें इष्टतम पदार्थ भी उसको पृथक् करनेमें समर्थ नहीं, अथवा हमारा जो इष्ट पदार्थ है वह रोग ग्रस्त है, हमारे अनेक यत्न करनेपर भी उसका रोग नहीं जाता।

(१८।९।५१)

२४. आत्मा ज्ञाता दृष्टा है। जो पदार्थ उसके समक्ष आता है वह उसे जानता है इसके पहिलेमें स्वकीय स्वरूपका दृष्टा है, जो दृष्टा है वही ज्ञाता है। आत्मा एक है जैसे आत्मा दृष्टा है वैसे ही ज्ञाता भी है।

(२१।९।५१)

२५. यद्यपि आत्माका शुद्धरूप चिन्मात्र है, यही आत्माका असाधारण धर्म है, यही शुद्ध आत्माका स्वरूप है। इस स्वच्छतामे जगत प्रतिभासमान होता है। जैसे दर्पणरूपी पदार्थ है, उसमें स्वच्छता है, उसके समक्ष जो भी पदार्थ आवेगा प्रतिभासित हो जावेगा अर्थात् पदार्थ तो पदार्थके क्षेत्रमें है किन्तु उस पदार्थके निमित्तको पाकर दर्पणमे उसी पदार्थके सदृश परिणमन हो जाता है किन्तु उस पदार्थके गुण, धर्म उसमे नहीं आते। जैसे दर्पणके समक्ष यदि अग्नि हो तब दर्पणमें अग्नि सदृश आकार प्रतिभासता है किन्तु अग्निमे जो उष्णता और ज्वाला है वह अग्निमें है दर्पणमे नही।

(२।१०।५१)

२६. हे आत्मन्! शरीरके साथ तुम्हारा अनादि सम्बन्ध है, तब तुम इसे अपना मानते हो। उसकी रक्षा करना ही अपना कर्तव्य है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी रक्षाके लिये अनुचित प्रयत्न करो। शरीर पुद्गल पिण्डसे निष्पन्न है, उसका आहार पुद्गल है, जीव उसका आधार नहीं। अतः जो चेतन पदार्थ हैं उन सहित जो पुद्गल है उसका त्याग करो। जिससे चेतन निकल गया ऐसा जो पुद्गल है उसे उपयोगमे लाओ। यही कारण है कि मुनिगण प्रासुक पदार्थोंका ही उपयोग करते हैं तथा श्रावकोमे भी पञ्चमी प्रतिमासे-सचित्त वस्तुका त्याग भी हो

जाता है। नीचे ४ प्रतिमावाले इस जीवका तो सर्वथा त्याग कर देते हैं। एकेन्द्रियमे प्रयोजनी भूत अतिरिक्त शेष जीवोंकी हिंसाका त्यागकर देते हैं। परमार्थसे तो सभी पदार्थ अपने अपने चतुष्टयके अनुसार परिणमन कर रहे हैं। हम अनादिसे मोहके वशीभूत होकर उन्हे अपने अनुकूल परिणमन कराया चाहते हैं, यद्यपि ऐसा होता नहीं। हम कल्पनामे कुछ मानें, रज्जुमें सर्पभ्रान्ति हो सकती है, परन्तु रज्जु सर्प नहीं हो सकता। हमारी कल्पना जो चाहे हो परन्तु पदार्थ उस रूप नहीं होता। हम शरीरको आत्मा मान लेवें यह असम्भव नहीं परन्तु शरीर आत्मा नहीं होता।

जहाँतक पुरुषार्थ कर सकते हो आत्म दोष निवारण करनेमें ही लगाओ। अपनी परिणति यदि यथार्थ मार्गपर आ गई तो संसार तट निकट आ गया। परकी समालोचना प्रायः अधिकांशमे मोही जीवों द्वारा ही होती है, परके गुण और दोष प्रायः मोही जीवोंके ही ज्ञानमें आते हैं, निर्मोही जीवके ज्ञानमें प्रायः वस्तु विषय पड़ती है। यह उत्कृष्ट है, यह निकृष्ट है, यह कल्पना मोहके द्वारा होती है। ज्ञानका कार्य स्वपर प्रकाशकत्व है। जैसे दर्पणरूपी पदार्थ है, उसके समक्ष जो पदार्थ आता है वह उस दर्पणकी स्वच्छतामें झलकता है। जैसे मयूरमें नील, हरित, पीतवर्ण हैं, जब वह मयूर दर्पणके समक्ष नाचता है तब दर्पणमें उसका प्रतिविम्ब पड़ता है, तब दर्पणमें उसी तरहका आकार दीखता है। यद्यपि दर्पण स्थिर है किन्तु दर्शकोको यह प्रत्यय होता है कि दर्पणमें मयूर नृत्य कर रहा है परन्तु दर्पणमे न तो नृत्य है, और न मयूरके नील पीत हरितवर्ण ही हैं। दर्पणमें जो नील पीत हरितवर्ण दिखाई देता है वह दर्पणकी स्वच्छताका विकार है। इसीप्रकार ज्ञानमें जो आया वह ज्ञानका ही परिणमन है। ज्ञानके परिणमनका ज्ञानके साथ ही सम्बन्ध है। ऐसा नियम है—

"परिणमदि जेणदव्वं, तक्कालं तन्मयत्ति पण्णत्तं।
तम्हाधम्म परणदो, आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥"
(४।१०।५१)

२७. आत्मा एक चेतन गुणवाला पदार्थ है, उसका गुण चेतना है। सभी आत्माकी, सभी अवस्थाओंमें वह लक्षण रहता है। उसकी अपेक्षा देखा जावे तब सभी आत्माएँ समकक्ष हैं किन्तु जब अवस्थाओंको लेकर विचार किया जाता है तब भिन्नता भी पायी जाती है और अभिन्नता भी पायी जाती है। इसी अवस्थाके भेदसे आत्माके दो भेद आगममें कहे हैं—

'संसारिणो मुक्ताश्च'

जितने भी जीव हैं उनकी दो अवस्थाएं हैं। संसारी और मुक्त। मुक्त जीवोंकी अवस्था सर्वदा एक सदृश रहती है अतः जितने भी मुक्तजीव हैं उनमे कोई भिन्नता नही। संसारी जीव एक, दो, तीन, चार, और पाँच इन्द्रियवाले होते हैं। कोई पञ्चेन्द्रिय और मन वाले होते हैं। व्यवहारसे इन्हे जीव कहते हैं। परमार्थसे 'जो चेतना प्राणका धारी है' वही जीव है। वह लक्षण कालत्रय, व्यापी है किन्तु यह लक्षण तो आत्माको इतर पदार्थोंसे भिन्न दिखाता है किन्तु लक्षण वह वस्तु है कि जिसका लक्षण किया जावे उसकी सभी अवस्थाओंमे घटित हो। इससे पदार्थकी प्रत्येक समयवर्ती अवस्थाओंका खण्डन नहीं। लक्ष्यतासे लक्ष्यका भेदज्ञान हो जाता है। इससे कल्याण और अकल्याणका अभाव नही होता। ऐसा जो चेतन गुण वाला आत्मा है उसमे इतर अनन्त गुण हैं। उनका भी परिणमन सर्वदा रहता है। संसार अवस्थामे आत्माके रागादि परिणमन होते हैं उनके सद्भावमे यह बाह्य पदार्थोंमें इष्ट और अनिष्ट कल्पना करता है। यही कल्पना इसे सुख दुःखमें

कारण पड़ती है। जो इसको रुच गया वही इष्ट और जो न रुचा वही अनिष्ट मानने लगता है। यद्यपि पदार्थ न इष्ट है, और न अनिष्ट है, यह कल्पना मोही जीवोंकी है। यदि पदार्थ स्वयं इष्ट और अनिष्ट हैं तब प्राणीमात्रको एक सदृश प्रत्ययमें आता; सो नहीं, प्रत्युत एक ही पदार्थ किसीको इष्ट किसीको अनिष्ट देखा जाता है। जैसे एक नीमका वृक्ष है उसके पत्ते ऊँटको मधुर और हाथीको कटुक लगते हैं। इसका मूल कारण हाथीकी रुचि विचित्रता है। अतः ज्ञानी जनोको कोई पदार्थ इष्ट और अनिष्ट नहीं। अपना आत्मीय परिणाम ही उन्हें इष्टानिष्टका भेदक जान पड़ता है।

२८ आत्मा स्वतन्त्र वस्तु है उसमें देखने जाननेकी सामर्थ्य है। यह सिद्धान्त है कि सभी पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अनुरूप ही परिवर्तन करते हैं। जैसे पानी जिस पेड़में जावेगा तदनुरूप ही परिणमन करेगा। परिणमो, परन्तु वह रूप-रस-गन्ध-स्पर्श रूप है अतः इसी रूप परिणमेगा। चूना तथा हरिद्राको मिला दीजिये, दोनो मिलकर रक्तवर्ण परिणमनको प्राप्त हो जावेंगे। श्वेत, पीत जो पहिले सुधा, हरिद्राका वर्ण था वही रक्त हो गया। वर्ण बदलकर रस तो नहीं हो गया? इसी तरह ज्ञानमें जो ज्ञेय आता है वह ज्ञान रूप नहीं होता क्योंकि यहाँ पर दो विजातीय द्रव्योंका सम्बन्ध है। यहाँ पर ज्ञेयको ज्ञान जानता है, वह जानना ज्ञानका परिणाम है। इसका अर्थ यह नहीं कि ज्ञान ज्ञेय हो गया। पुद्गल द्रव्योमे भी यही बात है। जैसे अनेक तन्तु जो पहिले गुत्थीके आकारके थे, आतान वितान (तानवाना) अवस्था द्वारा एक पट रूपको प्राप्त हो गये। इसका यह अर्थ नहीं कि वे एक हो गये। सभी पृथक् पृथक् हैं किन्तु उन्हें अब पट अवस्थामें हम देखते हैं। तन्तु समुदायका नाम ही पट है

और यह अवस्था शरीरकी रक्षामे असमर्थ थी'। 'यह पट शरीरकी शीतादिसे रक्षा कर सकता है।

(१२।१०।५१)

मैं

नाहं देहो न मे देहो, जीवो नाहमहं हि चित्।
अयमेव हि मे बन्धः आसीद्या जीविते स्पृहा ॥'

१. यह जो प्रत्यक्ष देह है सो मैं नहीं हूं और न मेरे देह है क्योकि मै ज्ञान दर्शनका पिण्ड हूं। देह स्पर्शादि गुण वाला है। जो इस शरीरके सम्बन्धसे मेरी विकृतावस्था हो रही है, जिसे जीव कहते हैं, जिसमे दश प्राण हैं,—पाँच इन्द्रिय, तीन वल (मनोवल, वचनवल और कायवल) आयु और श्वासोच्छ्वास इन दश प्राणों विशिष्ट देह सहित आत्माको जीव कहते हैं। इसमें जो हमारी स्पृहा है यही वन्ध है। ऐसा जो जीव है वह मै नहीं, मै तो केवल चित् हूं। अर्थात् शुद्ध चेतना वाला जो पदार्थ है वही मैं हूं। अनादि कालसे ऐसा सम्वन्ध पुद्गलके साथ उसका हो रहा है कि यह परको निज मान रहा है। इसीसे इस जीवित शरीरमे इसकी स्पृहा रहती है। इसके जो पोपक पदार्थ होते हैं उनमें इसका अनायास ममता परिणाम हो जाता है। प्रत्यक्ष अन्नादिक पदार्थ पर है, स्त्री आदि चेतन पदार्थ भी इससे भिन्न है, यह भी इसको जानता है परन्तु इसकी इच्छानुकूल उनकी प्रवृत्ति होती है इससे अनायास ही उन पदार्थोंमे इसकी निजबुद्धि हो जाती है।

अन्नादिकसे शरीरकी रक्षा होती है, शरीरको यह निज मानता ही है अतः अनायास ही इसके पोषक तत्वोंमें इसका स्नेह हो जाता है।

(६।१०।५१)

आत्म-निर्मलता

१. पुण्यादिककी योग्यता परिणामोंकी निर्मलतासे होती है। परिणामोकी निर्मलता ही संसार स्थितिका छेद करती है।

(२६।११।४७)

२. हे आत्मन्! तूं इतना व्यग्र क्यों हो रहा है, अन्य मनुष्योंसे कार्य सिद्धि चाहता है? यदि आत्म कल्याण करना है तो स्वयं निर्मल बननेकी चेष्टा कर।

(६।१२।४७)

३. आत्माकी परिणति निर्मल होना ही मोक्षका मार्ग है।

(२।४।४८)

४. परिणाम निर्मल कैसे हों? यह समझमें आकर भी उपायसे वञ्चित रहते हैं। परमार्थसे उपाय रागादि निवृत्ति है और वह करना स्वाधीन है।

(२६।५।४८)

५. अन्तरङ्गकी निर्मलता होना स्वाधीन है, कोई कठिन नहीं। इसके लिये कोई आगम या समागमकी आवश्यकता नहीं। समागमकी महिमा सर्वत्र गायी है परन्तु अन्तरङ्ग उपादान शक्तिके विना निर्मलता होना कठिन है।

(२१।८।४८)

६. अन्तरङ्गकी निर्मलता प्रत्येक कार्यमे साधक है। साधक-तम ही सामग्री कार्य जनक है।

(१२।९।४८)

७. आत्मनिर्मलताका सम्बन्ध मोहके उपशमादिसे है।

(२९।१०।४८)

८. आत्माकी निर्मल परिणति भद्रताकी सूचक है।

(१६।११।४८)

९. संसारमे वही मनुष्य जगतका उपकार कर सकता है जो अन्तरङ्गसे निर्मल हो। मेघ पटलसे आच्छादित सूर्य जगतको प्रकाश प्रदान करनेका उपकार नही कर सकता।

(७।१२।४८)

१०. परिणामोंमे निर्मलताका कारण पर पदार्थोसे सम्बन्ध त्याग ही है। सम्बन्धका मूल कारण अनात्मीय बुद्धि ही है।

(२०।१२।४८)

११. अभिप्रायकी निर्मलताके अभावमे अनेक जन्म द्रव्य-लिङ्गधारणकर भी मोक्षमार्गका पथिक नहीं बना। और अभिप्रायके शुद्ध होनेपर व्रत धारण विना भी मोक्षमार्गका पथिक बन गया।

(२४ । ५ । ५१)

१२. मन-वचन-कायके व्यापार तो कषायके साथ ही बन्धके जनक होते हैं। यदि कषाय न हो तो यह कुछ भी बन्धके कारण नहीं। केवल इनके द्वारा जो पुद्गल आता है आत्मप्रदेशोंसे स्पर्शमात्र करके चला जाता है। अतः इनको संसारका जनक न समझो। संसारका मूलकारण कषाय है, उसे ही न होने दो इसीमें आत्म कल्याण है। कषाय भी यदि मोहके साथ नहै वअत तन्तो

संसारका हेतु है, अन्यथा उसका होना भी आत्माको अनन्त संसारका कारण नहीं होता। यही कारण है जो द्वितीय सासादन गुणस्थानमें वही अनन्तानुबन्धी कषाय मिथ्यात्वादि षोडश प्रकृतिके बन्धका जनक नहीं। अतः जिन जीवोंको कल्याणमार्गमें जाना है उन्हें बुद्धिपूर्वक अभिप्रायको ही निर्मल बनाना चाहिये। परपदार्थ ज्ञानमें न आवे यह तो कोई निवारण नहीं कर सकता। किन्तु जो पदार्थ ज्ञानमें आवे, उसमें जो निजत्व कल्पना है उसे हटादो यही उपाय हो सकता है।

(२४।५।५१)

१३. निर्मलता वह वस्तु है जहाँ परकी अपेक्षा नहीं रहती। यद्यपि ज्ञायक सामान्यकी अपेक्षा सर्वदा आत्मा स्वभावमें अवस्थिति है परन्तु अनादिकालसे मिथ्यात्वका संसर्ग चला आरहा है इससे कर्मजन्य जो मिथ्यात्वादि भाव है उनको निज मानता है, उन्हींका अनुभव करता है, अतएव उन्हीं भावोंका कर्ता बनता है। अर्थात्, ज्ञानमें जो ज्ञेय आते हैं उन रूप परिणमनकर उनका कर्ता बनता है। जिस कालमें मिथ्यात्व प्रकृतिका अभाव हो जाता है उस कालमें आपको आप मानता है। उस कालमें ज्ञानमें ज्ञेय आवे इसको जानता है परन्तु ज्ञानका जो ज्ञेयके निमित्तसे परिणमन हुआ उस परिणमनको ज्ञेयका नहीं मानता, ज्ञानका ही परिणमन मानता है। यही विशेषता अज्ञानीकी अपेक्षा ज्ञानीके हो जाती है।

(१५।६।५१)

१४. जिन्होंने निर्मल भावोंका आश्रय लिया वे ही इस संसार पद्धतिको निर्मूलकर इस द्वन्दसे निर्द्वन्द हुए।

(२७।६।५१)

१५. जो काम करो हृदयकी निर्मलतासे करो। संसारको सुखी करनेकी अभिलाषा त्यागो। संसारको सुखी बनानेकी जो भावना है उसमे भी आत्म सुखहीकी भावना है। भावनाका तात्पर्य देखना चाहिये जैसे मैत्री भावना है, 'जगतमे किसी भी प्राणीको दुःख न दो, इसका यही तात्पर्य तो है कि कोई भी प्राणी दुःखी न हो, इसमे आप भी तो आगया। अतः जो निर्मल भावनाएँ हैं उनका फल स्वयं भोगता है, न कि जिसके लिये भावना भाता है वह उसका फल भोगेगा, कदापि नहीं। जैसे हम श्री जिनेन्द्रदेवकी उपासना करते है उसके फल भागी हम ही तो होते हैं, भगवान् तो नहीं होते? इसीप्रकार जब हम क्रोध, मान, माया और लोभ रूप परिणमन करते हैं, उसका जो फल होगा हम ही को भोगना पड़ेगा क्योकि यह अटल सिद्धान्त है जो करता है वही भोगता भी है, जैसे आपने किसीको दान दिया तब उससे जो पुण्यार्जन किया उसका फल आप ही ने तो भोगा, अन्य तो जो वस्तु उसको दी उसका ही स्वामी बनेगा, तज्जन्य फल भोगेगा।

(२९।७।५१)

१६. आत्माकी परिणतिपर गम्भीर दृष्टिसे परामर्श करो, कितनी निर्मलता है? निर्मलतासे तात्पर्य रागादिक परिणामोकी कृशतासे है। रागादिक जबतक यथाख्यातचारित्र न होगा नियमसे होगे, उनमें राग मत करो। उनमे राग न करनेका आशय इतना ही है कि उन्हे उपादेय मत मानो। रागादिकभाव तो महाव्रती-वालोंके भी होते हैं परन्तु वे आस्रवरूप ही हैं अतः जो सम्यग्दृष्टि व्रती, महाव्रती हैं वे उन्हे उपादेय नहीं मानते। अन्तरङ्गमे वही भाव होना चाहिये जो शब्दोसे कहते हो।

(३१।७।५१)

१७. भावना निर्मल बनानी चाहिये। भावना ही भवनाशिनी है। अनन्त संसारका कारण असद्भावना और अनन्त संसारको विध्वंश करनेवाली सद्भावना है।

(२।९।५१)

१८. अपनी दृष्टि निर्मल होनी आवश्यक है। कोई कुछ भी कहे उसपर अन्तरात्मासे परामर्श करके ही निर्णय दो।

(११।१०।५१)
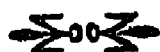
मानवताकी कसौटी

मानवताकी कसौटी

१. मनुष्य जन्मके प्रति जिसने विचार नहीं किया वह कैसा मनुष्य ? मनुष्यमें अन्य जीवोंकी अपेक्षा बहुत विशेषताएँ होती हैं, तिर्यञ्चोंमें वह बात नहीं। वह बड़ेसे बड़ा और बलवान्‌से बलवान् हो परन्तु मनुष्य-उसे स्वाधीन कर लेता है। बड़ेसे बड़ा बैल क्यों न हो उससे खेतीका काम लेता है, ऊँटको लादता है, हाथी पर सवारी करता है।

समयकी प्रतिष्ठा करो, इससे तुम मनुष्य बन जाओगे। मूर्खसे मूर्ख मनुष्य समयका आदर करनेसे पण्डित हो जाते हैं क्योंकि वह प्रति दिन कुछ न कुछ संग्रह करते हैं और कालान्तरमें उनकी गणना विद्वानोंमें होने लगती है। तथा जो बड़े-बड़े कुशाग्र बुद्धि-शाली थे वे आलस्यके वशीभूत हो मूर्खोंमें गणनाके पात्र हो जाते हैं।

(३,४।७।४७)

२. आत्माको दुःखी करने वाली वस्तु अहङ्कारता तथा ममकारता है। इन पर जिसने विजय पा ली वही मनुष्य है।

(१८।७।४७)

३. अनादिसे आगत वासनाओंको पृथक करना वीर मनुष्यका काम है। वीर वही है जो कषायों पर विजय करता है। यों तो प्रत्येक मनुष्य अपनेको भला मनुष्य कहता है परन्तु भला मनुष्य वही है जो भलाईको जाने।

(२३।७।४७)

४. जिसने निरीहवृत्तिका अवलम्बन लिया उसीने मनुष्य जन्मको सार्थक किया।

(२४।७।४७)

५. मनुष्यको सन्तोप करना उचित है, कार्य करनेका प्रयत्न करना उचित है। कार्य होना, न होना भाग्यके अधीन है।

(२८।१०।४७)

६. मनुष्य लोभमे आकर नाना अनर्थ कर बैठते हैं उसका फल अच्छा नहीं होता। कारण जिसका बुरा होता है उसका कार्य उत्तम नही हो सकता। ववूलके बीजसे कभी आम नहीं हो सकता।

(२९।१०।४७)

७. मनुष्यका मन अत्यन्त कलुपित होता है, क्योंकि सदा पाप रूप परिणाम और व्यर्थ ही कल्पना करता रहता है।

(५।१२।४७)

८. निरपेक्षता ही आत्मविकाशका मुख्य कारण है। मानव जीवनमे जिसने यह गुण सम्पादन न किया उसने कुछ नहीं किया।

(१३।१२।४७)

९. मनुष्य जन्मकी सार्थकता मनुष्यताके विकाशमे है, व्यर्थके जालमे पड़नेमें नहीं।

(१५।२।४८)

१०. ससारमें मनुष्यजीवन कठिन है, इसके लिये देव तरसते हैं।इसका पान जिसने किया वह व्यर्थ ही मनुष्य हुआ।

(५।११।४८)

११. मनुष्यपर्याय पानेका फल यह है कि वह अपनेको सत्कर्ममे लगावे। सत्कर्मसे तात्पर्य यह है कि विपयेच्छा त्यागे। विपय लिप्साने जगतको अन्धा वना दिया। जगतको अपनाना ही अपने पतनका कारण है।

(१२।१२।४८)

१२. मनुष्यजन्म पाना उसीका सार्थक है जो शान्तिसे व्यतीत करे। अन्यथा पशुवत् जीवन वध, वन्धनका ही कारण है। अपने सुखके लिये परका घात करना मनुष्यताके सर्वथा विरुद्ध है।

(१३।१२।४८)

१३. मनुष्यजन्म एक महती निधि है। यदि इसका यथार्थ उपयोग किया जावे तो इस जन्म मरणके रोगसे छुटकारा हो सकता है क्योकि संसार घातका कारण जो संयम है वह इसी निधिसे मिलता है परन्तु हमलोग इतनी पामरता करते हैं कि राखकेलिये चन्दनको भस्म कर देते हैं!

(१३।१२।४८)

१४. आजकल विज्ञानका युग है। इसमे जो पुरुपार्थ करेगा वही उन्नति करेगा। इस समय प्रायः जो मनुष्य पुरुपार्थी हैं वह आत्मीय उन्नतिके पात्र हो जाते है। जो आलसी मनुष्य हैं वह दुःखके पात्र होते है। मनुष्यजन्म पानेका यही फल है कि स्वपर हित करना। अन्यथा वैसे तो श्वान भी अपना पेट भर लेते है। मनुष्य-की उत्कृष्टता इसीमें है कि अपनेको मनुष्य बनावे। मनुष्यका ज्ञान और विवेक इतर योनियोमे जन्म लेनेवाले जीवोकी अपेक्षा उत्कृष्ट है। तिर्यञ्चमे तो पर्याय सम्वन्धी ज्ञान होता है, देव नारकी जीव विशेप ज्ञानी होते हैं परन्तु उनका ज्ञान भी मर्यादित रहता है तथा वे देव नारकी संयम भी धारण नहीं कर सकते। तिर्यञ्च भी देशसंयमका पात्र हो सकता है परन्तु इतना ज्ञान उसका नहीं कि अन्य जीवोंका कल्याण कर सके। मनुष्यका ज्ञान भी परोप-कारी है तथा संयम गुण भी ऐसा निर्मल हो सकता है कि इतर मनुष्य उसका अनुकरणकर अपनेको संयमी वनानेके पात्र हो जाते हैं।

(२७।५।५१)

१५. जो मनमें हो सो वचन कहिए, और जो वचनसे कहिए उसे काय द्वारा कीजिये, केवल गल्पवाद और मनमें ही विकल्पकर कृतकृत्य मत हो जाइये। अन्यकी कथा छोड़िये, मनमें कुछ है, वचनसे कुछ और अलाप रहे हैं तथा कायसे कुछ और ही कर रहे हैं—ऐसे जीव मायाचारी कहलाते हैं। अन्यका ही अकल्याण नहीं करते अपितु अपना भी अकल्याण कर स्वयं दुःखी होते हैं।

मेरे मनमें यह विचार आया कि मनुष्य पर्याय बड़ी कठिनतासे मिली, इस पर्यायसे यह जीव संयम धारणकर मोक्षका पात्र बन सकता है। अन्य पर्यायोंमें सकलपरिग्रह त्यागके भाव नहीं होते। नारकी और देवमें तो देशसंयमके भी भाव नहीं होते। तिर्यक् पर्यायमें देशसंयमके ही भाव होते हैं। मनुष्यपर्यायमें ही ऐसा निर्मलभाव होता है कि यह जीव बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहको त्यागकर परिव्राजक दैगम्बर पदका धारक हो सकता है। जितना बाह्यपरिग्रह मनुष्यपर्यायमें जीवके होता है उतना अन्यत्र नहीं होता। देवोंमें जो परिग्रह है वह परिमित है। मनुष्योंमें कोई गणना नहीं। छह खण्डका अधिपति होकर भी शान्त नहीं होता। इसका तृष्णा गर्त इतना गँभीर है कि तीन लोक-की सम्पत्ति इसके एक कोणको भी नहीं भर सकती और यदि यह इस परिग्रहको त्यागना चाहे तब एक सूतका धागा भी नहीं रखता। त्याग गुण भी इसमें अलौकिक है। जो परिग्रहको ग्रहण करते हैं तथा उसमें आसक्त रहकर उसकी रक्षा करनेमें अपना काल खोते हैं वे ही दुखी हैं। और जो परिग्रहसे ममता त्याग उसका त्याग-कर देते हैं वही परमार्थपथके पथिक बनते हैं।

(२।६।५१)

१६. इस संसारमें जो मानवजाति है वह सबसे श्रेष्ठ है। इस शरीरसे आत्मा मोक्षका अधिकारी है। चारगतियाँ हैं, उनमें

मनुष्यगति सबसे उत्तम है । 'माना कि नारक, तिर्यग्गतिसे मनुष्यगति श्रेष्ठ है किन्तु देवगतिसे अच्छी नहीं । देवलोग मनुष्योंमें श्रेष्ठ हैं क्योकि वे तीर्थङ्कर भगवानके गर्भादि कल्याणकका उत्सवकर प्रभावना करते हैं; समवशरणकी रचनाकर जगतके प्राणियोंका उपकार करते हैं, नन्दीश्वर द्वीपमे जाकर अकृत्रिम चैत्यालयकी वन्दना करते हैं' परन्तु यह कहना ठीक नही, क्योंकि सर्वोत्तम संयम जिससे मोक्ष होता है - वह मनुष्यहीके होता है अतः सभी पर्यायोसे मनुष्य पर्यायकी उत्तमता सिद्ध है । इसको पाकर यदि उपयोग नहीं किया तब अन्धे मनुष्यकी लालटेन ही के सदृश इस पर्यायको जानो ।

(२८ । ७ । ५१)

१७. मनुष्यजन्मकी सार्थकता त्यागसे है । नारक, तिर्यग्गतिमें तो प्रायः संक्लेशताकी ही प्रचुरता है । तिर्यग्गतिकी अपेक्षा नारकगतिमें प्रचुर संक्लेशता है और वे परस्परमें एक दूसरेको विक्रिया द्वारा अनेक प्रकारके कष्ट देते हैं ।

(१६ । ८ । ५१)

१८. मनुष्यको सदाचारसे रहना अति आवश्यक है । जो सदाचारसे पतित हैं वे अपने पवित्र जाति और कुलको कलङ्कित करते हैं । जाति और कुल तो पराश्रित हैं किन्तु वे अपने पवित्र आत्माको संसारका पात्र बनाते हैं ।

(१८ । ८ । ५१)

१९. उत्तम मनुष्य वह हैं जो निर्दोष आचरण करें, निर्भीक हो, परकृत निन्दा प्रशंसाके द्वारा दुखी और सुखी न हों ।

(२१ । ९ । ५१)

२०. मनुष्य वही है जो सहसा किसी बातको सुनकर यद्वा तद्वा निर्णय न देने लगे ।

(१९ । १० । ५१)

२१. मनुष्य जन्म एक उत्तम है। इसमें ज्ञानकी उन्नति विशेष रूपसे हो सकती है। यदि यह निरन्तर उपयोगको स्थिर रखे तब बहुत कुछ उपद्रवोंसे सुरक्षित रह सकता है किन्तु खेद इस बातका है कि यह निरन्तर मोहके अधीन होकर सर्वथा परपदार्थोंके सम्बन्धमें ही ऊहापोह करता रहता है। आत्मगत दोषोंको दूर करनेका प्रयत्न नहीं करता। सबसे महान दोष इसमें यह है कि यह आत्माको नहीं जानता परमें आत्मीयताकी कल्पना करता है। यही इसको संसारमें अशान्तिका मार्ग है। जिसदिन हमको यह बोध हो गया कि परसे हम भिन्न हैं उसीदिन हम सुख शान्तिके भाजन हो जावेंगे।

(२१।१०।५१)

धर्म

१. धर्मके हेतु मनुष्य बड़े बड़े प्रयत्न करता है मन, वचन, कायके व्यापारोको सरल करनेकी चेष्टा करता है परन्तु यह तीनों स्वतन्त्र नहीं है। इनका कोई अन्य नियन्ता है। उसके अधीन इनकी प्रवृत्ति है। वह कौन है? इसका ज्ञान होना अगम्य है। कोई कोई क्या प्रायः अखिल संसार इसका नियन्ता ईश्वरको मान लेता है।

(१७।१।४७)

२. स्थिरमति होनेकी परमावश्यकता है। प्रतिदिनकी जो प्रक्रिया है उसे पूर्ण करो परन्तु नवीनकी ओर आगे भी बढो। केवल आगमके आश्रय धर्म नहीं होता, वह तो आत्माकी परिणति है। वह न तो आगमाभ्याससे होती है और न सत्समागमसे होती है और न मन-वचन-कायके व्यापारसे ही होती है। जितने विकल्प हैं

कषायोंके अधीन हैं। कषायकी निवृत्ति ही धर्म है अतः जहाँतक बने उसे हटानेका प्रयत्न करो।

(१।५।४७)

३. अन्तरङ्ग धर्मका कारण जो कषायकी उपशमता है, वह अपने स्वाधीन नहीं। क्या करें?

(१५।५।४७)

४. धर्मके कार्योंके करनेमें आलस्य मत करो। आलस्य ही पापकी जड़ है।

(२०।८।४७)

५. रूढ़िके अनुसार चलना और बात है धर्मका स्वरूप समझ लेना और बात है।

(२२।८।४७)

६. संसारमें मनुष्य जितना धर्ममें ठगाया जाता है इतर बातोंमें नहीं ठगाया जाता। व्यवहारधर्मकी क्रियासे ही आदमी धर्मात्मा माना जाता है।

(९।१०।४७)

७. लोग केवल ऊपरी दृष्टिसे द्रव्य व्यय करते हैं, पारमार्थिक धर्मोंकी दृष्टिसे परे हैं। परमार्थ तो उन्हींको प्राप्त हो सकता है जो धर्मको समझें।

(१२।१।४८)

८. संसारमें प्रतिष्ठा पानेके लिये धर्मका आचरण अधोगतिका कारण है।

(८।२।४८)

९. धर्मके मर्मको जानना ही कल्याणपथका पथिक होना है परन्तु हम धर्मके जाननेका तो प्रयत्न नहीं करते केवल लौकिक मनुष्योंको

समझानेका प्रयत्न करते हैं जो सर्वथा अनुचित है। जब अपनेमे ही धर्मका विकाश नही तब अन्यमें क्या करोगे ?

(२५।२।४८)

१०. धर्म आत्माकी उस परिणतिको कहते हैं जो किसी कारणकी अपेक्षा न करता हो—जैसे पारिणामिक भाव। इसी प्रकार सभी द्रव्योंकी अवस्था है। जितने गुण हैं सभी धर्म हैं क्योंकि वह किसीकी अपेक्षा नहीं करते। इस व्याख्यामें पर्यायको धर्म नहीं कह सकते, चाहे वह स्वाभाविक हो चाहे वैभाविक हो।

(६।३।४८)

११. धर्मका सम्बन्ध आत्मासे है और जबतक आत्माके यह श्रद्धा न होगी तबतक इसी चक्रमें रहेगा। जो उसको नहीं जानता वह बाह्य कारण समुदायमे ही उलझा रहता है। बहुतसे मानव तो नाना प्रकारके देवोंकी कल्पना कर उसे सिद्ध करना चाहते हैं परन्तु भीतरसे विचार करो क्या इन काल्पनिक मूर्त्तियोंमें उसकी सत्ता है ? नहीं।

(१०।३।४८)

१२. हमलोग इतने मूढ़ हो गये हैं कि मार्गकी सरलताको भूल गये, केवल बाह्य क्रियामें धर्म मानकर मुग्ध हो गये हैं।

(२९।३।४८)

१३. अन्तरङ्गमे धर्मकी रुचि होनी चाहिये, केवल गल्पवादसे तो श्रवण ही का विषय रहता है अधिक हुआ तो उसका अर्थ बोध हो गया।

(७।४।४८)

१४. परकी अपेक्षा धर्म साधन नहीं होता, धर्म साधन तो निरीह वृत्तिसे होता है।

(११।४।४८)

१५. शिथिलाचार करना धर्मका घातक है। संकोच करना शिथिलाचारका साधक है। गृहस्थोके साथ रहना ही इसका पोषक है।
(५ । ५ । ४८)

१६. धर्मकी श्रद्धा एक ऐसी अपूर्व औषधि है कि उससे महान्‌से महान् उपसर्ग टल जाते हैं, शान्तिमार्गके प्राप्त होनेका उपाय अनायास मिल जाता है। अतः जिन्हे आत्म-कल्याण करना है वे धर्मको न भूलें।
(१३ । ६ । ४८)

१७. धर्मका मर्म है कि आत्माको केवल रहने दो। सब जीवोंको समदृष्टिसे देखो। इसका यह अर्थ है कि कर्मविपाकसे मनुष्योंकी नाना परिणति हो रही है। उनमे तुम्हारे अनुकूल जो न हुई उस परिणति वालेसे झट द्वेष कर लेते हो, जो तुम्हारे अनुकूल परिणति वाला हुआ उससे तुम प्रेम कर लेते हो। यह उचित नहीं। प्रथम तो निज परिणतिको विभाव जान उसके पृथक करनेका प्रयत्न करो।
(९ । ७ । ४८)

१८. समयका सदुपयोग करो अर्थात् धार्मिक भावोंसे ओत-प्रोत रहो जिससे आत्मा उन भावोसे बचे जो अकुलताके जनक हैं।
(१३ । ९ । ४८)

१९. धर्ममे दृढ़ता रखनेके लिये धीरता रखनी चाहिये।
(१५ । ९ । ४८)

२०. धर्म पदार्थ इतना व्यापक है कि प्रत्येक व्यक्ति इसे आत्मीय मानता है। संसारमे आज जितने मत प्रचलित हैं धर्म ही सबका प्राण है। इसके बिना कोई भी मत जीवित नहीं रह सकता। जैसे मनुष्यमे इन्द्रियादि प्राण हैं किन्तु उसकी यथार्थताके बिना आज जगत अनेक सङ्कटोंका पात्र बन रहा है। इसका मूल कारण धर्मके स्वरूपको न जानकर मनोनीत कल्पनाएँ करना है। जैसे कोई तो

पृथिवीके विशेष स्थलोको ही धर्म मानते हैं अर्थात् विशेष स्थलके स्पर्शसे ही आत्मा पवित्र हो जाती है, कोई पानीको ही धर्मका साधन मानते हैं अर्थात् पानीके स्पर्शसे ही आत्मा पवित्र हो जाती है, कोई अग्निको ही धर्मका साधन मानकर उसकी पूजा करनेमें ही धर्म मानते हैं। धर्मका वास्तविक परिचय जिसको मिलता है वह करनेको क्या ध्यानमें—आत्मा मनोवल, वचनवल तथा कायवलसे ही कार्य करता है, कषायके सद्भावसे ही उनमें तीव्रता और मन्दता आती है। जहाँ तीव्र कषाय होती है वहाँ पापके कार्योंमें प्रवृत्ति करता है और जहाँ मन्द कषाय हो वहाँ धर्मके कार्य करता है, परोपकार करता है, देवपूजा, गुरुकी उपासना तथा स्वाध्यायमें प्रवृत्ति करता है।

(३,४।१।५१)

२१. आजकल मनुष्य धार्मिक विद्याका अभ्यास नहीं करते अतः उनके भाव परमार्थकी ओर नहीं जाते। सभी मनुष्य केवल यही चाहते हैं कि जैसे भी हो धन आवे। इस समय धर्ममें प्रवृत्ति नहीं, जो प्रवृत्ति करते भी हैं वह भी इसी अभिप्रायः से करते हैं, कि कुछ धर्मका कार्य करते हैं उसमें भी यही भावना रहती है कि संसारका वैभव हमें प्राप्त हो। इसके लिये बड़े-बड़े यागादिक कार्य करते हैं, कोई मन्दिर, कोई तीर्थयात्रामें पुष्कल द्रव्य व्यय करते हैं, यहाँ तक कि धनके लिये प्राणो तकका विसर्जन करनेमें भी आना-कानी नहीं करते!

(३१।१।५१)

२२. आत्माके परिणाम विशेषका नाम धर्म है परन्तु 'हमारा धर्म' कहकर उसे अपना बनानेकी प्रक्रिया चल पड़ी है। लेकिन सोचनेकी बात है कि यदि इस तरह धर्म अपना सम्भव हो जाय तो अन्यका क्या रहेगा? समझमें नहीं आता।

(३।२।५१)

२३. धर्म पदार्थ प्रथम तो प्रत्यक्ष नहीं तथा ऐसा भी नही जो द्रव्यसे लिया जा सके। यदि द्रव्यसे मिल जाता तब प्रायः बहुतसे मनुष्यों को उसका लाभ हो जाता। बड़े-बड़े धनी पुरुष लाखों रुपया धर्मके कार्योंमे व्यय करते हैं परन्तु उनको शान्तिका लेश भी नहो।

(४।२।५१)

२४. यह काल इतना विषम है कि इसमे मनुष्योकी चेष्टा सर्व धर्मके विकाशमे होना असम्भव है। धर्म वह पदार्थ है जो अपने अस्तित्वमे किसी सद्भावकी अपेक्षा नही रखता। जैसे अग्निका धर्म उष्ण है, वह किसीकी अपेक्षासे नही स्वयमेव है। उसी तरह जिस पदार्थका जो धर्म है वह निरपेक्ष ही रहता है। आत्मामे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धर्म हैं, वे सापेक्ष नहीं। हाँ आत्मा जब संसार अवस्थामें रहता है तब इसके अनादिकालसे कर्मका सम्बन्ध है उससे इसके विकृत भावको धारण किये हुए हैं—सम्यग्दर्शनका परिणाम मिथ्यादर्शन, ज्ञानका परिणाम मिथ्याज्ञान तथा चारित्रका परिणाम मिथ्याचारित्र रूप हो रहा है। यही कारण है कि हम आत्मश्रद्धा तथा आत्मज्ञान और आत्मचारित्रसे गिरे हुए हैं। परमे आत्म श्रद्धा, परमे ही आत्मज्ञान तथा परमे ही आत्म प्रवृत्ति कर रहे हैं।

(१४।३।५१)

२५. धर्म कोई ऐसी वस्तु नही कि जिसका अस्तित्व आत्मासे बाहर पाया जावे। वह तो कषायके अभावमे व्यक्त होता है।

(२०।३।५१)

२६. धर्म तो आत्माकी निर्मलपरिणतिसे सम्बन्ध रखता है। मोह और क्षोभके अभावमे ही उसका उदय होता है।

(८।५।५१)

२७. आजकल धर्मका अर्थ जनता इतना ही समझती है कि

पानी छानकर पीना, रात्रिमें भोजन न करना, देव दर्शन करना। इनका होना अति आवश्यक है किन्तु जिसको धर्म कहते हैं उसकी गन्ध भी नहीं। धर्मका वास्तविक अर्थ यह है कि आत्मामें पर पदार्थसे भिन्नता भासने लगे और फिर हिंसादि पञ्च पापोंसे आत्माको सुरक्षित रक्खे। सबसे महानधर्म यह है कि किसीको कष्ट न पहुचावे। वही आत्मा परको कष्ट नहीं दे सकता जो अपनेको पहिचाने। जिसने अपनेको नहीं पहिचाना वह मनुष्यत्वका पात्र नहीं।...... लोग वेष दर्शनमें धर्म समझते हैं, होता भी है किन्तु आजकल न तो वेष है, और न भाव है, केवल आडम्बर मात्र है।

(१५। ७। ५१)

२८. यह पञ्चमकाल है, पुरुष तथा स्त्री गणमें यह शक्ति नहीं कि निरपेक्ष धर्म साधन कर सकें।

(११। ८। ५१)

२९. आजकल मनुष्य स्वेच्छाचारी हैं। धर्मको एक अनावश्यक व्यर्थ कर्तव्य मानते हैं, केवल अर्थ और कामको ही आवश्यक मानते हैं। अर्थका प्रयोजन भी कामकी सिद्धि है। पर्यवसानमें चार्वाकका सिद्धान्त ही आ जाता है कि—'आनन्दसे जीवन विताओ, त्याग आदि प्रपञ्चोंमें मत पड़ो, यह केवल धर्मके नाम पर अज्ञानी लोगोंने प्रपञ्च फैलाया है, धर्मके नामपर द्रव्य लेकर आप तो आनन्द लेवें, और हमको त्यागका उपदेश देवें।' इत्यादि।

(१८। ८। ५१)

३०. प्रत्येकके मनमें यह आ गया कि धर्मको करनेका हमारा भी अधिकार है। हमारे अज्ञानके द्वारा ही हम धर्मसे वञ्चित हैं। धर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं जो किसीसे भिक्षामें मिल जावे। हम स्वयं इतने कायर हो गये हैं कि उसके होते हुए भी परसे याचना करते

हुए भी लज्जित नही होते। धर्मका घातक अधर्म है, अधर्मके सद्भावमें धर्मका विकाश नही हो सकता। जैसे अन्धकारके प्रभावमें प्रकाश नही क्योंकि अन्धकार और प्रकाश यह दोनों परस्पर विरोधी हैं किन्तु जब रात्रिका अन्त आता है तथा सूर्योदय होता है उस समय अन्धकार पर्याय स्वयमेव विलय जाती है। इसी प्रकार हमारी प्रवृत्ति अनादि कालसे परमे निजत्व कल्पना कर मिथ्याज्ञानका पात्र बन रही है और इसी द्वारा अन्य पदार्थोंको निजमान आत्मचारित्रको क्रोध, मान, माया, लोभ रूप बना रही है, निरन्तर इन्हींमे तन्मय हो रही है। इनमे तन्मय होनेसे आत्मीय क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौचका घात कर रही है। जब क्षमादिक पर्यायोका उदय नहीं तब आप ही बताओ शान्ति रसका आस्वाद कैसे मिले?

(२१।८।५१)

३१. धर्मवस्तुका उदय आत्मामे ही होता है। जिस कालमें आत्मामे धर्मका पूर्ण विकाश हो जाता है उस समय यह उत्कृष्ट है, यह मध्य है, यह जघन्य है, यह भाव मिट जाते है।

(१०।१०।५१)

३२. आजकल व्यवहार धर्मकी विशेप प्रभुता है। अन्तरङ्गकी ओर अणुमात्र भी दृष्टि नही अन्यथा उस ओर लक्ष्य जाता।

(२२।१०।५१)

३३. धर्मका प्रचार सूर्यवत् करो, दीपकवत् नही क्योंकि दीपकका प्रकाश घरके ही पदार्थको प्रकाशित करता है, सूर्यका प्रकाश संसारके पदार्थोंको प्रकाशित करता है।

(२९।१०।५१)

३४. राजनैतिक कार्य करने वाले प्रायः धर्मकी श्रद्धासे च्युत हो जाते हैं, धर्मको ढोग वताते हैं। यद्यपि धर्म आत्माकी निज परिणति

है, उसमे जो विकार है उसे वास्तवमे धर्म मानना मिथ्या है। जैसे आत्माका स्वभाव ज्ञान दर्शन है उसका जो कार्य है पदार्थोंको देखना जानना है। देखने जाननेमे जो पदार्थ आते हैं उनमें निजत्व कल्पना करना तथा उनसे राग-द्वेष करना यह विकार है। इस विकारको न त्यागना धर्मका बाधक है। इसे हित मानना यह अधर्म है। विकारको औपाधिक जान उसके दूर करनेका प्रयासकरना यह मार्ग प्राप्तिका उपाय है। इसमे लगना ही संसार बन्धनसे छूटनेका उपाय है

(२५।१२।५१)

३५. धर्म एक ऐसा पदार्थ है जो प्रत्येक प्राणीको रुचता है।

(२९।१२।५१)

सहज सुख साधन

१. जो कोई सुख चाहे उसे उचित है कि सुखके कारणोको अर्जन करे और उसके बाधक कारणोंका परिहार करे। 'सुख क्या है?' यह प्रायः सभी जानते हैं कि आकुलताका अभाव ही सुख है। आकुलताके अभावमें चित्त शान्तिका अनुभव करता है अतः जहाँ शान्ति नहीं वहीं आकुलता है और जहाँ आकुलता है वहीं दुःख है।

(२०।३।४७)

२. असातोदयमे क्लेश मत करो, सातोदयमे हर्ष मत करो, शान्तभावमे कर्मके उदयको देखो जानो। संयमका स्थान मनुष्य-भव ही है क्योंकि यहाँपर उसके उत्पन्न होनेके कारण मिलते हैं

अतः मनुष्य वने रहनेका प्रयत्न करो। सबसे कठिन कार्य परमें आत्मबुद्धि न होना है। जगतको अपना मानकर आत्मा दुर्दशा-पन्न हो रहा है। भिन्न मानकर विवश जगतमें अपनेको समझे, अपनेमे जगतको न समझे तो सुख हस्तगत है।

(२१। ४। ४७)

३. ऐसी चेष्टा करो जो कोई कल्पना न हो। कल्पना ही संसारकी जननी है। कल्पना चाहे सत् हो, चाहे असत् हो आकुलता हीकी जननी है। अतः जहाँतक बने कल्पनाओंको त्यागो। उतनी ही कल्पना करो जितनी तुम्हारे पुरुपार्थसे सम्पन्न हो सकती है। पासमे एक पैसा न हो और वम्बई यात्राकी इच्छा करे यह क्या असंगत नही है? कालके अनुसार काम करो, देखा देखी मत चलो। शक्त्यनुसार किया गया अनुकरण सुखका साधक होता है।

(२६। ४। ४७)

४. श्रीवीतरागदेव ही आत्मसुखके पात्र हैं। संसारी मनुष्योंको सुख कहाँसे हो? इतनी इच्छाएँ हैं जितने पदार्थ नहीं। सभी पदार्थ भी यदि एकको मिल जावें तव भी इसकी इच्छाकी पूर्ति नही हो सकती। केवल भ्रम ही सुख होनेका है। यदि मन-भरकी भूखवालेको एक कण मिल जावे तव भला उसकी पूर्ति हो सकती है? नही, फिर भी यह मोही जीव प्रयास करनेसे नही चूकते।

(४। ५। ४७)

५. नाना विकल्प होते हैं जिनमें कोई भी सार नहीं। जो कार्य कर सके उसे यदि कोई विकल्प हो कोई हानि नहीं परन्तु यहाँ तो वह धारा विकल्पोंकी होती है जिनके प्रारम्भ करनेकी सम्भावना नहीं। संसारमें जो मिलता है वही विकल्प जालमें फँसा

हुआ अपनेको दुःखी कहता है इससे यह समझना चाहिये कि कोई भी सुखी नहीं।

(३।६।४७)

६. संसारमें जितने प्राणी हैं सभी सुखके अभिलाषी हैं, एतदर्थ ही उनका प्रयास रहता है। 'शान्ति मिले' उसके लिये अनेक प्रकारके उपायोंका अवलम्बन करते हैं, निरन्तर उपायोंके संग्रहकी आकुलतामें आकुलित रहते हैं।

(२१।७।४७)

७. संसारमें सभी मनुष्य जो क्रिया करते हैं उसका तात्पर्य यह रहता है कि इसके द्वारा हमको सुख हो। सुखकी सिद्धि कषायके अभावसे होती है। क्रिया करनेमें इच्छा मुख्य होती है क्रिया सिद्ध होनेपर कषायकी निवृत्ति हो जाती है।

(२२।११।४७)

८. मनुष्योंके पापोदयकी मुख्यता है इसीसे सुखकी सामग्री मिलना दुर्लभ है।

(५।१।४८)

९. अनुकूल, प्रतिकूल अवस्थामें जो हर्ष, विषाद करता है वह कभी भी सुखी नहीं हो सकता। अनुकूल प्रतिकूल भाव ही विभाव हैं, अनात्मीय हैं, इनमें सुखका लेश नहीं।

(१४।७।४८)

१०. आत्माकी परिणति सुख चाहती है परन्तु उपाय करनेमें भय करती है, कैसे सुख मिले ?

(१।८।४८)

११. इस संसारमें यदि सुखको चाहते हो तो विश्वास करो कि अन्य मनुष्योंकी कथा दूर रहे यह शरीर भी तुम्हारा नहीं। शरीर पर द्रव्य है हमने इसमें आत्मीय कल्पना कर ली है।

(१८।८।४८)

१२. संसारमें वही मनुष्य सुखका भाजन हो सकता है जो निस्पृह हो।

(२७।१२।४८)

१३. संसारका मूल कारण मोह, राग, द्वेष है। इनको कृश करो। यही दुःखके मूल हैं सो नहीं प्रत्युत जो कुछ आपत्ति है यही तो हैं। सुख भी तो और कुछ नहीं इनका न होना ही तो सुख-का मूल है।

(१४।५।५१)

१४. सुखके लिये प्रयास करना आकाशसे पुष्पचयन करनेके तुल्य प्रयास है। सुखका विरोधी दुःख है और दुःखका मूल कारण रागादि परिणाम हैं अतः रागादि परिणाम न हो ऐसा प्रयास करा।

(२१।५।५१)

१५. इस संसारमें सभी प्राणी सुखकी अभिलाषा करते हैं। और वह सुखकी प्राप्ति सब कर्मोंके क्षयसे होती है और वह सब कर्मक्षय सम्यक्चारित्रसे होता है और सम्यक्चारित्र सम्यग्ज्ञानसे होता है और वह अवबोध आगमसे होता है। आगम जो हो सो श्रुतिसे होता है, वह श्रुति जो है सो आप्त भगवान्से होता है। भगवान् आप्त वह हैं जिनके क्षुधादिक अष्टादश दोष न हो क्योंकि जिसके क्षुधादिक दोष हैं वह स्वयं व्यग्र है, उसके यथाख्यात-चारित्र नही हो सकता। दोष, रागादिक आत्मामें आकुलता उत्पन्न करने वाले है। जहाँ आकुलता है वहाँ शान्ति नही। जहाँ शान्ति नहीं वहाँ मोहनीय कर्मका सर्वथा नाश होना असम्भव है। जहाँ मोहनीय कर्मका स्वत्व है वहाँ उसके अविनाभावी ज्ञानावरणादि घातिया कर्म विद्यमान हैं। जहाँ इन कर्मोंकी ही सत्ता है वहाँ केवलज्ञानका उदय नही तथा नवीन कर्मबन्ध भी होता रहता

है। इससे भगवान आप्त वही हो सकता है जिसके मोहनीयादि कर्मोंका अभाव हो गया है। जहाँ क्षुधा जन्य वेदना है वहाँ नियमसे मोहनीयका सद्भाव है। जहाँ मोहनीय है वहाँ रागादिक है, जहाँ रागादिक दोष है वहाँ आप्तता नहीं रह सकती, अतः दिगम्बर सम्प्रदायमें जो वीतराग विशेषण आया है वह उपयुक्त है।

(२४।७।५१)

१६. संसारमें वही प्राणी सुखका भाजन हो सकता है जो निरन्तर अपनी त्रुटियों पर दृष्टि रखता है। परके अवगुण देखनेसे अपने उपयोगकी विशुद्धता पलायमान हो जाती है। आत्मामें अनेक प्रकारके भाव उत्पन्न होते हैं परन्तु अधिकांशमें तो ऐसे ही निरर्थक होते हैं जिनमें कोई सार नहीं। आगममें तो लिखा है कि प्राणिमात्रसे मैत्री करो, सब प्राणियोंमें दुःखकी उत्पत्ति ही न हो, अर्थात् कोई प्राणी दुःखी न हो। इतना निर्मल परिणाम जिस भावनाके आनेसे होता है वह प्राणी अल्पकालमें संसारके बन्धनसे मुक्त हो सकता है। वासनाकालके अनुकूल ही इस जीवका संस्कार होता है, और वही संस्कार कालान्तरमें फल देता है। जिसके संस्कार निरन्तर परके अनिष्ट करने वाले होते हैं वह सर्वदा संक्लेश परिणामोंसे व्यग्र रहता है, वर्तमानमें दुःखी रहता है तथा कालान्तरमें भी दुःखका पात्र होता है।

(१४।११।५१)

१७. शारीरिक वेदनाओंका मूल कारण तुम्हारी गृध्नता है। यदि केवल क्षुधाको शान्त करना है तब जो समय पर मिले शान्तिसे उसे उपयोगमें लाओ। केवल कल्पना जालमें मत उलझो।

(१५।११।५१)

शान्ति सदन

१. संसारमें बहुतसे मनुष्य शान्ति चाहते हैं और उसकी प्राप्तिके लिये उपाय भी करते हैं परन्तु वे उपाय निर्दोष नहीं। जैसे बहुतसे मनुष्य जब अत्यन्त व्यग्र होते है तब मदिरापान कर लेते है और यह युक्ति देते है कि मदिरापानसे व्यग्रता दूर हो जाती है परन्तु सत्य यह है कि व्यग्रता दूर नही होती केवल मदोन्मत्त होनेसे उसका भान नही होता। ठीक इसी तरह दैनिक जीवनकी कठिनाइयोंसे परेशान मनुष्य शान्तिकेलिये ठाठबाटसे रहनेका प्रयत्न करता है परन्तु सत्य यह है कि उसकी कठिनाइयाँ दूर नही होती केवल रागरंगमें मस्त होनेसे उनका भान नही होता। जैसे नशा उतरनेके बाद व्यग्रता पुनः अपना प्रभाव दिखाती है उसी तरह रंगरेलियाँ समाप्त होनेके बाद कठिनाइयाँ भी पुनः अपना प्रभाव दिखानेको एक एक कर सामने आने लगती है।

(२।१।४७)

२. संसारमें कषायकी प्रबलता ही दुःखका बीज है। जो दुःखसे छूटना चाहे उन्हे कषायका निग्रह करना उचित है। कषायके निग्रहसे ही आत्मामें शान्ति आती है। कषाय मैल है, मैलसे मलीनता आती है।

(५।२।४७)

३. शान्तिका उपाय न तो तीर्थक्षेत्रमें है और न सत्समागममें है क्योंकि शान्ति तो आत्माकी मोह परिणतिके अभावमें है। वह कैसे हो? इसपर बहुत विचार किया, कुछ समझमें नही आया! अनादिकालसे अनात्मीय पदार्थोंमें अभेद बुद्धि हो रही

है वह कैसे मिटे ? आगमाभ्यास ही इसके मेटनेमें समर्थ है परन्तु यह नियम नहीं क्योंकि ग्यारहअङ्गपाठी भी होकर आत्म-ज्ञानसे वञ्चित रहते हैं।

(५।३।४७)

४. वास्तवमें शान्ति तो स्वकीय आत्मामें पर पदार्थोंके साथ जो ममता बुद्धि है उसके अभावमें होती है। ममता बुद्धिका अभाव नहीं होता। निरन्तर इस बातका भय रहता है कि यदि इनसे ममता छोड़ देवेंगे तो क्या होगा ? क्योंकि इनहींसे अपनी रक्षा होती है ऐसी श्रद्धा है तथा लोकेषणाकेलिये नाना प्रकारकी चेष्टा करता है।

(३।४।४७)

५. केवल गल्पवादमें स्वात्म रसका स्वाद मिलना असम्भव एवं मन, वचन, कायके व्यापारसे परे है। शान्तिका आस्वाद रागी-द्वेषी जीवको नहीं मिलता।

(१२।४।४७)

६. चित्तवृत्तिको शान्त रखनेका यही उपाय है कि शास्त्र अध्ययन करो, उससे अपनी शान्तिका ध्यान रक्खो।

(२८।७।४७)

७. शान्तिका मूल कारण तो भीतरसे व्यग्रता न होनी चाहिये। व्यग्रतासे कोई भी काम नहीं होता, अन्यकी कथा छोड़ो लौकिक कार्य भी नहीं होता, परमार्थ तो बहुत दूर है। परमार्थमें तो सब तरफसे चित्तवृत्तिको संकोच कर स्वरूपमें लगा देना चाहिये।

(१८।७।४७)

८. लालसाका त्याग शान्तिका मूल कारण है। इसका यह तात्पर्य है कि किसी द्रव्यकी सत्ता किसी पदार्थसे नहीं मिलती।

अर्थात् सब पदार्थ स्वीय द्रव्यादि चतुष्टयसे पृथक् पृथक् है। उनमें जो हमारी निजत्वकी कल्पना है उसे त्यागना ही परका त्याग है। यही होना कठिन है क्योंकि अनादिकालसे हमारी प्रवृत्तिमें परमें निजत्वकी कल्पना हो रही है, उसका दूर करना अत्यन्त कठिन है।

(२४।११।४७)

९. माना कि क्षेत्र शान्तिका कारण है परन्तु शान्तिका उपादान कारण आत्मा हो तब तो कार्य हो।

(२७।११।४७)

१०. शान्तिका मूलकारण आत्मामें मोहाभाव होना चाहिये। उसकी त्रुटि होनेसे शान्तिकी स्थिरता नहीं।

(२९।१२।४७)

११. पुण्य-पापकी कथाओंके श्रवण करनेसे चित्तको शान्ति मिलती है। शान्तिका कारण यथार्थ वस्तुविज्ञान है।

(११।१।४८)

१२. शान्तिका कारण तो निजकी मूर्च्छा त्याग है।

(१२।१।४८)

१३. शान्तिका कारण आत्मामें परपदार्थकी मूर्च्छा न्यून होना चाहिये। मूर्च्छा ही पापका कारण है।

(३।३।४८)

१४. जितनी ही तृष्णा कृश होगी उतनी ही शान्ति आवेगी। केवल जो बात गल्पमें थी वह प्रवृत्तिमें आ जावेगी।

(१८।३।४८)

१५. यह कौन चाहता है कि मैं शान्तिका पात्र न होऊँ परन्तु नहीं हो सकता। इसका कारण मेरी बुद्धिमें मनोदुर्बलता ही है।

(१९।५।४८)

१६. शान्तिका कारण अन्तर्निहित है केवल बाह्यपदार्थोंमें दृष्टिमें जो दोष है उसे पृथक करनेकी आवश्यकता है। अनन्तकाल इसी दोषके द्वारा अनन्त यातनाओंका पात्र जीव रहा और रहेगा अतः इसे त्यागो।

(७।८।४८)

१७. शान्तिकेलिये उपाय शान्ति ही है। अशान्तिपूर्वक जो कार्य होगा उससे शान्तिका मिलना कठिन है। चक्रवर्ती षट्खण्डकी विजय चक्रसे करता है, फल उसका राज्य ही है। राज्य परिग्रह है इससे अशान्तिकी ही तो उत्पत्ति होगी।

(२६।९।४८)

१८. जिसके मूलमें मोह है वहां सुख शान्ति नहीं। शान्तिका मूल मोहका अभाव है उसके सद्भावमें शान्ति नहीं।

(८।१०।४८)

१९. काम तो उसे करते हैं जो आत्माको शान्तिका कारण हो। यदि कार्य करनेसे शान्तिका उदय नहीं हुआ तब व्यर्थ ही जन्म गमाया।

(२४।१०।४८)

२०. शान्तिका मार्ग वहीं है जहां निवृत्ति मार्ग है।

(२७।१२।४८)

२१. आगममें शान्ति अशान्ति कुछ भी नहीं। आगम तो केवल उनका प्रतिपादन करता है। तीर्थ, सत्समागम आदिमें भी शान्ति और अशान्ति नहीं। शान्ति आत्मामें है वहां हम खोजते नहीं, उसके प्रतिबन्धक कारणोंको हटाते नहीं, निमित्त कारणोंको पृथक् करनेकी चेष्टा करते हैं। उसके प्रतिबन्धक कारण क्रोधादि कषाय हैं हम उनको तो हटाते नहीं किन्तु जिन निमित्तोंसे क्रोध होता है उन्हें दूर करनेका प्रयत्न करते हैं।

(४।४।५१)

२२. शान्तिके जो पिपासु हैं उन्हे संसारके आडम्बरोंसे अपनी प्रवृत्ति हटानी चाहिये और यह जानना चाहिये कि जिन पदार्थोंमे हम रागद्वेष कर इष्टानिष्ट कल्पना करते हैं वे पदार्थ इष्ट और अनिष्ट नही अपितु जो हमारी रुचिके अनूकूल होते हैं उन्हे हम इष्ट और जो प्रतिकूल होते हैं उन्हे अनिष्ट समझ लेते हैं। सबसे पहिले एक तो यही महती अज्ञानता है कि हम परको निज मानते हैं। कोई भी पदार्थ किसीका नहीं, सभी पदार्थ अपने-अपने परिणामोके द्वारा संसारमे परिणम रहे हैं। सत्ता सभीकी पृथक् पृथक् है। जैसे ६४ पैसे मिल-कर १) व्यवहार होता है। विचार कर देखो सबसे जघन्य भाग एक पैसा है, इसीके सदृश ६३ भाग उसमे और हैं। इन ६४ भागोका एकत्र होना ही तो एक रुपया है। रुपया और क्या वस्तु है ? जब हम उसके जघन्य अंश एक पैसा पर विचार करते हैं तब एक पैसा या एक अंश दूसरे पाव आना अंशसे भिन्न है। इन दोनोंको एकरूपसे यदि व्यवहार करें तब आध आना ऐसा व्यव-हार होता है। यहाँ पर एक अंश दूसरेसे मिलकर क्या सर्वथा एक हो गया ! नहीं, परन्तु बन्धावस्थामे आध आना यह व्यवहार होता है।

(१३।४।५१)

२३. जनताके प्रशंसक शब्दोसे शान्ति नहीं आ सकती। जनताकी निन्दासे न तो अशान्तिका उदय होता है और न स्तुतिसे शान्तिका उदय होता है। हमारी कल्पना ही हमे निन्दामे दुःख और प्रशंसामे सुखका अनुभव कराती है। देखा जावे तो निन्दाके वाक्योंका श्रवण कर हम यह कल्पना कर लेते हैं कि हमारी निन्दा की किन्तु निन्दा हमे इष्ट नहीं, इस तरहसे हम स्वयं दुःख भाजन हो जाते हैं। जिस समय यह कल्पना विलीन हो जाती है दुःख मिट जाता है। प्रशंसामे यह कल्पना कर लेते हैं कि हमारी प्रशंसा

करता है और उसमें इष्टबुद्धि हो जानेसे हम सुखी हो जाते हैं। जिस कालमें यह कल्पना विलीन हो जाती है स्वयमेव उस जाति-का सुख नहीं होता।

(१।२।५१)

२४. आत्माको शान्ति नहीं मिलती इसका कारण क्या है कुछ समझमें नहीं आता। जो भी कार्य करते हैं उसीमें आकुलता होती है। पराया अनिष्ट हो इत्यादि अनेक ऐसे कार्य हैं जिनमें आकुलता हो यह तो ठीक ही है परन्तु परका भला हो ऐसा चिन्तवन भी शान्तिका उत्पादक नहीं। जगतमें दो तरहके ही तो कार्य हैं। एक वे कार्य जिनमें दूसरोंको सुखादि देनेका भाव होता है, दूसरे वे जिनमें दूसरोको निरन्तर वेदना देनेके भाव होते हैं, इनसे अतिरिक्त कार्य ही नहीं। क्या करें—बुद्धि कुछ काम नहीं करती। निरन्तर व्यग्रता रहती है। पुण्य पाप दोनो त्याग देवें तब क्या करें कुछ समझमें नहीं आता। आगममें यह लिखा है कि मोह, राग, द्वेष त्यागो। मोहका अर्थ लिखा है पर पदार्थमें जो निजत्वकी कल्पना है उसे त्यागो। यह एक ऐसी विकट समस्या है जो कहनेमें तो कोई कठिन नहीं परन्तु उपयोगमें आना कठिन है। करना और कहना यह दोनों भिन्न हैं। कहनेवाले प्रायः सभी मिलते हैं परन्तु उसपर अमल करनेवाले विरले हैं। जो हैं वे देखनेमें नहीं आते क्योंकि वाह्य प्रवृत्तिसे ही तो अनुमान करेंगे। वह प्रवृत्ति देखनेमें नहीं आती।

(१९।४।५१)

२५. परिणामोंमें शान्ति उत्पादक जो कार्य हों वह श्लाघ्य हैं। जिस कार्यके करनेमें शान्ति न हो वह श्लाघ्य कोटिमें नहीं आता। जिस कार्यके अनन्तर शान्ति आ जावे, अभिमान कर्तृत्व-का लेश न हो वही महनीय कार्य है। पञ्चेन्द्रिय विषय सेवनसे

उत्तर कालमे तृष्णा रोगकी शान्ति नहीं होती अतः उन विषयोंके सेवनको कोई भी श्लाघ्य माननेको प्रस्तुत नही होता। प्रायः विषय सेवनको प्रत्येक व्यक्ति दुःखका कारण मानता है। यद्यपि विषय दुखके जनक नही; क्योकि वे तो पुद्गल द्रव्यके गुण है अतः न दुःख उत्पादक हैं और सुखके जनक ही है। रागादि परिणाम ही दुःखके जनक हैं, क्योकि जिस समय रागादि परिणाम होते हैं उस समय आत्मामें स्वास्थ्य नहीं रहता। जब तक रागादिकी निवृत्ति न हो आत्मा अधीन रहता है। जिस समय वह रागादि परिणाम ध्वस्त हो जाता है उसी समय आत्मामे एक विलक्षण शान्तिका आविर्भाव होता है जिससे आत्मामे व्यग्रता मिट जाती है। व्यग्रताके अभावमे आत्मा स्वयमेव सुख, शान्तिका अनुभव करने लगता है।

(२३।४।५१)

२६. शान्तिका अर्थ बहुतसे मनुष्योंने यह लगा रखा है कि कुछ भी न करना, पत्थरके तुल्य जड़ हो जाना परन्तु यह बात सर्वथा असम्भव है। आत्माका जानना स्वभाव है, जो स्वभाव है वह स्वभाववान्से कभी भी पृथक नहीं हो सकता। जैसे अग्निका उष्ण स्वभाव है यदि उष्ण न हो तब अग्निका अस्तित्व ही न रहे। इसी तरह आत्माका स्वभाव ज्ञान है, जहाँ ज्ञान है वहाँ आत्मा है, जहाँ आत्मा है वहाँ ज्ञान है। ज्ञानके अभावमे आत्माका अस्तित्व ही नही। ज्ञानका कार्य पदार्थोको जानना है तब चाहे संसारी जीव हो, चाहे मुक्त जीव हो, पदार्थका विकल्प उसमे आवेगा ही। विकल्पका अर्थ है ज्ञानमे अर्थाकार अवभासन होना। जैसे दर्पणमे जो पदार्थ उसके समक्ष रहता है वह उसमे भासमान हो जाता है। इसका अर्थ यह नही कि जितना लम्बा चौड़ा पदार्थ हो उतना ही दर्पण हो जावे। परन्तु दर्पणका परिणमन तदाकार हो जाता है। यह मानना

पड़ेगा कि उस समय दर्पणका परिणमन पदार्थके निमित्तसे हुआ है। जब हम दर्पणमे मुख देखते हैं तब हमे यह ज्ञान होता है कि दर्पणमे हमारा मुख दिख रहा है और यह भी ज्ञान होता है कि दर्पणमे जो मुख है वह हमारे वास्तविक मुखसे भिन्न है। यदि ऐसा न होता तो दर्पणस्थ मुखमें कालिमा देख जो अपने मुखकी कालिमा मेटते हैं वह न मिटाकर दर्पणमे दिखने वाले मुखकी ही कालिमा मिटाते। इससे सिद्ध हुआ कि वह मुख परस्पर भिन्न हैं। इसी तरह ज्ञानमें जो ज्ञेय आता है वह ज्ञानका परिणमन है। ज्ञेय भिन्न पदार्थ है, एक अंश भी उसका ज्ञानमे नहीं आता। इसी तरह ज्ञानमे जो राग आता है वह भिन्न है और चरित्रगुणका परिणमन जो रागरूप हुआ वह भिन्न है। तथा जिस रागरूप प्रकृतिके उदयसे हुआ उससे भी भिन्न है। जो पुद्गल कर्म मोहनीयकी राग प्रकृतिका उदय हुआ वह तो पुद्गलका ही परिणमन है, उस परिणामका कर्ता पुद्गल ही है। वह ज्ञानमे नहीं आया, उसके निमित्तको पाकर आत्माके चरित्र गुणमे जो विकार हुआ वही ज्ञानमे आया। तब जैसे ज्ञेयका सम्बन्ध साक्षात् ज्ञानमे होता वैसा रागप्रकृतिके उदयका साक्षात्सम्बन्ध ज्ञानमें नहीं होता। तात्पर्य यह कि ज्ञानमे कोई भी पदार्थ आवे उसके पृथक् करनेका प्रयत्न मत करो। ज्ञान तो प्रकाशक पदार्थ है उसके सम्मुख जो भी आवेगा उसे ही वह जानेगा। उसे जानो परन्तु उसमे विषाद मत करो, ज्ञानमे इष्टानिष्ट कल्पना मत करो, यही तुम्हारा पुरुषार्थ है, यही शान्तिका मूल उपाय है।

(२७, २८।४।५१)

२७. प्रतिदिन शान्तिके गीत गानेवाला शान्तिका पात्र नहीं होता अपितु वही महात्मा शान्तिका पात्र हो सकता है जो रागादि शत्रुओसे पराजित न हो।

(२९।४।५१)

२८. शान्तिका उपाय अन्यत्र नहीं, अन्यत्र न देखना यही है। अशान्तिका वीज भी अन्यत्र नही। यदि दोनोंमेसे एकका भी निश्चय हो गया तब दूसरेका निश्चय अनायास हो जाता है। जिसे एकत्व भावना होगी उसे अन्यत्व भावनाके अर्थ प्रयास करने-की आवश्यकता नहीं। वस्तुका स्वरूप स्वपरोपादानापोहन ही तो है। स्वरूपका उपादान और पर रूपका अपोहन यही वस्तुका वस्तुत्व है। संसारमे जितने पदार्थ है उनकी यही व्यवस्था है। एकत्व भावनामे विधिमुखेन वर्णन है और अन्यत्व भावनामे निषेधमुखेन वर्णन है। भावना चिन्तनसे यही लाभ है कि परसे भिन्न आत्मचिन्तन होनेकी प्रकृति दृढ़ हो जाती है। और उसका फल यह होता है कि एक दिन ऐसा आता है कि ज्ञान केवल होकर दर्पण सदृश पदार्थोंका प्रकाशक हो जाता है। मोक्षमें आत्मा केवल अपने चतुष्टयसे ही परिणमन करता है। संसारमें भी जो परिणमन होता है वह भी स्वकीय द्रव्यमे ही होता है परन्तु इतना अन्तर है कि यहाँ जो पदार्थ ज्ञानमे आते हैं उनमें किसीमे मोह, किसीमें द्वेषरूप परिणमन करता है। यह परिणमन शुद्ध द्रव्यमे नहीं होता है केवल पर पदार्थ भासमान होते है। वे पदार्थ जो ज्ञानमे आते हैं उन्हे ज्ञेय नही रहने देना यही दूषित प्रणाली संसारकी जननी है। संसार कोई पृथक् पदार्थ नही। आत्मा ही विभाव पर्याय सहित संसार और विभाव परिणत्ति रहित असंसार कहलाता है।

(२१।५।५१)

२९. शान्तिका मार्ग कहीं नहीं आपहीमे है। आपसे तात्पर्य आत्मासे है। इसका तात्पर्य यह है कि हम परके द्वारा शान्ति चाहते हैं, यही महती अज्ञानता है; क्योकि यह सिद्धान्त है कि कोई द्रव्य किसी द्रव्यमे नवीन गुण उत्पन्न नहीं करता है। पदार्थों-

की उत्पत्ति उपादान कारण और सहकारी कारणोंसे होती है। उपादान एक और सहकारी अनेक होते हैं। जैसे घटकी उत्पत्तिमें उपादान कारण मृत्तिका और सहकारी कारण दण्ड-चक्र-चीवर-कुलालादि हैं। यद्यपि घटकी उत्पत्ति मृत्तिका ही में होती है, मृत्तिका ही उसका उपादान कारण है परन्तु फिर भी कुलालादि कारण कूटके अभावमें घटरूप पर्याय मृत्तिकामें नहीं देखी जाती। अतः ये कुलालादि घटोत्पत्तिमें सहकारी कारण माने जाते हैं। इसलिये प्राचीन आचार्योंने जहाँ कारणका स्वरूप निर्वचन किया है वहाँपर यही तो लिखा है—'सामग्री जनिका कार्यस्य, नैकं कारणम्' अतः इस विषयमें विद्वानोंको कुतर्क करना उचित नहीं। यहाँपर मुख्य गौण न्यायकी आवश्यकता नहीं, वस्तु स्वरूप जाननेकी आवश्यकता है। 'अन्वयव्यतिरेकगम्यो हि कार्यकारण-भावः' इनमें दोनो ही मुख्य हैं। जब हम उपादान कारणकी अपेक्षा कथन करते हैं तब घटका उपादान कारण मिट्टी है। निमित्तकी अपेक्षा यदि निरूपण किया जावे तब कुलालादि कारण हैं।

(१७।६।५१)

३०. शान्तिका आना कोई कठिन बात नहीं, आज शान्ति आसकती है परन्तु शान्तिके बाधक जो रागादि दोष हैं उनको तो हम त्यागते नहीं। रागादिकके जो उत्पादक निमित्त हैं उनको त्यागते हैं। उनके त्यागसे रागादिक नहीं जाते अपि तु रागादि परिणामोंमें उपेक्षा करनेसे रागादि दोषोंका अभाव हो सकता है।

(११।७।५१)

३१. शान्ति तो तब आवे जब कषायोंका उपद्रव न हो। निरन्तर पर निन्दा सुननेमें प्राणी आनन्द मानता है। जहाँपर

परकी निन्दामें जिसे प्रसन्नता होती है उसे आत्मनिन्दामें स्वयमेव विषाद होता है। जिसके निरन्तर हर्ष-विषाद रहते हों वह काहेका सम्यग्ज्ञानी ? आत्मा ज्ञान-दर्शनका पिण्ड है, न जाने क्यों ये राग-द्वेष होते हैं ? इसका मूल कारण केवल हमारा संकल्प है अर्थात् परमें निज मान्यता है। यही मानना रागद्वेषका कारण है। जब परको निज मानोगे तब उसमें अनुकूलमें राग और प्रतिकूलमें द्वेष करना स्वाभाविक है। यद्यपि रागद्वेष कषायमय भाव हैं, आत्मामें आकुलताके उत्पादक हैं। जहाँ आकुलता है वही दुःख है। अतः दुःखके निवारणके लिये सर्वप्रथम परपदार्थोंकी मूर्च्छा त्यागना ही श्रेयस्कर है। मूर्च्छाका लक्षण ही ममत्वरूप परिणाम है। यद्यपि ममता परिणामका विषय अपना नहीं किन्तु मोही जीव उस विषयको अपना मानता है। जिसको अपना मान लिया उसकी रक्षा करना उसका कर्तव्य हो जाता है, अतः सर्वथा परको त्यागो यही उपाय शान्तिका उत्पादक है। शान्तिसे ही सुखका उदय होता है। शान्तिका कारण पर पदार्थको त्यागना नहीं है, केवल आत्मासे उत्पन्न जो रागादिक परिणाम होते हैं उन्हे त्यागो।

(२१।७।५१)

३२. जिन्हें अपनी आत्माको शान्ति प्राप्त करना है वे संकोच करना छोड़ देवें।

(२२।७।५१)

३३. जिन जीवोंको शान्ति रसका आस्वादन करना है उन्हें सबसे पहले अपना निर्णयकर मनुष्य जन्मका उद्देश्य निश्चित करना चाहिये। जिनका कोई उद्देश्य नहीं वह कदापि सुखी नहीं हो सकते।

(३०।७।५१)

३४. शान्ति वही जीव प्राप्त कर सकता है जो इन रागादि भावोंमें अपनापन छोड़ दें। अनन्त जन्मकी कथा तो प्रत्यक्ष नहीं

अतः उनके द्वारा कुछ विशेष विचार करना बुद्धिमें नहीं आता। परन्तु इस पर्यायमें जो सुख दुःख हुए वह तो आत्म-प्रत्यक्ष हैं। उनके द्वारा कुछ भलाई हो सकती है।

(३१।७।५१)

३५. वास्तवमें शान्तिका मार्ग तो इन सब मतोंके विकल्पोंसे परे है। शान्तिका मार्ग कहीं नहीं। सम्पूर्ण पर्यायोंमें जानेपर भी मोक्षमार्गका लाभ नहीं हुआ।

(११।८।५१)

३६. दुःखका लक्षण आकुलता है। आकुलता जहाँपर होती है वहाँ इस आत्माको अशान्ति रहती है। आत्मा अन्तरङ्गसे शान्ति चाहता है परन्तु शान्तिका अनुभव तब हो जब किसी प्रकारकी व्यग्रता न हो। सबसे महती व्यग्रता तो शरीरको स्वस्थ रखनेकी है। यह शरीर पुद्‌गल समुदायसे निष्पन्न हुआ है परन्तु हम इसे अपना मानते हैं, प्रथम तो यह मान्यता मिथ्या है। जब इसे आत्मीय माना तब इसके रक्षणकी चिन्ता रहती हैं। इसके लिये जिन पदार्थोंसे प्रत्यक्ष भिन्नता है उनका संग्रह करना पडता है। उस संग्रहमें अनेक प्रकारके अनर्थोंका आश्रय लेना पड़ता है, हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, परिग्रह पञ्च पापोंसे अपनेको नहीं बचा सकता। बड़े प्राणियोंका घात करते देखा जाता है तथा अनेक प्राणियोंके मांसको खा जाता है, जिसके द्वारा अल्प भी भय हुआ उसे नहीं रहने देता, मच्छरादिके निवारणार्थ औषधिका प्रयोगकर निर्मूल करनेका प्रयत्न करता है।

(२।९।५१)

३७. जब पर पदार्थोंमें निजत्वका संकल्प हो जाता है तब उसकी रक्षा करनेका भाव होता है। जो जो पदार्थ उसके रक्षक होते हैं उन सब पदार्थोंमें राग और जो जो पदार्थ उसके विरोधी

होते हैं उनमें स्वयमेव द्वेष हो जाता है। जहाँ राग-द्वेषका पिशाच आत्मामें आया वहाँ शान्तिका लेश नहीं। शान्तिके अभावमें आत्मा निरन्तर व्यग्रभावका पात्र हो जाता है।

(३ । ९ । ५१)

'राज्यं सुता कलत्राणि शरीराणि सुखानि च।
संसक्तस्यापि नष्टानि तव जन्मनि जन्मनि ॥'

३८. राज्य, पुत्री, स्त्री, शरीर, सुख यह पदार्थ प्रत्येक जन्ममें पाये और निरन्तर इनमें आसक्त रहे फिर भी यह अपनी अवधि-पूर्णकर नष्ट हो गये। इनसे न तो सुख मिला, और न शान्तिका लाभ हुआ! निरन्तर इनको सुखका कारण जान व्यग्रताके पात्र रहे। शान्तिका लेश न पाया। शान्तिका उपाय स्वमात्र है। अन्य पदार्थ कालत्रय मे शान्तिके उत्पादक नहीं हो सकते।

(२५ । ९ । ५१)

३९. संसारमें शान्तिकी उपासना करनेवाले बहुत हैं परन्तु उनका मार्ग पृथक् पृथक् है। कोई मनुष्य ऐसे हैं जो पञ्चेन्द्रियोके विषय प्राप्त कर उसीसे शान्ति चाहते हैं और आजन्म यह मानव जन्म उसीमे बिता देते हैं परन्तु स्थायी शान्ति न मिलनेसे अन्तमे इस जन्मको पूर्ण कर पर जन्मके पात्र हो जाते हैं। विषय सेवन शान्तिका उपाय नहीं, क्योंकि जिस शान्तिके लिये उसे सेवन करते हैं उससे शान्ति नहीं मिलती। शान्तिका मूल बाधक पर पदार्थोंमे निजत्व कल्पना है। पर पदार्थ सर्वदा पर रहते हैं हम उन्हे अपना बनाना चाहते है पर वे अपने नहीं हो सकते।

(७।१०।५१)

४०. यदि शान्तिका आस्वाद चाहते हो तो अन्ध विश्वास-को तिलाञ्जलि दो।

(१३।१०।५१)

४१. शान्तिका बाधक यद्यपि बाह्यमें कुछ नहीं फिर भी अन्तरङ्ग परिणति निरन्तर व्याकुल रहती है। निरन्तर अन्यकी चिन्तासे व्यग्र रहते हैं—"यो हो यो करें, जगतके प्राणी सुमार्ग पर चलें, सबको शान्ति मिले, परस्परका वैमनस्य मिट जावे, कोई दुखी न हों, व्यर्थ कलहमें अपना समय नष्ट न करें।" परन्तु तत्त्व दृष्टिसे संसार तो इसी रूप रहेगा। जहाँ यह जीव अपने स्वरूपको विचारे "देखना जानना" ही इसका स्वरूप है, उसपर जहाँ स्थिर हो गया अनायास ही सब उपद्रवोंसे सुरक्षित हो सकता है। परमार्थसे इसका स्वभाव ही स्वच्छ है। देखनेवाला, जाननेवाला मैं हूँ यह एक कल्पना भी मोहहीमें होती है। इसका स्वभाव तो दर्पणवत् है, दर्पणको इच्छा नहीं कि अमुक पदार्थ इसमें भासमान हो, स्वयमेव पदार्थका सदृश आकार दर्पणमें परिणम जाता है, यही व्यवस्था निर्मोही जीवकी है। जब पदार्थ व्यवस्था इस प्रकार है तब हमें हर्ष-विषाद करनेकी आवश्यकता नहीं। (१७।११।५१)

४२. आजकल जो शिक्षा पद्धति है उसमें भौतिकवादको खूब प्रोत्साहन मिलता है। विज्ञानका इतना प्रचार है कि बालकी भी खाल निकालते हैं। यहाँ तक विज्ञानने आविष्कार किया है कि बिना चालकके वायुयान चला जाता है तथा ऐसा अणुबम बनाया है कि जिसके द्वारा लाखों मनुष्योंका विध्वंश हो जाता है। ऐसी चीरफाड़ करते हैं कि पेटका बालक निकाल कर बाहर रखकर पेटका विकार निकाल देते हैं पश्चात् बालकको उसी स्थान पर रख देते हैं। यक्ष्मारोगीकी पसुली बाहर निकाल देते हैं किन्तु ऐसा आविष्कार किसीने नहीं किया कि यह आत्मा शान्तिका पात्र हो जावे। (११।१२।५१)

त्याग

१. परमार्थसे त्याग करना अन्य बात है, लोक प्रतिष्ठाके लिये बाह्य त्याग करना अन्य बात है। संसारमें कीर्तिके लिये जो भी तप आदि कार्य किये जाते हैं वे सब कायक्लेशके लिये होते हैं। उनसे आत्महितकी गन्ध भी नहीं आती। कषाय निवृत्तिके हेतु जो कार्य किया जाता है उससे आत्महित होता है और जो कार्य केवल कषाय पुष्टिके लिये किया जाता है उससे आत्महित नहीं होता।

(५।१।४७)

२. त्यागकी महत्ता अभ्यन्तरसे है? परन्तु उस ओर लक्ष्य नही!

(११।८।४७)

३. राग मेटनेके उपाय आचार्योंने बहुतसे बताए हैं परन्तु हम उन उपायोका अवलम्बन नही लेते। केवल बाह्य त्याग कर ही सन्तोष प्राप्त कर लेते हैं। बाह्य वस्तु जिसका हम त्याग करते हैं वह शान्तिका कारण नही; क्योंकि उस बाह्य वस्तुका आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं।

(२५।८।४७।)

४. संसारमे सबसे कठिन मूर्च्छाका त्याग है। लोग पदार्थों-के त्यागकी चेष्टा करते हैं, अपनेसे अतिरिक्त जो वस्तु है वह स्वतः त्यक्त है उसके त्यागनेकी क्या आवश्यकता है? जो भाव अपने आत्माके साथ तन्मय होकर दुखद हैं वही त्यागना चाहिये।

(१८।१।४८)

५. त्यागका महत्त्व उसी समय है जब कि उसको करके भी कुछ न चाहे अन्यथा एक प्रकारका व्यापार है।

(२७।७।४८)

६. कहीं कहीं वाह्य त्याग भी आभ्यन्तर त्यागमें निमित्त हो जाता है। अतः सर्वथा यह पक्षपात नहीं करना चाहिये कि वाह्य त्याग कुछ नहीं। वाह्य त्यागसे तात्पर्य यह है कि मनुष्य पर्यायको पाकर कमसे कम खाद्य पेयकी व्यवस्था उत्तम रखनी चाहिये।

(२।६।४८)

७. त्यागी वही है जिसके आत्मश्रद्धा पूर्वक वाह्य त्याग हुआ हो, जो अन्तरङ्गसे कृपालु हो और जीवोंकी दशाका जिसे पूर्ण ध्यान हो। जीवोंके अन्तर्गत अपना आत्मा आ गया। सर्व-प्रथम तो अपनी दया करता हो यह लक्षण होना आवश्यक है। जो अपनी ही दयासे वहिर्मुख है वह परकी दया करनेमें सर्वथा असंगत प्रलापकर लोगोंको ठगता है। जो ऐसे त्यागी हों, केवल ऊपरी क्रियाकाण्डमें मग्न हो उनका साथ छोड़ो।

(८।६।४८)

८. जो त्याग करो किसीसे व्यक्त मत करो। त्यागवृत्तिके अनुकूल ही अन्तरङ्गसे कार्य करो। त्यागकी सफलता चाहते हो तो लौकिक कार्योंके हेतु आत्मीय परिणतिको कलुषित मत करो।

(१०।५।५१)

९. पर द्रव्यको त्यागनेकी जो परिपाटी चली आई है वह निमित्त कारणकी मुख्यतासे है। पर द्रव्य न आज तक अपना हुआ, न है, और न आगे भी होगा। आत्मामें जो भाव होता है वह भी नहीं रहता, अनायास चला जाता है। अन्यकी कथा छोड़ो जो क्षणिक भाव हैं वे भी परिणमनशील हैं। जब वह भी परि-

णमन शील है तब क्षायोपशमिक भाव औदयिक भाव क्या स्थायी रह सकते हैं ? किन्तु हम ऐसे मूढ़ हैं कि उनके होनेमें हर्ष मानते हैं। यही फिर नवीन बन्धका कारण हो जाता है। सम्यग्दृष्टि उन्हें अपनाता नहीं अतः उसके कर्मोंका बन्धन अल्प स्थिति अनुभागको लिए हुए होता है। एक दिन विलकुल नहीं होता। यह अवस्था दशमगुण स्थानमें और उसके आगे होती है।

(१०।५।५१)

१०. वाह्यमे निमित्त कारणोंका त्याग हर कोई कर देता है किन्तु जिनके कारण इनको ग्रहण किया है उनका त्याग अणुमात्र भी नहीं। फिर भी प्रयास कर रहे हैं, न जाने कब वात वने ? केवल गल्पवादसे कोई तत्त्व नहीं।

(१५।७।५१)

दान

१. भले ही मनुष्य दान न करे परन्तु अन्यायसे धनार्जन छोड़ देवे पर यह कठिन वात है। दानकी पद्धति केवल स्वप्रशंसा-के लिये कार्यकारिणी नही, वह तो लोभ दूर करनेके लिये ही प्रशस्त है।

(२४।३।४७)

२. दानमे अनुराग रखनेसे उसका जो फल मिलता है वह लौकिक विभूति ही तो है, परमार्थ तो नहीं ?

(२५।९।४७)

३. अभ्यन्तर प्रवृत्तिमे जो कषाय है उसका त्याग जो कर देता है वही सत्यपथानुगामी दानी है।

(११।५।४८)

४. दान पहिले पात्र बुद्धिसे होता था, अब हम तुम्हारा उपकार करते हैं इस बुद्धिसे दान देते हैं! वस्तुतः लोभके त्यागको ही दान कहते हैं।

(११।७।४८).

ध्यान

१. उपयोगकी स्थिरता ही ध्यानका कारण है। ध्यान दो प्रकारका है। एक तो संसारका कारण है जिसके आर्त्त, रौद्र दो भेद हैं। दूसरा संसारके नाशका कारण है। उसके भी दो भेद हैं एक धर्मध्यान, दूसरा शुक्लध्यान। उसमें धर्मध्यान शुभ परिणामोंका सम्बन्ध होनेसे यद्यपि बन्धका भी कारण होता है परन्तु परम्परा बन्धाभावमें भी कारण पड़ता है। चतुर्थ पञ्चम गुणस्थान तक रौद्रध्यान रहता है परन्तु वह ध्यान नरक तिर्यग्गतिका कारण नहीं होता; क्योंकि सम्यग्दृष्टिके जो रौद्रध्यान होता है वह अप्रत्याख्यानके तीव्र उदयमें होता है। वह चाहता नहीं, वह शुभ परिणामोंको भी नहीं चाहता फिर भी उनके कार्योंको करता है। इससे सिद्ध हुआ कि विना अभिलाषाके भी कार्य होते हैं, यह वात आर्त, रौद्र ध्यानोंमें भी सम्भव है।

(५।७।५१)

व्रत

१. व्रत उत्तम वस्तु है परन्तु यह काल इस तरहका क्षुद्र है कि व्रतका निर्वाह होना कठिन है। कोई घर ऐसा नहीं जिसमें अस्पताल-की ओपधि प्रयोगमें न लाई जाती हो।

(१२।७।४७)

२. व्रतके माने तो यह है कि आगमके विरुद्ध प्रवृत्ति न होनी चाहिये। तथा ऐसा करना प्रायश्चित्तसे भी शुद्ध नही हो सकता। जानकर अपराध करना अत्यन्त अन्याय है।

(१४।७।४७)

३. विवेकहीन व्रत संसारका कारण है। विवेकसे तात्पर्य चरणानुयोगकी पद्धतिके ज्ञानसे है।

(१७।६।४८)

४. अपने परिणाम निर्मल रहें इसलिये व्रत पालो।

(१८।६।४८)

५. व्रतोंका फल संवर पूर्वक निर्जरा है; क्योंकि व्रतका भेद है उसे तप कहते हैं। बाह्यतपोमे अनशन आता है। इसे तेला कहते है। इससे आठ भक्तका त्याग होता है।

(१९।९।४८)

महावीर सन्देश

१. श्रीवीरप्रभुकी स्तुति किसको कल्याणप्रद नही है। संसारकी असारता जान उन्होंने इससे स्नेह छोड़ा, आत्मकल्याण किया और उनके निमित्तसे संसारका कल्याण हुआ। यद्यपि भगवानको इच्छा नहीं कि मेरे द्वारा जगतका उपकार हो परन्तु सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा बन रहा है। जैसे सूर्योदयमें प्राणी अपने अपने कार्यमे लग जाते हैं उसी तरह वीतराग सर्वज्ञ प्रदर्शित पदार्थोंको अवगत कर जीव सुमार्गमे प्रवृत्ति करने लग जाते हैं। श्रीवीरप्रभु पदार्थोके ज्ञाता-द्रष्टा हैं किसीसे न राग है न द्वेप है। राग-द्वेषके वशीभूत होकर प्राणी मात्र संसार बंधनमे पड़ा

हुआ नाना दुखोंका भार वहन करता है। जिन जीवोंने वस्तु स्वरूप जान लिया वे इन वाह्य पदार्थोंको भिन्न जान न तो उन्हें अपनानेकी चेष्टा करते हैं और न त्यागनेकी चेष्टा करते हैं। जिनके भेदज्ञानसे विमल अभिप्राय हो गया है वे न तो किसी पदार्थको ग्रहण करनेकी चेष्टा करते हैं और न त्यागनेका प्रयत्न करते हैं; क्योंकि वे उनमें आत्मीय गुणोका अभाव देखते हैं।

(१९।२०, १।४७)

२. श्रीवीरप्रभुने अहिंसातत्त्वका साक्षात् रूप दिखाया। आपहीके प्रभावसे भारतवर्पमें हिंसाका अन्त हुआ। आज भी संसारमें अहिंसाका जो महत्त्व है वह भी वीरप्रभुका ही महात्म्य है।

(२१।४।४८)

३. महावीर स्वामीने इस संसारको दिखा दिया कि मोक्ष-मार्ग तो यह है। इस संसारकी गति विचित्र है। इसमें अनात्मीय पदार्थोंके संसर्गसे आत्माकी जो दशा हो रही है वह किसीसे छिपी नहीं है।

(२७।६।४८)

४. वास्तवमें महावीरप्रभुने यह दिखा दिया कि हे जीवो! आत्म-हिंसा मत करो, यही अहिंसाकी जननी है। अपनी हिंसासे ही आत्मा अनन्त संसारका पात्र होता है।

(२९।६।४८)

मुक्ति-मन्दिर

मुक्ति मन्दिर

१. शान्त रहो, किसीका भय मत करो, आत्माको मलिन मत करो। मलिन भाव ही परकी उपासना कराता है। देवदत्त धनी है, और यज्ञदत्त निर्धन है। वह निरन्तर धनी होनेके लिये देवदत्तका स्मरण करता है, उसने जिन उपायोंसे धनार्जन किया है उन उपायोंकी पूजा करता है, उनसे धनी होनेकी आकांक्षा भी करता है? पर क्या वह उपाय उसे धनी बना देंगे? नहीं। इसी प्रकार हम संसारी हैं और जो जीव मुक्त हो गये हैं उनका निरन्तर स्मरण करते हैं तथा जिन उपायोंसे उनकी मुक्ति हुई है उन उपायोंकी गा बजाकर पूजा करते है, व्याख्यानोंके द्वारा जगतमें उसका प्रचार करते हैं, तो क्या इन क्रियाओंसे हमारी मुक्ति हो जावेगी, कदापि नहीं।

(२२। ४। ४७)

२. आनन्दसे जीवन बिताओ। यदि कोई तुम्हारे साथ मिथ्या आचरण करे तो उसके प्रति भी समता भाव रक्खो। संसारमें तुमने जो पर्याय प्राप्त की है 'वह कर्मकृत है। सर्वथा यह मत समझो, उसमें तुम्हारा भी हाथ है। यदि तुम मोहादिरूप न परिणामो तो कौन तुम्हें बाध्य करता है? आजतक जो पर्याय पाई उसमें तुमने निजत्वकी कल्पना की, यही कल्पना संसारकी जननी है। इस कल्पनाके वश होकर तुमने जो जो अनर्थ किये उसने भी संसार लता को बढ़ानेमें जल सिञ्चनका का काम किया।

आवश्यकता है निर्मोहता रूप कुल्हाड़ी की जो इन संसारलता जालोंको काटकर मोक्षमार्ग साफ कर सके।

(२८।४।४७)

३. जगतको प्रसन्न करनेकी चेष्टा आत्माके पतनका कारण है। आत्माका पतन अपनी मुग्धता से होता है। अपनी निर्ममता ही संसारकी नाशक है।

(२८।४।४७)

४. संसार गहन वन है। इसमें जीव अपने ही विभ्रम भावसे उलझा है। वैसे विचारकर देखा जावे तो जिस भावसे इस संसार अटवीमें हम भूले हैं यदि उस भावको छोड़ देवें तो अनायास ही संसार बन्धनसे मुक्त हो सकते हैं।

(३०।७।४७)

५. जब संसारकी असारता जान ली तब ऐसा उपाय करो कि अब संसारमें न रुलना पड़े।

(६।८।४७)

६. मोक्षमार्गमें जो प्रधान कारण हैं वे आत्मा के ही स्वच्छ गुण हैं। उनका विकाश सामग्रीके सद्भावमें होगा। आकुलतासे कुछ न होगा।

(१२।९।४७)

७. हे भगवान! कब संसार समुद्रसे पार होनेका अवसर आवेगा? अवसर आना दूर नहीं, यह तो हमारे परिणामोकी निर्मलता पर निर्भर है। केवल गल्पवादसे कुछ नहीं होगा। कार्य करनेसे होता है. कोई भी कार्य संसारमें दुर्लभ नहीं।

(२३।३।४८)

८. मोक्षमार्गके इच्छुकोको सब पदार्थोंसे प्रेम हटाना चाहिये।

प्रेम हटानेके लिये अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मीय बुद्धिको त्याग देना चाहिये।

(२। ४। ४८)

९. श्रीकुन्दकुन्द महाराजने शुभोपयोगकी सदृशता अशुभोपयोगके साथ दिखाई है और युक्तिपूर्वक यह निर्विवाद सिद्ध किया कि मोक्षार्थी जीवोंको दोनों ही हेय हैं।

(८। ४। ४८)

१०. मोक्ष पथिकको न राग करना, न द्वेष करना, केवल मध्यस्थ ही रहना चाहिये।

(२२। ५। ४८)

११. श्रेयोमार्ग तो आन्तरिक कलुषताके अभावमें है।

(१३। ७। ४८)

१२. संसारकी प्रक्रिया हम लोग पर पदार्थोंसे मानते हैं। इसमें मुख्य आत्मा ही इसका कर्ता है, शेष द्रव्य अचेतन हैं, उनके अन्दर चेतना नहीं। स्वयं क्या करें ? ये भाव उन द्रव्योंके अभ्यन्तर में नहीं, सब कर्तव्य चेतनका है, संसारकी रचना इसीके परिणामोंका फल है और संसारके बन्धनसे छूटना भी इसीके परिणामोंका फल है। जिन परिणामोसे संसार होता है उनका त्याग ही मुक्तिका मार्ग है अतः परमार्थके लिये पुरुषार्थ ही कारण है।

(१३,१४ ८। ४८)

१३. कल्याणका मार्ग केवल आत्मतत्त्वके यथार्थ भेद-ज्ञानमें है। भेद-ज्ञानके बलसे ही आत्मा स्वतन्त्र होता है। स्वतन्त्रता ही मोक्ष है। पारतन्त्र्य निवृत्ति, स्वातन्त्र्योपलब्धि ही मोक्ष है। मोक्ष मार्गका मूल कारण पर पदार्थकी सहायता न चाहना है। कर्मका सम्बन्ध अनादि कालसे चला आया है उसका छूटना

परिश्रम साध्य है। परिश्रमका अर्थ मानसिक, वाचनिक, कायिक व्यापार नहीं किन्तु आत्मतत्त्वमे जो अन्यथा कल्पना है उसे त्यागना ही सच्चा परिश्रम है। त्याग विना कुछ सिद्धि नहीं अतः सबसे पहिले अपना विश्वास करना ही मोक्षमार्गकी सीढ़ी है। विश्वासके साथ ज्ञान और चारित्रका भी उदय हो जाता है; क्योंकि यह दोनो ही गुण स्वतन्त्र हैं अतः उसी कालमे उनका भी परिणमन होता है। इसलिये हमे श्रद्धा गुणकी आवश्यकता है परन्तु वह श्रद्धा सामान्य—विशेषरूपसे जब तक पदार्थोंका परिचय न हो, नहीं होती।

(२८।३।५१)

१४. पुण्य और पाप दोनो समान हैं। पुण्यके उदयमें ऐंठ और पापके उदयमे दीनता होती है। दोनो ही आत्माके कल्याणके उदयमे बाधक हैं। अतः जिन्हे आत्मकल्याण करना हो उन्हें दोनोंसे ममताभाव छोड़ना चाहिये। सोने और लोहेकी बेड़ीवत् दोनों ही बन्धनके कारण हैं. अतः मुमुक्षु जनोको दोनो ही उपेक्षणीय हैं। मनुष्य जन्मकी सार्थकता तो इसमे है कि दोनों ही बन्धन तोड़ने योग्य हैं।

(३१।३।५१)

१५. वही मनुष्य संसारसे मुक्त होनेका पात्र है जो पर पदार्थोंसे सम्पर्क त्याग दे। पर पदार्थका न तो हम कुछ उपकार ही कर सकते हैं और न अनुपकार ही कर सकते हैं। संसारमे जितने पदार्थ हैं अपने अपने गुण पर्यायोंसे पूरित हैं। उनके जो परिणमन हैं स्वाधीन है। उस परिणमनमें उपादान और सहकारी कारणका समूह ही उपकारी है परन्तु कार्य परिणत उपादान ही होता है।

(७।४।५१)

१६. सभी इस संसार वन्धनसे मुक्त होनेकी चेष्टा करते है। इसके पहिले आवश्यकता इस वोधकी है कि जो संसार वन्धनसे मुक्त होनेकी अभिलाषा करता है वह कैसा है? उसका ज्ञान होना सवसे पहिले होना चाहिये। अर्थात् जव हमको यह ज्ञान नहीं तो जिस दुःखको दूर करना चाहते हैं वह दुःख किसके अस्तित्वमे है तव उसकी निवृत्ति कैसे करेंगे? यह कठिन बात नही। आत्माका ज्ञान किसको नही, प्रायः आवाल वृद्ध सभीको निजका ज्ञान है। किसीको अनुचित शब्दोंका प्रयोग करो तो वह व्यक्ति तत्काल उत्तर देता है कि महाशय! सम्भलकर वोलिये, जो वचन आपको अनिष्ट हैं वह हमको भी तो अनिष्ट हैं, अतः आत्मज्ञानके निमित्त प्रयास करनेकी आवश्यकता नहीं। आवश्यकता इस वातकी है कि आत्मामें जो इष्टानिष्ट कल्पनाएँ होती हैं उन्हे न होने दो।

किसीकी स्त्री मर गई, वह रोने लगा। दूसरेने समझाया भैया! रोना व्यर्थ है, संसारमे ऐसी घटनाएँ तो होती ही हैं। अभी १५ दिन ही हुए हैं जव मेरी स्त्री जो कि आपकी स्त्रीसे अत्यन्त सुन्दरी थी मरी, उस समय आप क्यो न रोये?"

उसने उत्तर दिया—"उसमे मेरी निजत्व बुद्धि नहीं थी, अर्थात् उसमे मेरा मोह नही था कि यह मेरी है। मेरे रोनेका कारण यह है कि इस स्त्रीमे' यह मेरी है' ऐसी कल्पना थी। इससे सिद्ध है कि न तो आपकी स्त्री मेरी थी और न मेरी स्त्री ही मेरी थी, परन्तु दोनोमे केवल यही अन्तर है कि इसमे जो 'यह मेरी है' ऐसी कल्पना है वही दुःखका कारण है। और वह कल्पना क्यों हुई इसका कारण है कि हमारी यह जो विद्यमान पर्याय है उसमे अहंवुद्धि है! यही अहंकार ममकार संसारके उत्पादक प्रचण्ड

रजनीचर हैं। जिन्हें संसार भ्रमणसे भय है उन्हें पहिले ही इन राक्षसोंका विनाश करना चाहिये।

(२०।१।५१)

१७. निश्चयका अर्थ भूतार्थ और व्यवहारका अर्थ अभूतार्थ है। अब निश्चयसे विचार किया जावे तब रागादिक भावोंका आत्मा कर्ता है और व्यवहारसे देखा जावे तब कर्म कर्ता है। इसी तरहसे ज्ञानावरणादि कर्मोंका कर्ता निश्चयसे पुद्गल और व्यवहारके द्वारा जीव कर्ता है। यह सिद्धान्त है कि एक द्रव्य अन्य द्रव्यरूप नहीं होता। यह कहने मात्रकी बात नहीं प्रत्यक्ष भी देखनेमें आता है। जैसे मिट्टीका घट बनता है, उसमें पानी, हवा, चाक, डोरा, दण्ड, कुम्भकार आदि अनेक निमित्त होते हैं, बिना इन निमित्तोंके घट नहीं बन सकता। किन्तु जब घट बन जाता है तब उसके साथ आग,पानी, हवा, कुम्भकारादिका लेश भी नहीं रहता। इससे सिद्ध हुआ कि घटका उपादान कारण मिट्टी ही है। इसी प्रकार रागादिकी उत्पत्ति अनेक कारणोंसे होनेपर अन्तमें उनका जो उपादान था वही रह जाता है। शेष निमित्त कारण कोई नहीं रहता। जब यह निश्चय हो गया कि रागादिकी उत्पत्ति आत्मामें होती है तभी आत्मा दुःखका पात्र होता है। अतः रागादिकको मेटनेके लिये उनके होनेपर 'गले पड़े बजाय सरे' इस कहावतके अनुसार उन्हें अपनाना न चाहिये। उनमें आसक्त न हो यही बेड़ा पार होनेका उपाय है।

(१९।५।५१)

१८. परके सम्बन्धसे ही आत्मामें पर कल्पना होने लगती है। यही कल्पना आगामी तिलसे परकी कल्पना कराती है। यही कल्पना अनादिसे आजतक रही। इसमें यही प्रमाण है जो हम निरन्तर व्यग्र रहते हैं। अनेक महानुभावोंका समागम करके

भी इस महती विपत्तिसे मुक्त होनेमें विफल प्रयत्न रहते हैं। मुक्त होनेमें न तो समागम कारण है और न तीर्थ यात्राओंमें उपयोग लगाना, लाखों रुपयोंका व्यय करना भी कारण है। तीर्थ भी हमारी ही कल्पना है, जिसके द्वारा संसार समुद्रसे तिर जावे इसीको तो तीर्थ शब्दसे व्यवहार करते हैं। अब बताओ क्या गया, काशी आदि स्थानोंको स्पर्श करनेसे आत्मा संसारके पापोंसे मुक्त हो सकता है? अथवा साक्षात् तीर्थ भगवान् अर्हन्तदेवकी वन्दनासे मुक्त हो सकते हैं? भगवान् तीर्थकृतदेवके वन्दन आदि कार्योंसे पुण्यवन्ध ही तो होगा? संसारवन्धनसे मुक्त होनेका मार्ग तो उन्ही भगवानने निर्दिष्ट किया है। यदि संसार वन्धनसे मुक्त होनेकी अभिलापा है तब जो परिणाम संसारके जनक हैं उन्हे त्यागो। संसारका कारण योग और कपाय हैं इन्हे त्यागो। निश्चल हो, निष्कषाय हो, यही मुक्तिमार्ग है, और कुछ नहीं।

(२५।५।५१)

११. परमार्थ पथ केवल आत्माकी एक पर्याय है जो परमार्थका उत्पादक है। 'परमार्थका उत्पादक' यह भी व्यवहार है। व्यवहार वहीं होता है जहाँ अन्यकी अपेक्षा की जाती है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीनो धर्म व्यवहारसे मोक्षमार्ग है, निश्चयसे तो एक आत्मा ही मोक्षमार्ग है। जिस समय यह संसारका कारण होता है उस समय इसका परिणमन मोह रागद्वेपरूप रहता है। जब मोक्षमार्गमें जाता है तब वे परिणमन सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप हो जाते हैं। यहाँ पर गुण और गुणी यह दोनों व्यवहार अपेक्षा नाम हैं। इनमे प्रदेश भेद नहीं। केवल संज्ञा संख्या प्रयोजनादि भेदसे भिन्नता आत्मा और गुणमे है। हम अनादिसे पर पदार्थके सम्बन्धसे इस संसारकी विडम्बनाको अपना मान किस तरह व्यग्र और दुःखके पात्र बन रहे हैं जो किसीसे

गुप्त नहीं। हमारी प्रकृति इतनी कायर हो गई है कि निरन्तर पर-पदार्थोंके द्वारा सुखी बनना चाहते हैं। सुख की उत्पत्ति तो इस द्वन्द्व दशासे मुक्त होने पर ही होगी।

(२।६।५१)

२०. बहुत कम बोलो, व्यर्थ चिन्ता मत करो, मोह त्यागो, यही ध्यान करनेका मूल उपाय है। ध्यान संसार और मोक्षका मार्ग नहीं। पर पदार्थोंमें जो आत्मकल्पना है वही संसारकी जननी है। जहाँ परसे सम्बन्ध विच्छेद हो गया, अनायास ही मुक्ति मार्गके पथिक होनेका सुअवसर आगया।

(३।६।५१)

२१. सर्वदा प्रसन्न रहो, मोक्षमार्ग इसके बिना नहीं मिलता। प्रसन्नतासे ही विशुद्धताका उदय होता है। विशुद्धता बिना किसी उत्तम कार्यमें उपयोग नहीं लगता।

(५।७।५१)

२२. आत्माकी महिमा अचिन्त्य है। इसने इतना भयङ्कर उत्पात किया कि बहुज्ञानी भी प्रायः इसका निर्वचनकर अशान्त रहते हैं। निर्वचनसे ही शान्ति नहीं मिलती और न आत्मज्ञानसे ही शान्ति मिलती है। निर्वचन शान्तिका कारण नहीं, निर्वचन तो द्रव्यश्रुतके द्वारा प्रायः बहुतसे पण्डित कर देते हैं। आत्माका ज्ञान होनेसे शान्ति हो यह भी नहीं देखा जाता। आत्मज्ञान किसको नहीं? किसीको कुछ कहो, तत्काल ही वह समझ जाता है कि अमुक ने हमको यह कहा। यही तो स्वपरविवेक है। परन्तु इसमें कुछ त्रुटि है जिससे यह होकर भी शान्ति नहीं पाता। वह क्या है? आगममें इसे रागद्वेष कहा है, राग माने प्रीतिरूप परिणाम और द्वेष माने अप्रीतिरूप परिणाम। यही परिणाम तो अशान्तिके उत्पादक हैं। प्रत्येक प्राणी इनको अशान्तिका हेतु जान

पृथक् करना चाहता है परन्तु दूर नहीं कर सकता। इसका जो कारण है, उसे दूर करनेवाला जो है वही मोक्षमार्गका पात्र है। अन्यथा कितना ही विद्वान् हो, त्यागी हो, तपस्वी हो, मोक्षमार्ग-का पात्र नहीं हो सकता। और न जो विद्वान् है, न त्यागी तपस्वी है किन्तु जिसने रागद्वेषके मूल कारणपर विजय प्राप्त कर ली है वही मोक्षमार्गका अधिकारी है।

(११।७।५१)

२३. आपको जानो, परको अपना मानना छोड़ दो यही संसार उच्छेदका कारण है। आपको क्या जानें ? आपको आपही मानो, परको अपना मानना छोड़ दो।

(१९।९।५१)

२४. परसे सम्बन्ध रखना ही संसारका मूल कारण है। यद्यपि बन्धावस्थामें हम अनादिसे हैं और उससे पृथक् होना प्रायः कठिन है। परन्तु जब सब पदार्थ आत्मीय आत्मीय स्वरूपसे पृथक् हैं तब उनमें पृथकता करना ही मूल है। उनमें एकत्व माननेकी जो प्रणाली हम स्वीकार किये हैं उसे त्यागना ही मोक्षका उपाय है।

(२२।९।५१)

"तदा बन्धो यदा चित्तं सक्तं कास्वपि दृष्टिषु।
तदा मोक्षो यदाचित्तमसक्तं सर्वदृष्टिषु॥"

२५. जब तक यह चित्त किसी दृष्टि या मतमें आसक्त है तब तक ही बन्ध है। जिस समय यह मन सर्व मतोंमें अनासक्त हो जाता है उसी कालमें आत्माका मोक्ष है।

(२।१०।५१)

"मुक्तिमिच्छसि चेत् तात! विषयान् विषवत्त्यज।
क्षमार्जवदयाशौचसत्यं पीयूषवद्भज॥"

२६. हे तात ! यदि आप मुक्तिकी अभिलाषा रखते हो तो विषयोंको विषके सदृश जान त्याग करो और क्षमा, आर्जव, परजीवानुकम्पा, पवित्रता तथा सत्य धर्मको अमृतके सदृश सेवन करो। यद्यपि जिन जीवोने पञ्चेन्द्रियके विषयमे अनुराग त्याग दिया उनके शेष धर्म अनायास ही आ जाते हैं। जैसे जल अग्निके सम्बन्धको पाकर उष्ण हो जाता है। जहाँ उष्णपना निकल जाता है जलका स्वाभाविक शीतगुण स्वयमेव प्रगट हो जाता है। इसी तरह जब आत्मामे विषय सेवनकी अभिलाषा मिट जाती है अनायास आत्मश्रद्धा, ज्ञान और चारित्र स्वयमेव व्यक्त हो जाते हैं। स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्द यह पुद्गलके गुण पर्याय हैं। अज्ञानी आत्मा इन विषयोंको अपने जान सेवन करता था। जिस कालमे इन विषयोंको त्यागा; जो इनमे अभेदबुद्धि थी स्वयमेव अनायास विलीन हो गयी। जिनको पर जाना तभी तो उनमे रागादिकका अभाव है। राग ही तो आत्माके चारित्र गुणका घातक था। रागादि जानेसे अनायास वीतरागताका विकाश हो गया। वीतरागताके विकाश होते ही आकुलतारूप विकार भी आपसे आप चला गया तब आत्माका हित जो सुख है स्वयमेव मिल गया।

(१४।१२।५१)

सम्यग्दर्शन

१. सम्यग्दर्शन जिसके हो जाता है उसके समता, क्षमता, आर्जव, सत्यधर्मका उदय हो जाता है तथा साथ ही शौच गुणका उदय होता है जिसके होनेपर लोभकी मात्रा कम हो जाती है। अतः उसे हम जघन्य साधु कह सकते हैं। शेष तप, त्याग आकिंचन

ब्रह्मचर्य जहाँपर होते हैं वहाँ साधुकी पूर्णता हो जाती है। साधुपना कहींसे आता नही। जहाँपर आत्मा स्वयं स्वकीय परिणामोके द्वारा स्वको स्वके अर्थ स्वमे स्वको अङ्गीकार करता है वहीं सिद्धपदभाक् हो जाता है। सिद्धका स्मरण कालान्तरमे सिद्ध पदका पात्र बना देता है। अर्हद्भक्ति, प्रवचनभक्ति, धर्मानुराग, त्याग, तप आदि तो आश्रवके कारण हैं। अर्हद्भक्ति तीर्थङ्कर पद-प्राप्तिमे कारण पड़ती है किन्तु सिद्धभक्ति साक्षात् मोक्षजनक है। तीर्थङ्करदेव सिद्धभक्ति ही का अवलम्बन करते हैं। अर्हद्भक्ति और सिद्धभक्तिमे अन्तर है, अर्हद्भक्तिमे तीर्थङ्करके समवशरणादि भी आते है, सिद्धभक्तिमे केवल आत्मपरिणति ही है।

परमार्थसे सम्यग्दृष्टि ही धर्म, अर्थ, काम पुरुपार्थोंका पात्र है। यह त्रिवर्ग जहाँपर एक साथ हो वही शोभा है। जहाँ धर्म हो वहाँ काम और अर्थ, और जहाँ काम, अर्थ हों वहाँ धर्म हो तब तो इनकी गणना पुरुषार्थोंमे है अन्यथा इनका नाम पुरुषार्थ नहीं, संसारवर्धक ही हैं। धर्मके अर्थ जहाँपर अर्थ और काम हो वे तो उपयोगी हैं और जहाँ केवल अर्थोपार्जनकी मुख्यता है, काम सेवन केवल विपय लिप्साके लिये हो तब वे दोनो पुरुपार्थ संसार वर्धक ही हैं। जहाँपर केवल धनार्जनकी ही मुख्यता है उसके न तो धर्म ही होता है और न काम। तथा जहाँ केवल पुण्यकी मुख्यतासे धर्म कमाया जाता है वह धर्म केवल संसार हीका पोपक है। पुण्य केवल आत्माकी स्वपरिणति नही, विकृत परिणति है। उससे आत्मगुणके विकाशकी क्षति रहती है। प्रथम तो पुण्य परिणाममे परावलम्बन ही रहता है, शुद्ध संप्रयोगसे केवल पुण्य बन्ध ही होता है। परोपकार करनेमे जो भाव होते हैं वे भी परावलम्बी भाव हैं। जहाँ परकी अपेक्षा न रहे और आत्माकी मिथ्या परिणति एकदम चली जावे वहीं पर आत्मा निर्विकल्प हो जाता है।

स्वाश्रय परिणतिके होनेसे शान्त भावका अनुभव करता है। वही परिणति उपादेय है।

(२३।८।५१)

२. संवर पूर्वक जो निर्जरा होती है वही मोक्षमार्गमे उपयोगिनी है। वह निर्जरा सम्यग्दृष्टिके ही होती है। बन्ध फलानुभवन ही निर्जरा है। वह फल चाहे सम्यग्दृष्टि हो चाहे मिथ्यादृष्टि हो भोगना पड़ता है। किन्तु मिथ्यादृष्टिके रागादिक भावोके सद्भावसे बन्धका निमित्त हो जाता है और सम्यग्दृष्टिके समग्र भोगोमे रागादि भावोके न होनेसे निर्जराका निमित्त हो जाता है। यह सामर्थ्य ज्ञान और वीतरागताकी है। ज्ञानकी सामर्थ्य अचिन्त्य है। जैसे कोई विप वैद्य विप खाकरके अमोघ विद्याके प्रसादसे मरणको प्राप्त नहीं होता एवं सम्यग्दृष्टि जीव पूर्व कर्म द्वारा आगत विषयोंको भोग करके भी बन्धको प्राप्त नहीं होता। यह उसके ज्ञानका बल है। सम्यग्दृष्टि होनेके अनन्तर ऐसी निर्मल आत्मा हो जाती है कि फिर संसार बन्धनसे विमुक्त हो जाता है।

(८।१२।५१)

३. सम्यग्दर्शनमें परको निज माननेका अभिप्राय मिट जाता है। पश्चात् सबको त्याग स्वात्मामे लीन हो जाता है। अतः जिनके वह हो गया उनके सभी कार्य सम्पन्न हो गये क्योंकि आत्माका हित मोक्ष है। मोक्षका उपाय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र है अतः सब द्वन्द्वको छोड़ इसीमें लगो।

(१२।१२।५१)

ज्ञान गुण राशि

१. ज्ञान गुण वास्तवमें प्रकाशक है। जो वस्तु इसके समक्ष आती है वह उसके निमित्तको पाकर अपने स्वरूपमे उसका भान

करने लगता है। परमार्थसे न तो कोई कहीं जाता है और न कोई किसीका कर्ता-धर्ता है व्यवहारिक प्रवृत्तिमे यह सब होता है।

(१५।८।४८)

२. ज्ञानादि गुणोंका विकाश ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है परन्तु क्षयोपशमके होनेपर यदि मोहोदय मन्द न हुआ तब उस ज्ञानसे यथार्थ लाभ नहीं।

(२७।१०।४८)

३. ज्ञानका विकाश क्षयोपशमाधीन है। सम्यक्त्व मिथ्यात्व ज्ञानमे जो व्यपदेश होता है वह परकृत है। सामान्य ज्ञानमें जाननेकी मुख्यता है।

(२९।१०।४८)

४. शिक्षाका उद्देश्य शान्ति है। उसका कारण आध्यात्मिक शिक्षा है। आध्यात्मिक शिक्षासे ही मनुष्य ऐहिक एवं पारलौकिक शान्तिका भाजन हो सकता है।

(२२।१२।४८)

५. धार्मिक शिक्षा किसी सम्प्रदाय विशेष की नहीं। वह तो प्रत्येक प्राणीकी सम्पत्ति है। उसका आदरपूर्वक प्रचार करना राष्ट्रका मुख्य कर्तव्य है। जिस राष्ट्रमे उसके बिना केवल लौकिक शिक्षा दी जाती है वह राष्ट्र न तो स्वयं शान्तिका पात्र है और न अन्यका उपकारी हो सकता है। धार्मिक जीवनके लिये धार्मिक शिक्षाकी मुख्य आवश्यकता है।

(२३, २४।१२।४८)

६. आजकल भौतिकवादके प्रचारसे संसारका संहार हो रहा है। इसका मूल कारण एकाङ्गी शिक्षा है। यदि इसका मिश्रण आध्या-

त्मिक शिक्षाके साथ किया जाय तो अनायास ही जगतका कल्याण हो जावेगा।

(३०।१०।४८)

७. ज्ञानार्जन करना मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है। हम मनुष्य हैं, ज्ञानके बिना हमको यह निश्चय नहीं होता। आत्माके अन्दर ज्ञान ही एक ऐसा गुण है जो सब गुणोंकी व्यवस्था करता है। ज्ञान ही हमको यह जनाता है कि अग्नि उष्ण और जल शीत होता है। अग्निके निमित्त मिलनेपर जल उष्ण हो गया और वर्तमानमें जल उष्ण है। यदि इसका स्पर्श किया जावे तब जल गर्म ही होगा। फिर भी जलकी उष्णता अग्निकी उष्णतासे भिन्न है। इस उष्ण जलमे चावल गलनेसे चावल खिल जावेंगे, और अग्निमें चावल डालनेसे चावल भस्म होजावेंगे। इससे सिद्ध हुआ कि जलकी उष्णता और अग्निकी उष्णतामें भिन्नता है। इसी तरह आत्मामें मोहनीय कर्मकी राग प्रकृतिका जब उदय आता है तब आत्मा उसके उदय कालमें रागरूप परिणति करता है किन्तु प्रकृतिके राग और आत्माके रागमें अन्तर है। आत्माका राग चेतन द्रव्यका परिणाम है और पुद्गलमें जो राग है वह अचेतनका परिणाम है। हमारेमें जो राग है वही हमें संसार चतुर्गतिमें भ्रमण कराता है।

(२७।९।५१)

८. आत्मा चैतन्य गुणवाला है। चेतना वह गुण है जो सबकी व्यवस्था करता है। व्यवस्था करनेवाला ज्ञान नहीं, ज्ञान तो जाननेवाली शक्ति है। उसमें वस्तु प्रतिभासित होती है, 'यह असुक है, यह अमुक है', यह व्यवस्था इन्द्रियजन्य ज्ञानमें होती है। वहाँ भी मोह ही कारण है। अतीन्द्रिय ज्ञानमें यह कुछ

नहीं। इन्द्रियजन्य ज्ञानमें रसना इन्द्रियसे जब यह रसका ज्ञान करता है उस समय हमको यह विवेक नहीं कि यह रस है, यह ज्ञान है। खिचड़ी भोजनके समय खानेवालेसे यह पूछो कि चावलका स्वाद क्या है? तथा उसमें डला हुआ घीका स्वाद क्या है? मिश्र स्वाद ही उसके ज्ञानका विषय है। यद्यपि चावल भिन्न है, दाल भिन्न है, नमक भिन्न है, घी भिन्न है, परन्तु फिर भी तीनोके मेलसे पक जो खिचड़ी है उसका मिला हुआ स्वाद ही खानेवालेके ज्ञानका विषय है; क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञानकी यह शक्ति नही जो केवल पदार्थका स्वरूप बता सके। अतीन्द्रिय ज्ञान ही की यह सामर्थ्य है कि जैसा वह पदार्थ है उसे अखण्डरूपसे वैसा ही जानता है।

(२१।८।५१)

६. वर्तमान कालमे इस देशमे पश्चिमी शिक्षाका प्रचार विशेष रूपसे हो रहा है। इससे जनसमुदाय अपनी सन्तानको पश्चिमी शिक्षा देनेमें ही कटिबद्ध रहते हैं। जो बालक बाल्यावस्थासे पश्चिमी शिक्षाका अभ्यास करते हैं वह सबसे पहिले तो जबतक अंग्रेजी मिडिल उत्तीर्ण करते हैं तबतक तो कभी मन्दिरके दर्शन कर लेते हैं क्योंकि माँ बापकी डाँट और कुछ लौकिक संस्कार उस दर्शन क्रियामे प्रयोजक हो जाता है। जब मैट्रिकमें गये तब कुछ तो उनकी अवस्था प्रौढ़ हो जाती है, कुछ अन्तरङ्ग शक्तिका विकास हो जाता है अतः वह आलाप करने लग जाते हैं कि मन्दिर जानेमे कुछ विशेष शान्ति नहीं, इसलिये हमको यह ढोंग पसन्द नहीं, जो वस्तु न रुचे उसमे काल लगाना व्यर्थ है। दूसरा तर्क यह देते है कि हमको इतनी पाठ्य पुस्तकोंका अध्ययन करना पड़ता है कि समय ही नही बचता। तीसरी दलील यह है कि रूढ़िवाद हमको नहीं रुचता। अथवा यह उत्तर देते हैं कि जैनधर्मका यह सिद्धान्त है कि—

'मनमें हो सो वचन उचारिये।
वचन होय सो तन सों करिये॥"

अतः हमारी श्रद्धा धर्ममें नहीं अतः हम मन्दिर जाना उचित नहीं समझते। जिस प्राचीन शिक्षाका बाल्यकालमें यह पात्र होता था उसका आदर्श है—

'अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥"

'यह अपना है, यह पराया है' ऐसा भेद तो अनुदार हृदय वाले ही करते हैं। जो उदार हृदय हैं उनके लिये तो सारा संसार ही कुटुम्ब है।

(२७, ९।५।१०।५१)

१०. ज्ञान गुण ही आत्मामें ऐसा है जो सब गुणोंकी व्यवस्था करता है तथा अपने स्वरूपकी भी व्यवस्था करता है। यदि ज्ञान गुण न हो तब किसीकी व्यवस्था नहीं बन सकती। ज्ञान ही इस परम शक्तिको लिये है जो परकी व्यवस्था करता है और अपनी भी व्यवस्था करता है। हम परसे भिन्न हैं इसका नियामक ज्ञान ही है। घट-पट-स्तम्भ इस सब व्यवस्थाका नियामक ज्ञान ही है। ज्ञान ही दर्शनसे भिन्न हम हैं, ज्ञानसे भिन्न चारित्र है, इत्यादि व्यवस्था बनाये हुए है। यह वीतरागी है, यह सरागी है, यह मूर्ख है, यह पण्डित है, यह विष है, यह अमृत है, हम चेतन हैं, आदि सब व्यवस्थाका नियामक ज्ञान ही है।

(१२।११।५१)

११. संसारमें ज्ञानके बिना कोई कार्य नहीं होता। यदि हमको ज्ञान न हो तब हम अपना हित नहीं जान सकते। हमारा क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है, यह भक्ष्य है, यह अभक्ष्य है, यह

मां है, यह बहिन है, यह भ्राता है, यह सुत है, यह पिता है इत्यादि जितने व्यवहार हैं सब लोप हो जावेंगे। अतः आवश्यकता ज्ञानार्जनकी है। ज्ञानका अर्जन गुरु द्वारा होता है इसीसे गुरुकी सुश्रूषा करना हमारा कर्तव्य है। विना गुरुकी कृपाके हमारा अज्ञानान्धकार नहीं मिट सकता। जैसे सूर्योदयके विना रात्रिका अन्धकार नहीं जाता इसी प्रकार गुरुके उपदेश विना हमारा अज्ञान दूर नहीं हो सकता। यही कारण है कि गुरुको हम माता पितासे भी अधिक मानते हैं। माता पिता तो जन्म देनेके ही निमित्त हैं किन्तु गुरु हमको इस योग्य बना देते हैं कि संसारके सब कार्य करनेमें हम पटु बन जाते है। आज संसारमे विद्यागुरु न होता तो हम पशु तुल्य हो जाते।

(२३।१२।५१)

स्वाध्याय

१. स्वाध्यायसे चित्त प्रसन्न होता है। वस्तुका यथार्थ निश्चय होता है। चित्तमे विकल्पकी उत्पत्ति नहीं होती। गल्पवादमे काल नहीं जाता। अतः सब विकल्पोको त्याग स्वाध्यायमें मन लगाओ।

(२४।४।४७)

२. हम निरन्तर शास्त्रप्रवचन करते हैं, सुनते हैं परन्तु जो बात होनी चाहिये उससे वञ्चित रहते है। जिस समय शास्त्रको सुनते है एकदम संसारके पदार्थोंमे उपेक्षा आ जाती है। ऐसा प्रत्यय होता है वास्तवमें उपेक्षा हो जावे तब कहाँ जावे ? सुननेसे कर्ण द्वारा तृप्ति आ जाती है पर यह तृप्ति भी अज्ञान निवृत्तिसे ही होती है।

(२४।६।४७)

३. शास्त्र पढ़ना उसीका हितकर होता है जो स्वयं उस पथपर चलता हो। आगममें लिखा है तो वह व्यक्ति जो बुद्धिमान होता है आगमको रचकर लोगोको उसका अर्थ व्यक्त कर देता है परन्तु जो मार्ग शास्त्रमें निहित है उसपर अमल करना हरएकका काम नही।

(२८।६।४७)

४. परिणामोको कलुपित मत करो यही तो शास्त्रको पढ़नेका फल है। किसीकी प्रकृति देखकर दुखी मत होओ। तुमको क्या अधिकार है जो पराई प्रकृतिको संक्रमण करा सको? संसारमे अनन्त पदार्थ हैं। स्वकीय स्वकीय परिणमन द्वारा अनादि कालसे स्वतन्त्र होकर चले आ रहे हैं। व्यर्थकी कल्पनाएँ कर संक्लेशित होओ तो होओ पर इससे तुम्हारी भूलको मिटानेवाला कोई नही।

(२९।६।४७)

५. प्रवचनका लाभ उसीको होता है जो उतने काल तक उपयोगको स्थिर रखता है। परिणामोकी चञ्चलताका बाधक कपायके कारणोसे विरक्तता है। कपायके कारण अनात्मीय पदार्थोमें आत्मज्ञान तथा पञ्चेन्द्रियके विपयकी लोलुपता है। इसपर विजय पाना कठिन है।

(१५।७।४७)

६. प्रवचनका लाभ तो यह है कि यथाशक्ति उपयोगको निर्मल बनाना। उपयोगकी निर्मलता कपायके मन्दभावमें है।

(१८।७।४७)

७. शास्त्र प्रवचन और बात है अन्तरङ्गकी श्रद्धा और बात है। श्रद्धाके अनुकूल प्रवृत्ति हरएककी नही होती, ऊपरके वगुलाभक्त हंस नहीं हो सकते।

(२३।७।४७)

८. आभ्यन्तर ज्ञान होनेकी महती आवश्यकता है। आगमाभ्यास ही अभ्रान्त ज्ञान होनेका मुख्य उपाय है। अतः निरन्तर आगमाभ्यास करो। गल्पवाद ज्ञानका बाधक है।

(६।८।४७)

९. आत्महित ज्ञानार्जनसे होता है उसके अर्थ अलगसे परिश्रम नही करना पड़ता। आत्मज्ञानका मूल आगमाभ्यास है।

(१८।८।४७)

१०. स्वाध्यायसे स्वपरविवेक होता है, स्वपरविवेक ही पर पदार्थोंमे मूर्च्छा त्यागका कारण है। अनादि कालसे यही नहीं हुआ इसीसे हमारी बुद्धि अनात्मीय पदार्थोंमे उलझी रही।

(१२ । ४ । ४८)

११. स्वाध्यायका यह तात्पर्य है कि अपनेको परसे भिन्न मानना तथा उसमें जो भाव संक्लेशकारक हों उनका त्याग करना। पहिले तो विषयोंमे जो लिप्सा है उसे दूर करो, पश्चात् जिन भावोंसे यह लिप्सा होती है उन्हें त्यागो।

(१६ । ५ । ४८)

१२. स्वाध्याय परम तप है। जिसने स्वाध्याय किया वह संसार बन्धनसे मुक्त हो गया। स्वाध्यायका अर्थ यह है कि आत्माको परसे भिन्न जानना, भिन्न जानकर परमें रागादि न करना, रागादि ही आत्माको संसारमे रक्खे है।

(१८।५।४८)

१३. शास्त्र प्रवचनका प्रयोजन अपने रागादि परिणामोकी कृशता और श्रोताओंको ज्ञानलाभ है।

(२८।७।४८)

१४. वाचना और पृच्छना यह स्वाध्यायके अङ्ग हैं। स्वाध्याय संज्ञा तपकी है, तपका लक्षण इच्छानिरोध है अतएव तप

निर्जराका कारण है। वैसे देखा जावे तो स्वाध्यायमें तत्त्वबोध होता है तथा सुननेवाला भी इसके द्वारा बोध प्राप्त करता है। बोधका फल न्याय ग्रन्थोंमें हानोपादानोपेक्षा तथा अज्ञाननिवृत्ति बतलाया है। तदुक्तं—

"उपेक्षाफलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः।
पूर्वाज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे॥"

केवलज्ञानका फल उपेक्षा है शेष चार ज्ञानोंका फल हान और आदान कहा है अर्थात् हेयका त्याग और आदेयका ग्रहण। यहाँपर यह आशङ्का होती है कि ज्ञान चाहे पूर्ण हो चाहे अपूर्ण हो, उसका फल एक तरहका ही होना चाहिये। तब जो फल केवलज्ञानका है वही फल शेष चार ज्ञानोंका होना चाहिये। इसीसे श्री-समन्तभद्राचार्यने शेष चार ज्ञानका फल वही लिखा—'पूर्वा' इत्यादि। यहाँ पर पुनः शङ्का होती है कि उपेक्षा तो मोहके अभावमें बारहवें गुणस्थानोंमें हो जाती है, केवलज्ञान तेरहवें गुणस्थानमें होता है अतः केवलज्ञानका फल उपेक्षा उचित नहीं और शेष चार ज्ञानका फल आदान हान भी उचित नहीं, क्योंकि आदान और हान मोहके कार्य हैं इससे ज्ञानोंका फल अज्ञान निवृत्ति ही है

(१६।२।५१)

१५. स्वाध्यायका फल केवलज्ञानकी वृद्धि नहीं है किन्तु स्वात्मतत्त्वको स्वावलम्बन देकर शान्तिमार्गमें जाना मुख्य ध्येय है। आजकल हमारी प्रकृति इस तरहसे दूषित हो गई है कि ज्ञानार्जनसे हम संसारमें अपनी प्रतिष्ठा चाहते हैं, संसारसे मुक्त होना नहीं चाहते। अन्यको तुच्छ और अपनेको महान् बनानेके

लिये उस ज्ञानका उपयोग करते है। जिस ज्ञानसे भेदज्ञानका लाभ था आज उससे हम गर्तमे पड़ना चाहते है।

(९।७।५१)

१६. अध्ययन, मनन करनेका इतना ही तो प्रयोजन है कि परसे भिन्न आपको मानो, तथा आपमे जो अनुचित परिणाम हैं जिनसे आत्माको कष्ट पहुँचता हो उन्हे त्यागो।

(२६।७।१)

१७. यदि हम परमार्थसे स्वाध्यायके प्रेमी हो जावें तब अनायास ही संसार वन्धनके क्लेशसे मुक्त हो सकते हैं।

(२२।१२।५१)

संयम

१. संयम ही आत्माको कल्याणपथमे सहायक है। संयमका यह अर्थ है कि पञ्चेन्द्रियोके विषयोसे विरक्त रहना, मनके विकल्प मेटना। किसीको प्रसन्न करनेसे संयमकी रक्षा नही हो सकती। संयमकी रक्षा निरपेक्षतासे हो सकती है।

(८।८।४८)

२. मनुष्य जन्मकी सफलता संयमसे है।

(५।११।४८)

भक्ति

१. श्रीजिनेन्द्रदेवकी अर्चाकर लौकिक पदार्थोकी याञ्चा नहीं करनी चाहिये। यदि लौकिक पदार्थोकी वाञ्छासे भगवत् भक्ति की जावे तव वह जवरन अपनेको संसार वन्धनका पात्र बनाती है। विचारो तो सही सूत्रकारने जो मङ्गलाचरण आरम्भमे किया है उसमें तो लिखा है—

"मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥"

अर्थात जो मोक्षमार्गका नेता है, और कर्मरूप पर्वतोंका भेत्ता तथा विश्वतत्त्वका ज्ञाता है उसके गुणोंकी प्राप्तिके लिये उसको मैं वन्दना करता हूँ। यह आप्तको नमस्कार किया है। तत्त्वदृष्टिसे देखा जाय तो उसका मूल गुण ज्ञाता-दृष्टा है। कर्मभृद्भेतृत्व और मोक्षमार्गनेतृत्व यह दोनो तो सम्बन्धसे हैं। कर्म पर्वतोंका मोहादि द्वारा सम्बन्ध था. मोहका अभाव होनेसे उसका अभाव स्वयमेव हो जाता है। एवं दर्शनविशुद्धि भावनासे तीर्थकृत नाम प्रकृतिका सम्बन्ध हो गया था उसके उदयमें मोक्षमार्ग नेतृत्व हो जाता है। वास्तवमें यह आत्माका कोई गुण नहीं। यदि यह गुण होता तब कर्मोंका वियोग होनेपर भी इसका अस्तित्व पाया जाता अतः वास्तव गुण तो आत्मामें ज्ञातृत्व ही है।

(२७।८।५१)

२. जब यह सिद्धान्त निर्विवाद और अकाट्य है कि सभी पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें परिणमन कर रहे हैं, एक पदार्थके गुण दूसरे पदार्थमें नहीं जाते तब परमात्मासे वीतरागताकी आशा करना व्यर्थ है। परमात्मा हमसे भिन्न है तब उसके गुण हममें आवेंगे यह बुद्धिमें नहीं आता। जैसे मिट्टीसे घट उत्पन्न होता है तब मिट्टी द्रव्य और मिट्टीके गुण घटमें आते हैं, बनानेवाला जो कुम्भकार है उसका आत्मा तथा उसके गुण घटमें नहीं आते। इसी तरह परमात्मा अन्य पदार्थ है, हम अन्य पदार्थ हैं. ऐसी वस्तुमर्यादा नियत है तब उसमें जो गुण धर्म हैं वे अन्यत्र नहीं जा सकते। अतः इस भावको लेकर परमात्माकी उपासना नहीं करनी चाहिए कि हम परमात्माकी उपासना कर परमात्मा हो जावेंगे।

किन्तु यदि हम अपनी परिणतिको मिथ्या श्रद्धान-ज्ञान-चारित्रसे मलिन होनेसे बचाये रख सकें तो हम नियमसे निर्मल आत्मा बन सकते हैं। इसका यह भाव है कि यदि हम इन पराधीन अन्ध विश्वासोका त्याग कर दें तो आज ही इन अनन्त यातनाओसे अपनी रक्षा कर सकते हैं। परन्तु यहाँ तो अनादिसे मिथ्या विश्वासकी मदिरा पानकर हम इतने उन्मत्त हो रहे है कि उन निर्मल भावोकी ओर हमारा ध्यान भी नहीं जाता।

(१६।१०।५१)

मानव-धर्म

१. जैनधर्म (मानवधर्म) की प्रक्रिया इतनी स्वाभाविक है कि इसका अनुसरण कर जीव ऐहिक पारलौकिक दोनो प्रकारके सुखसे वञ्चित नहीं हो सकते। देखिए जैनधर्ममें यह कहा है कि जितने पदार्थ हैं सब भिन्न सत्ताको लिये हुए है। तब जब दूसरा पदार्थ हमारा नहीं है तब उसमे हमारा ममत्व परिणाम न होगा। ममता परिणाम ही बन्धका जनक है। अगर पर पदार्थमें निजत्व कल्पना न हो तब असत्य, चोरी, व्यभिचार, परिग्रह, हिंसादिभाव स्वयमेव विलय जावें। हम दूसरे पदार्थको तुच्छ देखते हैं, घृणा करते हैं, इसका मूल कारण यही है कि हमने अपने स्वरूपको नहीं जाना। कोई पदार्थ न तो बुरा है, न भला है। हम अपनी रुचिके अनुसार उसके विभाग करते है। जैसे देखो जिस समय शौचादिकको जाते हैं और मलोत्सर्ग करते हैं, मलको धोकर मृत्तिकासे हस्त प्रक्षालन करते हैं, वही मल शूकर खा जाता है क्या वह जीव नहीं है? परन्तु उस पर्यायमें इतना विवेक नही जो वह उसको त्यागे तथा वही जीव चाहे तो उत्तमगतिका भी पात्र हो सकता है। ऐसी कथा आई है कि एक सिंह मुनिको मारनेके लिये चला, शूकरने

मुनि रक्षाके लिये सिंहका साक्षात्कार किया, दोनो मर गए। शूकर स्वर्ग और सिंह नरक गया।

(१६।६।५१)

२. किसीसे यद्वा तद्वा व्यवहार मत करो। रागके वश हो अन्यके अनुकूल प्रवृत्ति मत करो। पञ्च परमेष्ठीसे स्नेह करो। इसका अर्थ यह है कि उनके जो गुण हैं उन्हे अपनाओ। उनके गुण क्या हैं? जो हमारी आत्मामे हैं वही उनकी आत्मामे है। उनसे हम गुणोमे न्यून नही। केवल विकाशकी न्यूनता है। हमारे गुणोका परिणमन विकृत है उनके गुणोमे विकार नही, यही अन्तर है। विकार मोह रागद्वेप ही है, यही संसारका साधक है। इसके दूर करनेके अर्थ पूर्व ऋपियोंने ४ अनुयोगकी रचना की है। प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग। इनका अभ्यास हमे निरापद स्थानमे ले जानेका निमित्त है। द्रव्यानुयोग द्वारा जीव अजीव तत्त्वका यथार्थ बोधहो जाता है। इसके होते ही हम आत्माके विकासमे चेष्टा करते हैं। जीव तत्त्वका निर्णय होनेके अनन्तर जब हम चरणानुयोगकी ओर आते हैं तब जीवमे होनेवाले परिणाम जो क्रोध, मान, माया लोभादि होते हैं उनके कारणोको जान लेते हैं। अमुक कपायके उदयसे यह भाव हुआ, जब इस भावके द्वारा हम दुःखी होते हैं तब चरणानुयोग हमे शिक्षा देता है अमुक व्रतका पालन करो, ये दुर्गुण तुम्हारे अनायास चले जावेंगे। यह सब होनेपर भी कोई दृष्टान्त हमारे सामने आना चाहिये तब प्रथमानुयोग पदवीधर पुरुषोंकी साक्षी देकर हमे विश्वास दिलाता है कि अमुक व्यक्ति व्रतोका पालनकर उत्तम गतिके पात्र बने अमुक व्यक्ति व्रतभङ्गकर नरकगतिके पात्र बने।

(२२।६।५१)
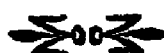
सफलताके साधन

१. किसी कार्यके करनेका जो निश्चय करो उसे सहस्रों बाधाएँ आनेपर भी न छोड़ो। यदि उस निश्चयसे आत्मघात होता हो और आत्मा साक्षीभूत होता है तब उसे छोड़ दो। परकी बात वहीं तक मानो जहाँ तक स्वार्थमें बाधा न आवे। स्वार्थसे तात्पर्य निरीहवृत्तिसे है। आत्माका स्वार्थ यही है कि परसे भिन्न है, एक परमाणुमात्र भी आत्मीय नही यही भावना दृढ़ होना। जब एक परमाणु भी अपना नही तब स्वर्गादि सुखोके लिए परमेश्वरकी उपासना करना विफल है।

(३।५।४७)

२. मेरा निजी अनुभव है जो मनुष्य धीर नही वह मनुष्य किसी कार्यमे सफलीभूत नहीं हो सकता। मै जन्मसे अधीर हूँ अतः मेरा कोई भी कार्य आज तक सफल नहीं हुआ। पर्याय बीत गई परन्तु पर्यायबुद्धि नही गई। पर्याय नश्वर है यह प्रतिदिन पाठ पढ़ते है परन्तु इससे कोई तत्त्व नही निकलता। तत्त्व तो जहाँ है वही ही है।

(२।७।४७)

३. परको प्रसन्न करनेकी चेष्टा मत करो। जब यह अभ्रांत सिद्धान्त है कि एक द्रव्य अन्य द्रव्यका उत्पादक नही तब तुम्हारे प्रयत्नसे तो अन्य प्रसन्न न होगा। अपनी ही परिणतिसे प्रसन्न होगा। तुम व्यर्थ खिन्न मत होओ कि हमने परिणमाया। अन्य द्रव्यका चतुष्टय अन्यसे भिन्न है।

(२१।७।४७)

४. कोई भी काम करो निर्भीकतासे करो।

(२०।८।४७)

५. संसारमे कर्तव्यनिष्ठ बनो, दूसरोकी भलाईकी चेष्टाके पहिले अपनी शक्तिका विकास करो। केवल गल्पवादसे भलाई नही हो सकती। कुछ कर्तव्य पथपर आवो, यही संसार बन्धनसे छूटनेका मार्ग है। जो मनुष्य कर्तव्यको जानते हैं वही शीघ्र ही अभीष्ट पदके पात्र होते हैं।

(२०।८।४७)

६. बहुत गल्पवाद दम्भमे परिणत हो जाता है। जितना गल्पवाद करोगे उतना ही कार्य करनेमे त्रुटि करोगे। १०० बात कहनेकी अपेक्षा एक काम करना श्रेयस्कर है। उपदेश उतना दो जितना अमलमे आ सके। पुण्य कार्योंका तिरस्कार मत करो। शुद्धोपयोग उत्तम वस्तु है परन्तु शुद्धोपयोगकी कथासे शुद्धोपयोग नही होता।

(११।९।४७)

७. कोई भी काम करो उतावली मत करो।

(१२।९।४७)

८. जो काम करो शान्तिसे करो। प्रथम तो कार्य करनेके पहिले अच्छे प्रकारसे निर्णय कर लो कि हम यह कार्य करनेकी शक्ति रखते हैं अथवा नहीं? यदि योग्यता न हो तो उस कार्यके करनेका साहस न करो तथा जब उस कार्यके करनेके सन्मुख होओ तब अन्य कार्यकी व्यग्रता मत रक्खो। उतावली मत करो, चित्तको प्रसन्न रखो। विशुद्धता ही प्रत्येक कार्यमे सहायक होती है।

(१५।९।४७)

९. शान्तिसे काम करो, आकुलता दूर करनेके लिए अशान्त होना पागलपनकी चेष्टा है।

(१५।२।४८)

१०. स्वाध्यायमे ही उपयोग लगाना, किसीसे नहीं बोलना, यदि कोई गल्प करे तो उसे निषेध कर देना। केवल आगमकी कथा करना, किसीका संकोच नही करना, कलिमल दोषको दूर करनेके लिये अपने अन्तःकरणसे विचारपूर्वक कार्य करो। परकी गुरुता लघुतासे हमको न लाभ है, न हानि है।

(१७।५।४८)

११. सरल व्यवहार करो, आभ्यन्तर कषाय मत करो, किसीके परिणमनको देख हर्ष विषाद मत करो।

(२२।५।४८)

१२. किसीके अवगुणको कषायसे मत देखो, हितकी दृष्टिसे देखना कोई हानिकर नही। आत्मश्लाघाके लिए अच्छा कार्य करनेका संकल्प मत करो। ऐसे कार्य करो जो लोगोकी दृष्टिमें मान पोषक न समझे जावें। आवेगमे आकर व्रत ग्रहण मत करो। व्रत ग्रहणका फल निवृत्तिमार्गकी प्राप्तिमे पर्यवसान हो। जो कार्य करो उसका फल उस कार्यकी सामग्री फिर न हो यही लक्ष्य रचना चाहिये।

(३०।५।४८)

१३. क्यो परकी ओर देखते हो? कोई कुछ करे तुम उस ओर लक्ष्य ही मत दो। यदि कोई तुमसे कहे—'बड़े अज्ञानी हो' सुनकर शान्त रहो। शब्द वर्गणाएँ पुद्गलका परिणमन हैं, उनका तादात्म्य पुद्गलसे है, वाच्यार्थसे नहीं। वाच्यार्थ काल्पनिक है जिससे लौकिक व्यवहार चल रहा है।

(३ । ६ । ४८)

उत्तम जचे और सुखकर प्रतीत हो उसे ही यत्नपूर्वक करो किसी की बातोंमें आकर मत फँस जाओ।

(२१।८।४८)

२४. जो काम करो निर्भीकतासे करो परन्तु निर्भीकतामें सत्यताकी पुट रहनी चाहिए। परके मर्मभेदी अभिप्रायको हृदयमें स्थान नहीं देना चाहिये। निश्चलतासे सब कार्योंकी सिद्धि होती है, चञ्चलता ही कार्य बाधक है।

(११।१०।४८)

२५. किसीकी हाँ में हाँ मत मिलाओ। स्वच्छ हृदयसे विचार कर किया हुआ कार्य अवश्य सफल होता है। किसीको तुच्छ मत मानो, तुच्छ कोई नहीं। तुच्छ व्यक्ति ही दूसरेको तुच्छ समझता है।

(८।३।५१)

२६. आजीविका अर्जनका न्याय्य मार्ग यह है कि जिससे अन्यको पीड़ा न पहुँचे तथा अपने परिणामोंमें भी किसी प्रकारकी संक्लेशता उत्पन्न न हो।

(१०।३।५१)

२७. वचनका मूल्य होता है सो नहीं, वह तो अमूल्य वस्तु है। यदि आप उसका पालन करेंगे संसार बन्धनसे मुक्त होंगे। मोल न करनेका तात्पर्य यह है कि आत्मा नामक एक पदार्थ है उसका लक्षण चैतन्यपरिणाम है अर्थात् जिसमें चेतनता पाई जावे उसे आत्मा कहते हैं। आत्मा ऐसा है, इससे भिन्न लक्षणवाला अजीव है। उसमें चेतनता नहीं पाई जाती। उसके पाँच भेद हैं। इन दोनोंका परिणमन पृथक्-पृथक् है। इन दोनोंका अनादिसम्बन्ध है। अतः दोनोंकी अवस्था विकृत रूप हो रही है। जीवमें जो ज्ञाता-दृष्टापना है वह विकृत हो रहा है। विकृतका

मूल कारण आत्मामें एक विभाव नामक शक्ति है इसके द्वारा जब मोहकर्मका उदय आता है उस समय यह पर पदार्थोंमें निजत्वकी कल्पना कर लेता है। और इसीके द्वारा संसारको अपनाता है। इसीके वशीभूत होकर अनन्त संसारका पात्र होता है। जिन्हे अनन्त संसारके पात्र होनेका भय है उन्हे पर पदार्थोंमें जो निजत्व-की कल्पना होती है उसे त्याग देना चाहिये। यह कार्य किसी समागमसे नही होता अन्तरङ्गकी विशुद्धता ही इसका उत्पादक है।

(१५।७।५१)

१८. अनर्थ वाक्य मत बोलो, अनर्थ कार्य मत करो तथा जहाँतक बने अनर्थ चिन्तवन भी मत करो। इससे मानसिक शक्तिका सदुपयोग होगा। सफलताका मार्ग मिलेगा।

(२७।४।५१)

१६. आनेवाली आपत्तिसे भय मत करो। जो कार्य होता है सामग्रीपूर्वक ही होता है। अतः आपत्तिरूप कार्यके होनेमें अन्त-रङ्ग कारण तो जन्मान्तरके हमारे परिणाम ही हैं जिनके द्वारा कर्म-बन्ध हुए। अतः वर्तमान आपत्तिमें जो निमित्त कारण हो उनपर रोप करनेकी आवश्यकता नही। रोष करना ही तो संसारका कारण है।

(१७।५।५१)

३०. आत्माको दुःखसे बचानेवाले मनुष्य सादगीसे व्यवहार करते हैं।

(२०।५।५१)

३१. जो व्रत लिया है उसे सद्भावनासे पालो। किसीसे पुजानेका अभिप्राय मत रक्खो। किसीको तुच्छ मत मानो, परिणामोंको संक्लेशताका आश्रय मत बनाओ। हमारी बात मानो तब विशुद्धतासे भी बचाओ। मार्ग वही है जहाँ ज्ञप्तिमें शुभाशुभ

भाव न आवे। किसीको आश्वासन मत दो कि हम आपका कार्य करा देंगे। यदि कोई अपना काम करानेका हट करे तब एकबार निःसङ्कोच स्पष्ट उत्तर दो. निषेध कर दो। कोई भी प्रतिज्ञा आजन्मके लिये मत लो. प्रतिदिन अपने परिणामोकी परीक्षा करते करते जब आपको उसके निर्वाहयोग्य समझो तब आगे बढ़ो। पुस्तकको अवलोकनकर या किसी वक्ताके क्षणिक प्रभावमें आकर त्यागी मत बनो। अपने अभ्यन्तरमें जो आत्मारूप परमात्मा है वह जो स्वीकार करे वही कार्य करो। उसकी स्वीकृतिके विपरीत करोगे तो आपत्तिमें पड़ोगे। किसीके साथ ऐसा व्यवहार मत करो जिससे किसीको कुछ सन्देह हो जावे। किसीको गल्पवादमें फँसाकर उसके समयका दुरुपयोग मत करो। ऐसा कार्य मत करो जिसका कटु फल भोगना पड़े। उतना ही भोजन करो जिसे जठराग्नि पचा सके। उससे अधिक करोगे उदराग्निको बाधा होगी; पराधीन हो जाओगे। ऐसे कार्य ही न करो जिससे पुण्य करनेकी आवश्यकता पड़े, न पतित बनो, न पतितपावनके द्वार जावो, पापी जीवको ही पापप्रक्षालनके लिये परमात्माकी आवश्यकता होती है। जो पाप न करेगा उसे किसीकी आराधनाकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। वह न किसीकी आराधना करता है और न किसीसे अपनी आराधना कराना चाहता है। न किसीको प्रसन्न करना चाहता है न अपनेको किसीसे प्रसन्न करानेकी ही इच्छा रखता है।

(२२, २३। ५। ५१)

३२. विवेकसे कार्य करो। बिना विवेकके कोई भी मनुष्य श्रेयोमार्गका पथिक नहीं बन सकता। प्रथम तो विवेकके बलसे आत्मतत्त्वकी दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिये फिर जो भी कार्य करो उसमें यह देखो कि इस कार्यके करनेमें हमको कितना लाभ अलाभ है।

जिस लाभके अर्थ मैंने परिश्रम किया वह परिश्रम सुखपूर्वक हुआ या दुःखपूर्वक हुआ ? यदि कर्म करनेमें संक्लेशकी प्रचुरता हो तब उस कार्यके करनेमे कोई लाभ नहीं। प्रथम ही दुःख सहना पड़ा तब उसके पश्चात् सुख होगा, कुछ निश्चित् नहीं कहा जा सकता। दो प्रकारके कार्य जगतमें देखे जाते हैं—एक लौकिक दूसरे अलौकिक। लौकिक कार्य किनको कहते हैं ? जिनसे हमको लौकिक सुखका लाभ होता है। उन्हें हम पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं। परमार्थसे सुख तो नही क्योकि सुख तो वह वस्तु है जहाँ आकुलता न हो। यहाँ तो आकुलताकी बहुलता है। जब हम किसी कार्यके करनेका प्रयत्न करते हैं तब हमे भीतरसे जबतक वह कार्य न हो जावे चैन नही पड़ती। यही आकुलता है। इसके दूर करनेके अर्थ ही हम जो व्यापार करते हैं उसका उद्देश्य यही रहता है कि किसी भी तरह कार्य सिद्ध हो।

(१२।६।५१)

३३. बहुत कम बोलो, जो बोलो हितकर बोलो, गल्पवाद छोड़ो, प्रवचनमे जो लिखा है उसे विशदकर जनताके समक्ष रख दो। ऐसी भाषाका प्रयोग करो कि जनता समझ जावे। आगम भाषाको श्रोताओंकी भाषामे समझाओ। मनुष्योको जिस विषयमें दिलचस्पी रहती हो उसीमे उन्हे समझानेका प्रयत्न करो।

(२७।७।५१)

पुरुषार्थ

१. जो कार्य करना है उसे अविलम्ब करो। केवल मनोवृत्तिसे कार्य नही होता तदनुकूल प्रयत्नकी महती आवश्यकता है।

(९।१।४७)

२. असंज्ञी तक तो जीव पर्याय बुद्धिवाला रहता है उसको स्वपर विवेकका बोध नहीं होता परन्तु जब यह जीव संज्ञी-पञ्चेन्द्रिय हो जाता है उस समय इसे आत्मपरिचयकी योग्यता आ जाती है। उस समय यदि भेदज्ञानकी चेष्टा करे तब आत्माका परिचयकर परको पृथककर अन्तर्मुहूर्तमें अनन्त संसारके हेतु मिथ्याभावोकी सत्ता मेट सकता है। अतः पुरुपार्थ करना चाहिये। पुरुषार्थका अर्थ है कि अपनी जो परिणति कर्मोदयसे रागादिरूप हो रही उसमे हर्ष विषाद न करे। हर्ष विषादका होना ही आगामी कर्म-बन्धका हेतु होता है। जैसे अपने घर कोई मेहमान या अतिथि आवे उसके साथ यदि आप स्नेहसे व्यवहार करेंगे तब वह फिर आनेका प्रयत्न करेगा। यदि आप तटस्थता धारण करेंगे तब वह फिर आनेका उद्यम न करेगा।

(२८। ८। ५१)

३. सभी वक्ता व्याख्यान देते हैं कि पुरुपार्थसे मोक्ष होता है। कर्म हमारे पुरुपार्थके समक्ष कोई वस्तु नहीं। दृष्टान्त भी बहुतसे मिल जाते हैं परन्तु जब कोई प्रश्न करता है कि यदि पुरुषार्थ ही मुख्य है और संज्ञी पञ्चेन्द्रियमें उसकी योग्यता है तब आप ही इस पुरुपार्थको करके शान्तमार्गके पथिक क्यो नहीं बनते? तब कहता है क्या करें? परिस्थिति अनुकूल नहीं इत्यादि उत्तर देकर समाधान कर देते हैं। इससे यही मानना पड़ेगा कि कोई ऐसा प्रतिबन्धक है जो योग्यता होनेपर भी हम अपनी श्रद्धाके अनुरूप सम्यग्ज्ञानके होनेपर भी मोक्षमार्गके साधक चारित्रको धारण करनेमें असमर्थ हैं। अतः यही उपाय हमको शेष रह जाता है कि रागादिके होनेपर यही भावना भावें कि यह हमारा स्वभाव भाव नहीं है। उसे अपनानेका प्रयत्न न करें।

(२९। ८। ५१)

४. पुरुषार्थ तो वह है जो पराधीन न हो। धर्म-अर्थ-काम यह तीनों पुरुषार्थ परसापेक्ष हैं, केवल स्वाधीन नही। जब शुभोपयोग रूप परिणाम होगा उसी कालमे इसके धर्म पुरुषार्थ होगा। अर्थ और काम पुरुषार्थ भी स्वाधीन नही। अथवा इन पुरुषार्थोंमे आत्माको शान्ति भी नही। इसका कारण यह है कि धनार्जन करना स्वाधीन नहीं। अनेकोके साथ इसमे छलादि करने पड़ते हैं। काम पुरुषार्थ तो इतना निकृष्ट है कि इसके पीछे मरणतक कर लेता है।

(२८। ९ ५१)

५. धन वह वस्तु है जिसके विना गृहस्थका जीवन असम्भव है। धार्मिक कार्य जो है उनकी रक्षा भी धनके विना नहीं। परोपकारके जितने कार्य है, धर्मशाला, अन्न क्षेत्र, औषधालय आदि जितने कार्य है जिनमे जनताको वहुत लाभ हैं, धनके विना कोई भी कार्य नहीं चल सकता अतः गृहस्थको धनकी आवश्यकता है। वह धन स्वयमेव तो जन्मके साथ आता नहीं, चाहे मनुष्य धनाढ्यके गृहमे जन्म ले, चाहे राजवंशमे उत्पन्न हो, चाहे ऐसे गृहमे उत्पन्न हो जिनके पास कुछ भी सम्पत्ति नही। फिर भी जो पुरुपार्थी है वे नीतिपूर्वक द्रव्य सम्पादन कर सकते हैं। अन्यायसे भी धनका उपार्जन होता है किन्तु अन्यायसे जो धन आता है उससे परिणाम मलीन रहते हैं, उससे परोपकार नहीं देखे जाते। जैसे चोरोके औपधालय, विद्यायतन तथा अन्नक्षेत्र नही देखे जाते। स्वयं वे उस द्रव्यको नहीं भोग सकते। तथा जो न्यायपूर्वक अर्जन करते है वह उसे सुव्यस्थित रीतिसे उपयोगमे लाते हैं, निरन्तर उस द्रव्यसे अनेक परोपकारके कार्य होते है।

(२९। ९। ५१)

———

निमित्त और उपादान

१. लोगोकी भावना तो उत्तम है किन्तु परिणमन पदार्थोंके कारण कूटके मिलनेपर होता है। उपादान कारणमे ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। किन्तु सहकारी कारणके विना उपादानका विकाश असम्भव है।

(३।८।४७)

२. निमित्तके विना उपादानका विकाश नही होता। यद्यपि उपादानका विकाश निमित्तरूप नहीं परिणमता परन्तु निमित्तकी सहकारिताके विना केवल उपादान कार्यका उत्पादक नहीं।

(१९।११।४७)

३. जो काम होते हैं वह होते ही हैं, सामग्रीसे ही होते हैं। अहम्बुद्धिसे आप अपनेको सर्वथा कर्ता मानते हैं यही महती अज्ञानता है। यह कौन कहता है कि निमित्त रूप कार्य हुआ परन्तु अपनेको सर्वथा कर्ता मानना न्याय सिद्धान्त के प्रतिकूल जाता है। घट उत्पत्ति कुम्भकारादि के निमित्तसे होती है परन्तु घट बना कहाँ? इसको मत छोड़ दो। तब तुम्हारा निमित्त भी चरितार्थ है। अन्यथा अभावमे संसारभरके कुंभकार प्रयत्न करें क्या घट बन जावेगा? मृत्तिकाके उपादानवाले यही पाठ घोषणा करते हैं कि मिट्टी ही घटकी जनक है, कुम्भकार तो कुम्भकार ही है। तब जगतभरकी मृत्तिकाका संग्रह कर लो क्या कुम्भकारके विना घट बन जावेगा? अतः यही मानना पड़ेगा कि घटके उत्पादनमें सामग्री कारण है। केवल उपादान और केवल निमित्त दोनों ही अपने अस्तित्वको रक्खे रहो कुछ नहीं होगा। यही पद्धति सर्वत्र जानना। यदि इस प्रक्रियाको स्वीकार न करोगे

तव कदापि कार्यकी सत्ता न वनेगी। इस विषयमें वाद-विवाद कर मस्तिष्कको उन्मत्त वनानेकी पद्धति है। इसी प्रकार जो भी कार्य हो उसके उपादान और निमित्तको देखो, व्यर्थके विवादमें न पड़ो।

(२३।६।५१)

४. वहुत मनुष्योंकी धारणा हो गई है कि जव कार्य होता है तव निमित्त स्वयं उपस्थित हो जाता है। यहाँपर विचार करना चाहिए कि यदि निमित्त कुछ करता ही नहीं तव उसकी उपस्थितिकी क्या आवश्यकता है? यदि कुछ आवश्यकता उसकी कार्यमें है तव उपादान ही केवल कार्यका उत्पादक है ऐसे दुराग्रहसे क्या प्रयोजन? अष्टसहस्रीमें श्रीविद्यानन्द स्वामीने लिखा है कि "सामग्री हि कार्यजनिका नैकं कारणं" कार्यकी उत्पादक सामग्री होती है, एक कारण नहीं।

(१७।७।५१)

५. पदार्थोंके परिणमन उपादान और निमित्तकी सहकारितामें होते हैं परन्तु जो सहकारी कारण होते हैं उसी समय किसीको सुखमें निमित्त होते हैं तथा किसी को दुःखमें निमित्त होते हैं। अतः उपादान कारणपर लोग विशेष वल देते हैं। यह ठीक है घटकी उत्पत्ति मिट्टीसे ही होगी, चाहे कुम्भकार वनावे, चाहे जुलाहा वनावे, चाहे वैश्य वनावे, किन्तु निमित्त कारण अवश्य वांछनीय है।

(१५।१०।५१)

६. यद्यपि सभी पदार्थ अपनेमें ही परिणमन करते हैं परन्तु कार्य जव होता है तव उस विकाश परिणामके लिए उपादान कारण और निमित्तकी अपेक्षा करता है। जैसे जव कुम्भकार घट वनाता है उस कालमें मिट्टी, चक्र, चीवर, जल, दण्ड सूत्रको लेकर ही घटके

निर्माणका उद्यम करता है। प्रथम तो उसके यह विकल्प होता है कि मैं घट बनाऊँ, उसके अनन्तर उसके आत्मप्रदेश चञ्चल होते हैं जिनसे हस्तादि व्यापार होता है। हस्तके व्यापार द्वारा मृत्तिकाको आर्द्र करता है पश्चात् दोनों हाथोंसे उसे खूब गीली करता है, पश्चात् मिट्टीको चाकके ऊपर रखता है, पश्चात् दण्डादि द्वारा चक्रको घुमाता है। इसी भ्रमणमें हस्तके द्वारा मिट्टीको घटाकार बनाता है। पश्चात् जब घट बन जाता है तब उसे सूतके द्वारा पृथककर पश्चात् अग्निमें पका लेता है। यहाँपर जितने व्यापार हैं सब जुदे जुदे हैं फिर भी एक दूसरेमें सहकारी कारण हैं किन्तु जब घट निष्पन्न हो जाता है तब केवल मिट्टी ही उपादान कारण रह जाती है। अनन्तर जब घट फूट जाता है तब भी मिट्टी ही रहती है। इसी आशयको लेकर अष्टावक्र गीताने लिखा है—

"मत्तो विनिर्गतं विश्वं, मय्येव च प्रशाम्यति।
मृदि कुम्भो जले वीचिः कटकं कटके यथा॥"

जो पदार्थ जहाँ उदय होता है वहीं उसका लय होता है। यही कारण है कि वेदान्ती जगतका मूल कारण ब्रह्म मानते हैं। परमार्थसे देखा जावे तो आत्माकी विभावपरिणति ही का नाम संसार है किन्तु केवल आत्मामें ही यह संसार नहीं हो सकता है। अतएव उन्होंने मायाको स्वीकार किया है। इसका यह भाव है कि केवल ब्रह्म जगतका रचयिता नहीं। जब उसे मायाका संसर्ग मिले तभी यह संसार बन सकता है। अब कल्पना करो कि यदि ब्रह्म सर्वथा शुद्ध था तब मायाका संसर्ग कैसे हुआ? शुद्ध विकार होता नहीं अतएव मानना पड़ेगा कि यह मायाका सम्बन्ध अनादिसे है। यहाँपर यह शङ्का हो सकती है कि अनादिसे सम्बन्ध है तो छूटे कैसे? उसका उत्तर सरल है कि बीजसे अङ्कुर होता है। यदि बीज

दग्ध हो जावे तो अङ्कुरोत्पत्ति नहीं हो सकती। यही माया भवका बीज है। जब वास्तव तत्त्वज्ञान हो जाता है तब वह संसारका कारण जो भ्रमज्ञान है वह आपसे आप पर्यायान्तर हो जाता है।

(९, १०।१२।५१)

७. बहुतसे मनुष्योंकी यह धारणा हो गई है कि निमित्त कारण इतना प्रवल नहीं जितना उपादान होता है। यह महती भ्रान्ति है। कार्यकी उत्पत्ति न तो केवल उपादानसे होती है और न केवल निमित्तसे किन्तु उपादान और सहकारी कारणके योगसे कार्य उत्पन्न होता है। यद्यपि कार्य उपादानमें ही होता है परन्तु निमित्तकी सहकारिता विना कदापि कार्य नहीं होता। जैसे कुम्भ मिट्टीसे ही होता है परन्तु कुलालरूप निमित्त विना कार्य नहीं होता।

(२८।१२।५१)

स्वोपकार और परोपकार

१. 'हमसे परोपकार होता है' यह धारणा गलत है। हरएक कार्य अपनी योग्यतासे होता है और योग्यताका विकास निमित्त कारणसे होता है परन्तु निमित्तको निमित्त ही मानो, इससे अधिक नहीं।

(१२।१।४७)

२. संसारमें मनुष्योंकी दृष्टि स्वात्मोपकारकी ओर रहनी चाहिए उससे संसारका उपकार हो जावे यह अन्य बात है।

(४।३।४७)

३. कोई किसीका उपकार और अनुपकार करनेवाला नहीं। आत्मीय परिणाम ही उपकार और अनुपकारके करनेवाले हैं। इस

जगतकी व्यवस्था करनेवाला ही आत्मा है। नरक स्वर्गादि सब आत्मपरिणामोंके फल हैं, मोक्ष भी आत्मपरिणामोंकी चरम परिणतिसे होता है।

४. जगतके उपकारकी चेष्टा करना प्रायः व्यर्थ है। आत्मोपकारकी भावनामें प्रायः जगतका उपकार हो जाता है। जगतके उपकारसे आत्माका उपकार नहीं हो सकता, केवल कल्पना है। उपकार अपकारकी कल्पना मोहाधीन है।

(३१।७।४८)

सत्समागम

१. सत्समागमको पाकर मनुष्यमें मानवता आ जाती है। हमें उचित है कि वृद्ध मनुष्यकी सेवा करें। उसके द्वारा हम उच्चतम विचारको प्राप्त कर सकते हैं। सत्पुरुषका अर्थ है कि जो ज्ञान चारित्रसे भूषित हो। उन्हींको वृद्ध शब्दसे व्यवहार करते हैं। जिनके बाल शुक्ल हो गये, दन्त भग्न हो गये, ग्रीवा कुटिला हो गई, कर्ण श्रवण करनेमें असमर्थ हैं, उनका नाम वृद्ध नहीं। जिनको उभय लोक सिद्ध करना है, तथा विद्या विनयकी आकांक्षा है, उन्हें उचित है कि वृद्ध मानवोंकी सेवामें तत्पर रहें। जो मनुष्य वृद्ध सेवामें अपना समय लगाते हैं उनकी रागादिके साथ कषायाग्नि शान्त हो जाती है। वृद्ध मनुष्योंके समागमसे दुष्टसे दुष्ट भी मनुष्य शान्त हो जाता है। अत्यन्त मलीयस चित्त भी वृद्ध योगियोंके सहवाससे निर्मल हो जाता है। अगस्त्य ताराके उदय होनेपर जलका पंक भाग बैठ जाता है।

"तपःश्रुतिधृतिध्यानविवेकयमसंयमैः।
ये वृद्धास्ते शस्यन्ते न पुनः पलिताङ्कुरैः॥

प्रत्यासत्तिं समायातैः विषयैः स्वान्तरञ्जकैः ।
न धैर्य्यं स्वलितं येषां ते हि वृद्धा वुधैर्मताः ॥

इन गुणोंसे विभूषित वृद्ध कहलाते हैं। स्वप्नमे भी जिनके चारित्रकी उज्वलता है, तथा यौवन अवस्थामे भी जिनके सच्चारित्रमे दोष नही आया वही आत्मा वृद्ध हैं।

सबसे उत्तम तो यही है कि दिगम्बर महापुरुषोंका समागम अच्छा है। उन दिगम्बर मुनियोका समागम उत्तम है जो वाह्य आडम्वरसे शून्य है। परन्तु आजकल मुनिमार्ग भी परिग्रहको अपनाने लगा है। किसीको तो पुस्तक छपानेका रोग लग गया है। किसीको मोटर आदि बाह्य सामग्रीका आश्रय लेकर तीर्थयात्रा करनेकी प्रवृत्ति हो गई है और कोई गृहस्थों पर अपना अधिकार चला कर सामाजिक कार्योंमे लगे रहते हैं। अतः उनके समागममें भी शान्तिका मार्ग नही। लाचार होकर उनके समागममे रहनेसे भय होता है। अब उनके बाद क्षुल्लक ऐलक वर्ग रह जाता है सो भी प्रकृतिके अनुकूल नहीं। जिसके जो मनमें आता है सो प्रवृत्ति करता है। विद्या का व्यसन नहीं, स्वाध्याय भी कई करते हैं कई विशेप विद्वान् भी हैं तथा प्रतिभाशाली भी हैं किन्तु उसका उपयोग स्वेच्छापूर्वक करते हैं। हमने भी अपने प्राप्त ज्ञानका कुछ उपयोग नहीं किया।

(२६।८।५१)

पुण्यात्मा पापात्मा

१. पुण्यसे मनुष्यको वाह्य पदार्थका मिलना कोई उपयोगी वस्तु नहीं। किन्तु शुभ परिणामका फल हो तो पुण्य है। शुभ परिणामोसे घातिया कर्मोंमे स्थित और अनुभाग मन्द पड़ता है।

जब उसका उदय आता है उस कालमें जीवके मन्दकषाय होती है। मन्दकषायमें जीवके परिणाम पूजन करना, स्वाध्याय करना, व्रत पालना, जीवोका उपकार करना, होते हैं। यदि उसके परिणाम परिग्रहमें अत्यन्त आसक्त हो तब वह घातियाके तीव्र उदयका कार्य है। तीव्र पापके परिणामसे घातिया कर्मकी स्थिति और अनुभाग बहुत घना होता है। अतः जिन जीवोके बहुत परिग्रह होनेपर यदि उस समय परिग्रहमें विशेष मूर्च्छा है तब वह जीव वर्तमानमें पुण्यात्मा नहीं। किसी जीवके परिग्रह अल्प है और उसके परिणाम निर्मल रहते हैं, मन्द कषायरूप रहते हैं तब वह जीव वर्तमानमें पुण्य जीव है। सिद्धातमें तो जिस जीवके बाह्यमें अणुमात्र भी बाह्य परिग्रह नहीं तथा इतनी मन्द कषाय है कि यदि कोई उसको शस्त्रोसे भी पीड़ा पहुँचावे तो भी वह उस पीडा पहुँचानेवालेपर क्रोधादि भाव नही करता और यदि कोई पारिजातके पुष्पोसे उसका अर्चन कर रहा है तो भी उस कालमें उन दोनोपर समता भाव है किन्तु यदि उसका मिथ्यात्व नही गया है तब उसे पापी जीव कहा है और जिसके जगतका बहुत वैभव है, विरोध होनेपर भी अपनी रक्षाके अर्थ विरोधी हिंसा भी करता है, राज्यादिक विभूति भी है परन्तु सम्यग्दर्शन हो गया है तब उसे पुण्य जीव कहा है। यहाँपर मन्द कषाय और तीव्र कषायसे प्रयोजन नहीं। जिसकी आत्मासे मिथ्यादर्शन निकल गया, उसे पवित्र आत्मा कहते हैं। चाहे बाह्य विभूति अमर्यादित हो या न हो और जिसके सम्यग्दर्शन नहीं हुआ उस जीवके तिलतुषमात्र भी परिग्रह न हो उसको 'पुण्य जीव' शब्दसे व्यवहार करना औपचारिक है। जो पञ्च पाप हैं वे भी प्रमत्तयोगके सद्भावमें हैं। परमार्थसे हिंसक मिथ्यादृष्टि है। चाहे उसके द्वारा जीवका घात न हो। सबसे महान पाप अपनेको न समझना है। जिसने अपनेको ही न

समझा वह अन्यको क्या समझेगा ? अतएव अज्ञानी जीव न तो पुण्यका स्वरूप जानता है और न पाप का। पुण्य पाप करता है परन्तु स्वरूपको नहीं जानता। यथा—

"कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च क्वचन।
एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ! स्वपरवैरिषु॥"

श्री समन्तभद्र स्वामीने कहा है हे नाथ! जो एकान्त ग्रहमें आसक्त हैं उनके न तो कुशल पुण्यका ही स्वरूप बनता है, और न पापका ही स्वरूप वनता है और न परलोक आदिका स्वरूप ही वनता है। वस्तु स्वरूपकी व्यवस्था तो स्याद्वाद सिद्धान्तसे ही होती है।

(८, ९।८।५१)

समता

"मोहवह्निमपाकर्तुं स्वीकर्तुं संयमश्रियं।
छेत्तुं रागद्रुमोद्यानं समत्वमवलम्बताम्॥"

(ज्ञानार्णव)

यदि मोहाग्निको दूर करना चाहते हो, तथा संयम रूपी लक्ष्मीको स्वीकार करनेकी अभिलाषा है तथा रागवृक्षको छेदन करनेकी वांछा है तो समत्वका अवलम्वन करो। समत्व किसको कहते है ? इसका विवरण श्री १०८ कुन्दकुन्द स्वामीने प्रवचनसारमे लिखा है—

"चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो॥"

अर्थात् चारित्र ही धर्म है। स्वरूपमें जो आचरण है उसका नाम चारित्र है। वह ही वस्तु स्वभाव होनेसे धर्म कहलाता है। उसका अर्थ यह है कि शुद्ध चैतन्यका प्रकाश जहाँ होता है उसीका नाम धर्म है, उसीका नाम साम्य है। उसमें यथार्थ आत्मस्वभाव है। अर्थात् दर्शनमोह और चारित्रमोहके उदयमें आत्मामें जो मोह क्षोभ होता है, उसके अभावमें आत्माका जो अत्यन्त निर्विकार परिणाम होता है इसीका नाम चारित्र है, इसीका नामान्तर धर्म है। ऐसा सिद्धान्त है कि—

"परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयं त्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो॥"

(४।९।५१)

निरीहता

१. विना निरीह वृत्तिके कषाय कृश होना महान् कठिन कार्य है। अन्तरङ्गमें चाहदाह महती कष्टदायी है। अतः चाहको त्यागो।

(२८।७।४८)
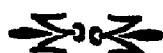
संस्कारके कारण

संसारके कारण

१. जो परको अपना मानता है वह निजको भूलता है। निजको भूलना ही संसार बन्धनकी जड़ है। संसार ही नाना दुःखोका आस्पद है। अब तो चेतो।

(२।६।४७)

२. बहुत काल परकी संगति की, पर कौनसा लाभ उठाया? अनंत संसार ही के पात्र तो रहे!

(२८।७।४७)

३. परकी प्रशंसा और निन्दासे सुख और दुःख मानना ही संसारका कारण है। बात कहना और है कार्य कुछ और है।

(९।५।४८)

४. संसारका कारण सुख दुखका अनुभव नहीं वह जो कर्म-विपाकजन्य फल है। जो राग-द्वेष आत्मामे होता है वही संसार वृक्षकी जड़ है।

(१०।१०।४८)

५. कथाके रसिक मनुष्योसे संपर्क रहना ही संसार बन्धनका मूल कारण है।

(२८।१२।४८)

६. आज तक जो हम संसारमे भ्रमण कर रहे हैं उसका कारण है कि अपना परिचय नहीं किया। अपने परिचयको प्राप्त करनेके लिए उसके बाधक कारणको निरन्तर खोजा। यही महती अज्ञानता हमें संसार बन्धनमें फँसाये है। जिस दिन हमारा अज्ञान भाव चला जावेगा उसी दिन हम संसार बन्धनसे विमुक्त हो जावेंगे। संसार

नाम संसरणका है। जिसमे ये जीव चतुर्गति परिभ्रमणकर अनन्त क्लेशके पात्र होते हैं। इसमें मूल कारण अन्य कुछ नहीं, आत्मीय परिणतिको स्वच्छ न बनाना ही है। स्वच्छतासे तात्पर्य यह कि जितने पर द्रव्य हैं उनमें निजत्व भावकी कल्पनाका त्याग करना।

(२।८।५१)

७. इस संसार अरण्यमे अनादिसे यह आत्मा भटक रहा है। इसका मूल कारण परमे दृष्टि है। जब तक पर दृष्टि रहती है तबतक यह आत्मा पक्षपात करता है। अन्यकी कथा छोड़ो; भगवान्के नाना स्वरूपोंकी कल्पना करता है।

(२।१०।५१)

कषाय

१. सबको अपनी अपनी कषायकी पूर्ति करनेका ज्वर चढ़ा है। संसारमें विरला ही होगा जो इस ज्वरसे मुक्त हो। कषाय ज्वर ही महान् ज्वर है। इसका भूत जब सवार होता है तब अच्छे अच्छे ज्ञानी चक्रमे आ जाते हैं। सबसे प्रबल यही मोह ज्वर है। इसके वेगमें यह जीव निरन्तर बेहोश रहता है और बेहोशीमें आत्माके अस्तित्वको परमें मान बैठता है।

(१०।९।४७)

२. जहाँ कषायसे अनुरञ्जित परिणाम है वहाँ नियमसे बन्ध है। जिन्हे बन्ध विमुक्तिकी आकांक्षा है वह धनमें अनुराग नही रखते। अनुराग ही संसार बन्धनका कारण है।

(२५।९।४७)

३. संकोच कपायसे प्राणीका भाव पतित हो जाता है, उसकी रक्षा करना। 'कौन किसका है इस सिद्धान्तपर दृढ़ रहना।

(२५।७।४८)

४. आत्मीय परिणतिको कलुषित मत होने दो। परिणामोंके कलुषित होनेमे अन्तरङ्ग कारण मोह राग द्वेष है, बाह्य कारण पञ्चेन्द्रिय के विषय हैं। विषय निमित्त कारण हैं परन्तु ऐसी व्याप्ति नहीं कि विषय परिणतिको कलुषित कर ही देवें। विषय तो इन्द्रियोंके द्वारा जाने जाते हैं उनमे जो इष्टानिष्ट कल्पना होती है वह कषायसे ही होती है। कषाय क्या है? जो आत्माको कलुषित करता है। यह स्वयं होती है। आत्मामे इसका परिणमन अनादिसे चला आ रहा है। हम निरन्तर प्रयत्न करते हैं कि आत्मामें स्वच्छ परिणामे हों परन्तु न जाने कौनसी शक्ति आत्मामे है कि जिसके कारण अनिष्ट-कारी भाव आत्मामे स्वयमेव चले आते हैं। इससे यही निश्चय होता है कि आत्मामे अनादिसे ऐसे। संस्कार आ रहे हैं जो निरन्तर ही उसको अनन्त वेदनाओंका पात्र बनना पड़ता है।

(२०।४।५१)

५. चित्तको जाननेकी चेष्टा करो। किसके वशमे कार्य कर रहा है? पर पदार्थ चित्तको अपनेअधीन नहीं रख सकता। इसको कार्यमे संचालन करानेकी शक्ति आत्मामे है, उस शक्तिका नाम ही कषाय है। कषायके द्वारा ही सब कार्य जगतके होते है। जो परदया उप-कार आदि कार्य होते हैं यह भी मन्द कषायके कार्य हैं। और जो मारन ताड़न विषयादि कार्य हैं ये सब अशुभ कषायके कार्य हैं। यह दोनो ही कार्य बन्धके कर्ता हैं। अतः एक अच्छा एक बुरा है यह व्यवहार परमार्थ दृष्टिवाला नहीं करता। शुभ कार्यके करनेका निषेध नही परन्तु उसे बन्धका जनक समझो। यद्यपि आत्मा ज्ञाता दृष्टा है परन्तु कर्म मलके सम्बन्धसे सर्वदा यह कुछ न कुछ करता ही रहता है और उस कर्तव्यका फल भोगता हुआ चतुर्गतिका पात्र बना रहता है। इसमे किसीका अपराध नहीं। क्या करें जब मद्यका नशा आता है तब मनुष्यके अयोग्य आचरण होता ही है।

इसी तरह कर्म विपाकमें इसकी जो दशा होती है वह इससे गुप्त नहीं। यदि यह जीव पुरुषार्थ करे तब कुछ कार्य बननेकी संभावना है। जिस कालमें नशा उतर जाता है उस कालमे नशाके कार्योंका चिन्तन करे तब अधिकाशमे उनसे मुक्त हो सकता है।

(४ । ६ । ५१)

६. क्रोधादिक जो उत्पन्न होते हैं वह औपाधिक हैं। उनके होनेमे आत्मा कलुषित हो जाता है। कलुषताके कारण अन्तरङ्गमे अत्यन्त दुःखी होता है। और उस दुःखको दूर करनेके अर्थ क्रोध कपायके कार्यमे प्रवृत्ति करता है। जैसे क्रोधमे किसीको मारता है। यद्यपि उसमे आपको कुछ भी लाभ नहीं परन्तु जबतक वह कार्य नहीं होता तबतक शान्त नहीं होता। क्रोधके दूर होनेपर स्वयं शान्त हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि दुःखका मूल कारण क्रोध है। हम परको दुःखका कारण मानते हैं यही महती अज्ञानता है।

(२१ । १२ । ५१)

आगअङ्गारे-अहङ्कार

१. संसारका सबसे प्रबल कारण अहम्बुद्धि और मानबुद्धि है। इस जीवको यह अहङ्कार अनादिसे लगा हुआ है कि 'मैं एक विशिष्ट व्यक्ति हूं मेरे समक्ष अन्य सब तुच्छ हैं। यह मानना कितना अज्ञानपूर्ण है? यह नहीं सोचता कि मैं जीव हूँ, तब मेरे जो भाव होते हैं यदि वे वास्तव हैं तब जितने जीव हैं उनमे यही भाव होगे। तब फिर निज और अन्यमे क्या अन्तर हुआ? भेद ज्ञानका कारण लक्षण सब जीवोंमे पाया जाना चाहिये। तब हम सब समान हैं अतः साम्यभाव ही सुखदायी हुआ। यदि अपनेमें ज्ञानविशेष हैं और वीतरागभाव है, अन्यसे नहीं है, तब यह विचार करना

आवश्यक है कि हम और यह दोनों जीव हैं, हममे जो गुण विकाश हुआ वह इसमे भी हो सकता है। केवल कोई प्रतिबन्धक है जो इस जीवमें अवतक नहीं होने देता।' अन्तमे यदि अपनेमे पुरुषार्थ है तो उसको सम्बोध कर उस गुणका विकास करनेका प्रयत्न करना उचित है। प्रत्येक आत्मामे गुण विकास हो सकता है किन्तु उसके विकासमे वाधक अन्य नहीं हम स्वयं ही हैं।

एक मनुष्य प्रमादसे मार्गमे जा रहा था, एक पत्थरकी ठोकर लगनेसे वह भूमिपर गिर पड़ा। एकदम साथीसे कहा—'हथौड़ा लाकर इस पत्थरको चूर्ण कर दो, इससे टकराकर हम भूमिपर गिर पड़े और हमको वहुत चोट लगी। यह इस पत्थरका अपराध है।'

साथीने उत्तर दिया—श्रीमान्! इसमे पत्थरका क्या अपराध है? वह स्वयं तो उछल कर आपके पैरमे लगा नहीं। आप स्वयं प्रमादसे चलते थे, इसीसे इसकी चोट लगी, यह आपके ही प्रमाद का फल है। अतः आपको उचित है कि मार्गमे जब गमन करें, देखकर ही करें, प्रमादको त्यागें, यही आपको निर्विघ्न अभीष्ट स्थानतक ले जावेगा।'

इसी तरह हम स्वयं क्रोधादि कषाय कर अपने आत्माको संसार वन्धनमे डालते हैं। हमको उचित यही है कि क्रोधादि कषाय न करें। जिनके निमित्तसे क्रोधादि कषायका उदय होता है उन पदार्थोंसे द्वेष करनेकी आवश्यकता नहीं परन्तु मोही जीव आत्मीय अपराधको तो दूर करनेकी चेष्टा करता नहीं जिनसे क्रोधादि कषाय होते हैं। हम उन निमित्त कारणोको पृथक् करनेका प्रयत्न करते हैं जो क्रोधमें निमित्त होते हैं। निमित्त भी दो प्रकार के हैं। एक तो वे जो हमे प्रत्यक्ष हो रहे हैं, दूसरे वे जो प्रत्यक्ष नही होते, जिनको द्रव्य क्रोध कहते हैं। उनके चार भेद हैं— अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, और संज्वलन। इनका

यहाँ वर्णन नहीं करना है। क्रोधका उपादान कारण आत्मा ही है। आत्मामे अनन्त गुण हैं। उनमें एक चारित्र नामक गुण भी है, वही गुण क्रोध, मान, माया और लोभ रूप परिणमता है। जब इस जीवके क्रोध कषायका उदय होता है उस कालमे यह आत्मा क्रोध रूप परिणमता है। उससे परका अनिष्ट करनेका भाव होता है। परके ऊपर तीव्र कषाय होती है, उसे नानाप्रकारके कष्ट देता है. गाली आदि दुर्वचनोकी चेष्टा करता है, अस्त्रादिसे उसे मारनेका भाव करता है तथा अस्त्रादिका कायसे प्रयोग करता है। यद्यपि अस्त्रादिसे उसका अङ्ग-भङ्ग करनेकी चेष्टा करता है, मनमे निरन्तर उस जीवके अनिष्ट समागम हो यही चिन्तन करता है परन्तु यदि उसका कोई भी अङ्ग विकृत न हुआ तब स्वयं अस्त्रादिसे अपना ही घात कर लेता है। इसी प्रकार मान कषायके उदयमे अन्यको लघु दिखानेका प्रयत्न करता है, अन्यके प्रशस्त विद्यमान गुणोमे भी दूषण लगानेका प्रयत्न करता है।

(२१।१०।५१)

माया

१. आर्जवका अर्थ है सरल होना। सभी मनुष्य अपनेको सरल मानते हैं परन्तु कार्य इसके विपरीत ही करते हैं। निरन्तर कपट व्यवहारसे आत्माको वञ्चित करते रहते हैं। यदि कोई मनुष्य यह चाहता है कि मैं मायाचारसे वर्जित रहूं तब उसे पर पदार्थोंमे आत्मभावको त्याग देना चाहिये। परको आत्मीय मानना ही सब पापोकी जड़ है। उस पदार्थ रक्षाके लिये ही हमें सब अनर्थ करने पड़ते हैं। संसारमें दो ही प्रकारके पदार्थ हैं एक तो चेतन और दूसरे अचेतन। यदि इनके स्वरूपका विचार किया जावे तब

सब पदार्थ अपने-अपने द्रव्यादि चतुष्टयमे लीन हैं, कोई पदार्थ किसी पदार्थके साथ नही मिलता। हम अज्ञानी लोग कर्तृत्व बुद्धिके द्वारा जगत्के स्रष्टा बनना चाहते हैं। यही हमारी महती अज्ञानता है, इसे हटावो। सभी पदार्थ सत्ता सामान्यकी अपेक्षा समान हैं उनसे क्या स्नेह किया जावे ? विशेषकी अपेक्षा विचार किया जावे तब सब जीव चेतन गुणकी अपेक्षा समान हैं। इनसे भी क्या सम्बन्ध किया जावे ? क्योंकि सब अपने-अपने स्वरूपमें रत हैं।

(७।१।५१)

राजरोग राग

१. गल्पवादसे यथार्थ पदार्थका निर्णय होना सुसाध्य नही। प्रतिदिन शास्त्र प्रवचनमें यह निकलता है कि रागादिक ही आत्माके गुण विकाशमे बाधक है। मैंने साठ वर्ष तक प्रयास किया परन्तु इस पर विजय प्राप्त न कर सका। कहनेसे करनेमें महान् अन्तर है। सभी कहते हैं कि रागादिक परम दुःखके कारण हैं गीत पाठ पढ़ लेते है परन्तु कर्तव्य पथसे प्रायः वञ्चित रहते हैं।

(२।१।४७)

२. ज्ञानसे अज्ञाननिवृत्ति होती है किन्तु एतावता जो जो ज्ञानान्तरभाविनी चारित्रकी प्राप्ति है उसका कारण रागद्वेषकी निवृत्ति है। अनादि कालसे यह सम्बन्ध है। शरीरके सम्बन्धसे रागद्वेष है यह कुछ बुद्धिमे नही आता क्योकि रागद्वेषकी उत्पत्ति आत्मामें होती है और शरीर जड़ है। उसकी शक्ति ऐसी नहीं जो आत्मामें राग-द्वेष उत्पन्न करनेमें प्रबल प्रेरक हो। यदि कर्मको

कारण कहा जावे तब वह भी अचेतन है अतः आत्मामें रागादिका उत्पादक कैसे हो सकता है ? और रागादिक भाव होते हैं यह तो निर्विवाद है। यदि ये आत्माके स्वभाव माने जावें तब आत्मा जो मोक्षके हेतु प्रयास करता है वह व्यर्थ हो जावे। कुछ बुद्धिमें नहीं आता है। अन्तमें यही सन्तोष कर लेना पड़ता है कि जो रागादिक भाव हैं वे होते अवश्य हैं इसलिए इनका उपादान कारण आत्मा है निमित्त कारण कोई होना चाहिये। जैसे स्फटिक उपल स्वयं तो रागादि रूप नहीं परिणमता किन्तु रागादि भावापन्न जो जपापुष्प है उसके निमित्तसे रागादिरूप परिणम जाता है।

(१७।४।५१)

३. सुमार्ग तो यही है कि सबसे स्नेह त्यागो। वही कल्याणमार्ग है। परके साथ एकत्व भावना ही संसारकी नींव है। जहाँ परमें निजत्वकी परिणति हो जाती है वहीं अनायास राग-द्वेषकी सन्तति होती रहती है। जिसको हम निज मानते हैं उसको अपने अनुकूल रखनेका प्रयत्न करते हैं और यही व्यग्रता आत्माको निरन्तर खिन्न रखती है। इसी परिणतिका नाम संसार है। बहुतसे व्यक्ति दृश्यमान जगतको संसार मानते हैं, उससे अपनी परिणति हटानेकी चेष्टा करते हैं सो कुछ बुद्धिमें नहीं आता। आत्मासे भिन्न जितने पदार्थ हैं वह तो भिन्न ही हैं उनको त्यागने की आवश्यकता नहीं किन्तु उनमें निजत्वकी कल्पना होती है, उसे घटाओ, वही परिणति संसारकी जननी है।

(२४।४।५१)

४. राग परिणाम संसारका कारण है चाहे वह शुभ हो, चाहे अशुभ हो। अग्नि चाहे चन्दनकी हो, चाहे नीमकी हो, दोनों ही जलावेंगी।

(२६।४।५१)

५. 'संसारबन्धनका मूल कारण राग-द्वेष है। इस पर विजय प्राप्त करना चाहिये' यह व्याख्यान तो प्रत्येक देता है तथा तर्क पूर्ण वाक्योसे अपने व्याख्यान द्वारा जनताको मन्त्रमुग्ध कर देता है, स्वयं भी तन्मय हो जाता है परन्तु उत्तरकालमे गजस्नानवत् ही क्रिया करता है। न जाने केवल व्याख्यानसे क्या लाभ? यदि उसपर अमल न किया जावे तब इस प्रकारकी चेष्टा कुछ लाभदायक नहीं।

(२९।८।५१)

६. संसारका जो अस्तित्व है वह जीवके रागादि परिणामों-से होता है। उनके निमित्तको पाकर जो कार्मण वर्गणाएँ जीवके प्रत्येक प्रदेशमे हैं वे ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमतीं हैं। उनका उदय शरीरादि नोकर्म और रागादि परिणामोंमें कारण रूप होता है। संसारमे ऐसा एक भी समय नहीं जिसमे आत्माके रागादिक परिणाम न हो।

(२३।९।५१)

७. 'प्राणीमात्रका कल्याण राग त्यागनेमे है। त्यागकी महिमा-का गान करते हैं किन्तु रागत्यागकी ओर अणुमात्र भी लक्ष्य नही। पञ्च परम गुरुकी उपासना इस अभिप्रायको पुष्ट करनेकी थी कि राग न्यून हो किन्तु उसकी ओर तो लक्ष्य ही नही। केवल पूजन प्रभावना कर रागवर्द्धन ही हाथ रह जाता है। इसीमे पूर्ण पुरुषार्थ लगा देते हैं।

(२८।९।५१)

८. राग-द्वेषके वशीभूत होकर मनुष्य जो कुछ न करे सो अल्प है। आगममे लिखा है कि रावणने एक सीताके रागमें अपने प्रति नारायण पदको तिलाञ्जलि दे दी। जिस समय रावणने लक्ष्मणपर चक्र चलाया और चक्र लक्ष्मणके हाथमे

आया उस समय श्री रामचन्द्रजी ने रावणसे कहा कि हमको न तो तुम्हारा राज्य चाहिये और न चक्र चाहिये, हमारी सीता हमको दे दो, वनमें किसी कुटियामे रहकर अपना निर्वाह करेंगे, तुम सानन्द अर्धचक्री पदका उपभोग करो किन्तु रावण इन वाक्योंको श्रवणकर आग बबूला हो गया और बोला कि कुम्भकारके चक्रको पाकर इतना गर्व मत करो। इतना श्रवणकर लक्ष्मणने जो करना था सो किया। अतः इससे यह सिद्धान्त निकला कि कषायके वशीभूत होकर जीवोकी जो दशा होती है वह प्रायः प्राणी मात्रके प्रत्यक्ष है। विशेष आश्चर्य यह कि हम लोगोंने संसारको उपदेश देना सीखा है, स्वयं रागद्वेष दूर करनेका प्रयत्न नहीं करते। रागद्वेष त्यागनेके लिये लम्बे लम्बे व्याख्यान देते हैं। दूसरे श्रवणकर मोहित हो जाते है और प्रशंसावादका बहुत कुछ आडम्बर होता है। किन्तु जल विलोलनेके सदृश ही यह कार्य होता है। अतः जिन्हें संसार बन्धनसे मुक्त होना है उन्हें सब कार्योंको गौणकर रागद्वेषके त्यागनेकी चेष्टा करना ही अपना कर्तव्य समझो।

(१८।११।५१)

स्नेह

१. स्नेह ऐसा प्रबल परिणाम है जो इस अनन्त संसारकी रक्षा कर रहा है। यदि यह मिट जावे तब अन्तर्मुहूर्तमें इस संसार का ध्वंश हो जाता है। अतः जिन्हे इस संसारका अभाव करना है वे स्नेह त्यागें।

(४।७।४८)

२ संसारमे बंधनका कारण स्नेह ही तो है। उसके वशीभूत होकर यह जीव क्या क्या अनर्थ नहीं करता? सब अनर्थोंकी

जड़ यही स्नेह तो है जिसने इस पर विजय पा ली उसने जगपर विजय पा ली।

(५।७।४८)

३. जहाँपर रहो वहीं समुदायसे स्नेह हो जाता है तथा व्यक्ति विशेपसे भी स्नेह हो जाता है। यह स्नेह ही संसारका कारण है। इसे लोग धार्मिक स्नेह कहते हैं। पर्यवसान मे इसका फल उत्तम नही। जहाँ श्री अर्हदनुरागको चन्दन नग सङ्गत अग्नि-की तरह दाहोत्पादक कहा है वहाँ अन्य स्नेहकी कथाकी गिनती ही क्या है? अतः सामान्य मनुष्यसे स्नेह करना तो सर्वथा ही हेय है। यदि स्नेह करनेकी प्रकृति पड़ गई हो तब चेतनसे स्नेह हटाकर अचेतनसे करो या उस चेतनसे करो जो स्नेही न हो। इससे यह सिद्ध होता है कि एक ही का उपाय करना पड़ेगा अर्थात् एककी ही चिन्ता रहेगी अन्य चिन्ता न रहेगी। अपना मोह ही त्यागनेकी चिन्ता रहेगी। वह भी निराश्रय होकर स्वयमेव विलय जावेगा।

(७।६।५१)

४. परमार्थसे स्नेह बन्धन ही का कारण है।

(२०।६।५१)

५. अनादिसे यह आत्मा पर पदार्थोंसे मिलकर अपने स्वत्वको खो बैठा है! यह स्वत्व बिना त्यागे नहीं मिल सकता। त्यागका अर्थ यह है कि परको जो स्नेहके साथ अपना रहे हो उस स्नेहको त्यागो। स्नेहका त्याग क्या है? स्नेहमे राग न करो, वह स्वयं राग है। तब क्या द्वेष करें॥ द्वेष भी न करें। तब क्या करें? उपेक्षा करो। यही तुमसे हो सकता है। रागमे उपेक्षा कैसी? इसका अर्थ यह है कि राग आत्माकी आत्मकृत विभाव शक्तिके सद्भावमे मोहके द्वारा प्रीतिरूप परिणति है। इसके उदयमें पर-

पदार्थको यह प्रीतिरूप परिणामसे अपनाता है, वही संसारका जनक है। इसमें उपेक्षा होना अनुभवगम्य ही है। आत्मामें अनन्तगुण हैं, प्रत्येक गुणका परिणमन पृथक्-पृथक् है।

(३० । ६ । ५१)

६. संसारमें बन्धनका मूल कारण स्नेह है, जिसने इसपर विजय प्राप्त की उसने संसारको पार किया। प्रतिदिन हम कथा तो यह करते हैं कि इसे त्यागना चाहिये, इसीका आलाप करते हैं परन्तु यह आलापमात्र ही है।

(२८ । ९ । ५१)

७. संसारमें प्राणीमात्रके स्निग्ध परिणाम होते हैं। जितने प्राणी हैं प्रायः परको निज मान अपनाते हैं। सबसे प्रथम तो शरीरको निज मानना इस संसारीका मूल कर्तव्य है। जहाँ शरीरमें निज कल्पना हुई वहाँ शरीरकी अवस्थाओंमें किसीपर राग, किसी-पर द्वेष या किसीपर उपेक्षा हो जाती है। जैसे जब असाता वेद-नीयका उदय होता है तब बुभुक्षा उत्पन्न होती है, उसको दूर करनेका प्रयत्न करता है। जिससे वह दूर होती है उस पदार्थपर स्वाभाविक प्रेम हो जाता है।

(९ । ११ । ५१)

८. न जाने संसारमें स्नेह कितनी बड़ी बला है कि इसके अधीन होकर प्राणी परको प्रेमदृष्टिसे देखने लगता है। केवल देखता ही नहीं अपनाना भी चाहता है। यद्यपि यह अपनानेका अभिप्राय मिथ्या है। कोई पदार्थ किसीका नहीं होता। जितने पदार्थ जगतमें हैं सब अपनी सत्ताको लिये हुए भिन्न-भिन्न हैं। जैसे जीव और अजीव दो ही पदार्थ मूल हैं। उनमे चेतना लक्षणवाला जीव है। जिसमें चेतना न पायी जावे वह अजीव है। अजीव पदार्थ पाँच हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जिसमे

रूप-रस गन्ध-स्पर्श पाये जावें उसे पुद्गल द्रव्य कहते है। वे पुद्गल द्रव्य जिनका पुनर्विभाग न हो सके परमाणु हैं। वे अनन्तानन्त हैं। जितने परिमाणमे परिमाणु हैं उतने ही रहेंगे। उनमें न एक कम हो सकता है और न एक वृद्धिरूप हो सकता है। उनमे एक विभाव नामक शक्ति है जिससे वे शब्द-बन्ध-सौक्ष्म स्थूल आदि रूप परिणमनको प्राप्त हो जाते हैं। चलनेमे सहकारी धर्म, स्थिरतामे सहकारी अधर्म, अवकाशदाता आकाश और परिणमनमे सहकारी काल द्रव्य है। ये चारों द्रव्य सर्वदा शुद्ध ही परिणमन करते हैं। इनमे विभाव शक्ति नहीं। जीव द्रव्य अनन्तानन्त है। इनमें भी विभाव परिणमन शक्ति है। मोहादि कर्मोके विपाक कालमे रागादिरूप परिणमनको प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु फिर भी जितने जीव हैं वे परस्पर भिन्न भिन्न ही रहते हैं। सभीकी सत्ता भिन्न भिन्न है। जहाँ एक शरीरमे अनन्तानन्त निगोदिया जीव रहते हैं, एक श्वासमें अठारहवार मरते तथा जन्मते हैं, फिर भी उनकी सत्ता पृथक् पृथक् है। जीव तो परस्परमे भिन्न हैं किन्तु एक द्रव्यमे जितने गुण है उनका स्वरूप भी भिन्न भिन्न है। जैसे पुद्गल द्रव्य स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णवाला है फिर भी स्पर्शादि गुण भिन्न भिन्न हैं। एवं आत्मामे जो सम्यग्दर्शन गुण है वह भिन्न है, ज्ञान गुण भिन्न है। ज्ञान गुणको छोड़कर शेप सब गुण निर्विकल्प हैं।

(१२।११।५१)

मोह महाभट

१. संसारकी प्रक्रियाओंको देख मोही जीव नाना कल्पनाएँ करता है। होनेवाले कार्योंको कोई परमेश्वरकी इच्छा से, कोई

कर्मके उदयसे, तो कोई भवितव्यतासे होना मानता है परन्तु यह निर्विवाद सिद्ध है कि जबतक मोहका सद्भाव है तबतक आत्मा दुखोंका पात्र है। जब तक मोहकी लहर है तबतक संसार है। जबतक संसार है तबतक आकुलता है। आकुलता ही दुःख है और प्रत्येक मनुष्य दुःखसे छूटना चाहता है। छूटनेका उपाय सत्यश्रद्धा है। सत्यश्रद्धाके विना न तो सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति होती है और न सम्यक्चरित्रकी ही। और जबतब सम्यक्चरित्रकी उत्पत्ति नहीं होती तबतक मोक्ष नहीं।

(३० । १ । ४७)

२. वास्तवमें आत्माका कार्य तो जानना और देखना ही है। कषायके जितने कार्य हैं वे आत्माके सहभावी नहीं फिर भी जीवोंको मोहके सद्भावमें सभी कार्य करने पड़ते हैं। कौन चाहता है कि मुझे भूख लगे, प्यास लगे, काम वेदना हो फिर भी यह सब वेदनाएँ होतीं हैं और उनका प्रतीकार इसे करना पड़ता है। अन्यकी कथा छोड़ो सबसे प्रकृष्ट पुण्यशाली पुरुष तीर्थङ्कर होते हैं उनको भी नोकषायके उदयमें चतुर्थ गुणस्थानमें उसका प्रतीकार करना पड़ा अन्यथा आदिनाथ भगवानके १०० पुत्र और २ कन्याएँ कहाँसे आई? तथा षष्ठ गुणस्थानमें असाताकी उदीरणामें आहारके लिये जाना पड़ा। अतः सिद्ध होता है इन आठ कर्मोंमें सबसे प्रबलतम मोह कर्म है जिसके द्वारा सात कर्मोंको रस मिलता है और वह स्वयं रहता है। जिन्हें आत्मकल्याण करना हो उन्हे सबसे पहिले इसकी सत्ताको मिटाना चाहिए। इसकी सत्ता ही चतुर्गति संसारका मूल है।

(२० । ५ । ४७)

३. मोहका विलास अद्भुत है। अभी तक तुमने जाना ही

नहीं। जिस दिन जान जाओगे उसी दिन मोक्षमार्गकी सीढ़ी पर पहुँच जाओगे।

(१४।६।४७)

४. हम अपने मोहके अनुकूल पर पदार्थमें इष्ट या अनिष्ट कल्पना कर लेते हैं यही कल्पना अशान्तिका मूल है। अशान्तिका अर्थ है कि वह पदार्थ हमारे अनुकूल होता है तव हम उसके सद्भावका प्रयास करते है। उसमे चाहे हमारा सर्वस्व भी लग जावे।

(३०।८।४७)

५. लोग सरल हैं, प्रत्येकके जालमे आ जाते हैं। अनादिसे मोहके जालमे फँसे हैं। कोई निवारण करनेवाला नहीं। स्वयं ज्ञानार्जनसे वञ्चित रहते हैं, पर मानते नही। या तो स्वयम्बुद्ध मनुष्य हो, या परकी माने, तीसरा उपाय नही।

(३०।८।४७)

६. कोई न तो किसीको फँसाता है और न कोई फँसता है। मोही जीव कल्पना करता है कि 'मुझे फँसा लिया, मै फँस गया' इत्यादि विकल्पोसे दुःखका अनुभव करता रहता है।

(२४।४।४८)

७. परमार्थसे तो मोही जीव सदा ही दुखी रहता है। उसकी दृष्टि ही दूपित रहती है। उसे वास्तवमे आत्मबोध नहीं होता।

(१३।७।४८)

८. शारीरिक दुर्वलता उतनी घातक नहीं, आत्माकी निर्वलता महती घातक है। मोह परिणाम आत्माके वास्तव गुणके घातक है। जिन्हे संसार दुःखसे अपनी रक्षा करना है उन्हे उचित है कि मोहको त्यागें।

(२६।७।४८)

९. अनन्त पर्याय मुनि लिङ्ग धारण कर ग्रैवेयिक देव हुआ परन्तु मोहोपशमके विना आत्मा संसारी ही रहा। संसारका अन्त यदि इष्ट है तो मोहकी परिणतिसे अपनी रक्षा करो। मनुष्य जन्मका लाभ सहज नहीं मिलेगा।

(२८।१०।४८)

१०. सभी पदार्थ अपनी-अपनी सत्ता लिये हुए परिणमनशील है। कोई पदार्थ किसीके साथ सम्बन्ध नहीं रखता। जिस पदार्थमें जो गुण पर्यायें हैं उन्हींके साथ उनका तादात्म्य हो रहा है चाहे वे चेतन हो चाहे अचेतन हों। चेतन पदार्थका तादात्म्य चेतन गुण पर्यायके साथ है यह निर्णीत है किन्तु अनादि कालसे मोहका सम्बन्ध आत्माके साथ हो रहा है। मोह पुद्गल द्रव्यका परिणमन है किन्तु जब उसका विपाक काल आता है उस कालमें यह आत्मा रागादि रूप परिणमन करता है। आत्मामें चेतन गुण है, उसमें यह आत्मा है, उसे ज्ञान जानता है। ज्ञान गुणका काम जानना है। जैसे दर्पणमें स्वच्छता है, उसमें अग्निका प्रतिबिम्ब पड़ता है किन्तु अग्निमें जो उष्णता और ज्वाला है वह दर्पणमें नहीं है। एवं ज्ञान गुण स्वच्छ है, उसमें मोहके उदयमें रागादि होते हैं वे आत्माकी उपादान शक्तिसे ही हुए हैं, नैमित्तिक हैं। यह उन्हें स्वभाव मान लेता है यही इसकी भूल है। यही भूल अनन्त संसारका नियामक है। जिन्हें अनन्त संसारसे पार होना हो वे इस भूलको त्यागें। संसारको निज मत बनाओ और न निजको संसार बनाओ। न तुम किसीके हो और न कोई तुम्हारा है परन्तु मोहके आवेगमें तुम्हें कुछ सूझता नहीं।

(१४।१।५१)

११. सभीकी इच्छा होती है कि सांसारिक द्वन्द्वसे निवृत्त हो शान्तिमार्गका आश्रय करें परन्तु जबतक उसका बाधक कारण

अपना ही मोह राग द्वेष परिणाम अन्तरङ्गमे सतर्क है इच्छा फलवती नही हो पाती !

(११ । १ । ५१)

१२. अन्यकी कथा छोड़ो जो जीव सम्यग्ज्ञानी हो चुके हैं वे भी अभिप्रायसे तो कुछ करना नहीं चाहते परन्तु फिर भी जो औद-यिक कपाय विद्यमान है उसके अनुकूल कार्य करते ही हैं। यद्यपि उनके प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार गुण प्रगट हो चुके है, असंख्यात लोक प्रमाण कपाय और विपयोंसे मनको शिथिल कर चुके हैं फिर भी विपयोमे प्रवृत्ति देखी जाती है। अन्य सामान्य मनुष्योंकी कथा छोड़ो जो तीर्थङ्कर है जिनके द्वारा अन्य जगतका कल्याण होना है वे भी इस चारित्रमोहके उदयमे सामान्य मनुष्यो के सदृश ही व्यवहार करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि चारित्र मोहके उदयमे महान् आत्मा भी दिगम्बर पद धारण करनेको असमर्थ रहता है। जिनकी सामर्थ्य अनन्त है वे भी इसके उदयमे उदासीनताको छोड़ विशेष पुरुषार्थ करनेमे असमर्थ हैं। तव अन्यकी कथा ही क्या है? किन्तु यह भी पुरुपार्थ सम्य-ग्दर्शनके सद्भावमें होता है। सकल कार्य करते हुए भी कर्तृत्वके पात्र नहीं बनते।

(१२ । ३ । ५१)

१३. ऐसा प्रवल मोह है कि अपनी उन्नतिके लिये समर्थ होते हुए भी यह जीव कुछ नहीं कर सकता। ज्ञानार्जन करना प्राणी मात्रके लिये आवश्यक है और अवकाश भी प्रत्येकके पास है किन्तु यह मोही उसमें प्रयत्न नहीं करता, इधर-उधरकी कथाएँ करके निज समयको विता देना ही इसका कार्य है।

(१५ । ३ । ५१)

१४. यद्यपि वस्तुतः कोई पदार्थ किसीका परिणमाया नहीं

परिणमता यह निर्विवाद सिद्धान्त है। फिर भी अपनी मोह परिणतिसे व्यर्थ ही कर्ता बनते हैं। कर्तृत्वभाव ही संसारका कारण है। यही मोहवश आत्माको कर्ता माननेमें कारण होता है। सभी द्रव्योंका परिणमन स्वाधीन है, कोई द्रव्य किसीको परिणमाता नहीं केवल निमित्त है।

(२३ । ४ । ५१)

१५. न जाने यह जीव अपना परका भेद जानकर भी निरन्तर परको क्यों अपनाता है? यद्यपि प्रत्येक प्राणीका यह विश्वास है कि परके द्वारा हमारा सुख दुःख कुछ भी नहीं होता फिर भी अनादि मोहका ऐसा विभ्रम है कि इन्हींकी संगतिमें आत्मीय कल्याण देखता है। सामान्य मनुष्यकी कथा तो कर रहे, बड़े-बड़े महापुरुष भी सम्यग्दृष्टि होकर इन पदार्थोंके संसर्गको छोड़नेमें असमर्थ रहते हैं। श्री रामचन्द्रजी महाराज जैसे महापुरुष लक्ष्मणके मोहकी बलवत्तासे सीताजीके आर्या होने पर भी गृह नहीं त्याग सके। जब उनका मरण हो गया तब भी छह मास तक उनका मृत शरीर लेकर भ्रमण करते रहे। विभीषण आदिने बहुत कुछ समझाया परन्तु एककी न सुनी! क्या उनको यह ज्ञान नहीं था कि यह निर्जीव है, परन्तु मोहकी प्रबलताने इतना विह्वल बना दिया कि बालकों जैसी चेष्टा करते रहे। जब छह मास पूर्ण हो गये, उस मोहकी मन्दता हुई तभी विरक्त हुए अतः जहाँ तक बने ऐसा मोह किसीसे न करो जो जन्म-जन्म दुःखका कारण हो। आत्मा ज्ञान दर्शन वाला है उसे ज्ञाता दृष्टा ही रहने दो। मिथ्या भावके आवेग में उसे रागी द्वेषी मत बनाओ। अन्यथा पछताओगे।

(४ । ५ । ५१)

१६. संसारमें जो जीव हैं उनके स्निग्ध परिणाम होता है उस परिणामसे मोहादि कर्म होता है। कर्मसे कोई गति होती है,

गतिसे देह होता है और देहसे इन्द्रिय होती है। इन्द्रियोंसे विषय ग्रहण होता है और विषयसे रागद्वेष होते है। रागादि परिणामोंसे अन्यतम गतिमें जाता है। गतिकी प्राप्तिसे देह होता है, देहसे इन्द्रियाँ होती हैं, उनसे विषय ग्रहण होता है, विषयसे रागद्वेप भाव होते है? इस प्रकार संसार चक्रमें यह जीव अनादि अनन्त-काल तक भ्रमण करता है।

किसीका अनादि होने पर भी स्वरूपोपलब्धिसे सान्त हो जाता है।

आत्मामें जो मोह परिणाम होता है वही संसार भवनकी भित्ति है। उसीके सहकारसे रागद्वेप भाव होते हैं। यद्यपि इनकी सत्ता मोहसे भिन्न है परन्तु इस मोहके सहकारसे ही उनमें पुरुषार्थ रहता है। मोहका नशा इतना प्रबल है कि उसमें आत्माके स्वपर-का भेद ज्ञान नहीं होता। पर पदार्थोंमें आत्मीय सत्ताकी कल्पना करता है। मोहका निर्वचन करना अति कठिन है। इसके उदयमें आत्मामें विपरीत अभिप्राय होता है और जब यह चला जाता है तब यह आत्मा स्वतः परको पर मानता है, उनको निज नहीं मानता। उसका वर्णन इस तरह है। जैसे किसीको कामला रोग था वह उस अवस्थामें दूधको पीला देखता था और यदि उसे दूध दिया जावे तब उसे पीला जान पीनेकी इच्छा नही करता। यह इच्छा उसे होती है। वही जन्मान्तरका अनुमापक है।

(११।५।५१)

१७. अनादिसे अनायास ही परका सम्बन्ध बन रहा है। किसने बनाया? इसकी मीमांसा तुम क्या कर सकते हो? जिसके त्रिकालवर्ती निखिल पदार्थोंकी पर्याय ज्ञानमें आ रही है वह कहता है—'अनादिसे यह सम्बन्ध है'। प्रमाण भी है कि यदि ऐसा न होता तो तुम्हीं बताओ तुम्हारे पिता कौन थे?'

'अमुक थे।'

'उनके कौन थे?'

'अन्य थे।'

फिर उनके कौन थे?'

'और अन्य थे।'

अन्ततो गत्वा स्वीकार करना ही पड़ता है कि—'अनादि सम्बन्ध है। हम इससे अधिक कुछ नहीं जानते।' वह ज्ञानी भी यही कहेगा अतः इस विकल्पको त्यागो। यह सम्भव भी है। जिसको अपना कुल विध्वंस करना हो विवाह नहीं कराने। इसी तरह जिसे आत्मीय संसारका विध्वंश करना इष्ट है उसे उचित कर्तव्य यह पालन करना चाहिये कि मोहादि भावोमें आसक्ति त्यागे। समय पाकर आपसे आप इनकी अनुत्पत्ति होने लगेगी।

(१५।५।५१)

१८. संसार क्या है? रागद्वेष और इनका मूल मोह यह मिलकर ही संसारके प्रवर्तक हैं। जहाँ पर पदार्थोंमें निजत्व बुद्धि हुई वहाँ पर जहाँ मोह हुआ वहाँ उसमें प्रीति रूप परिणाम होने लगा। जहाँ प्रीति तहाँ अप्रीति होनेका अवसर अनायास आ ही जाता है। अन्यकी कथा छोड़ो यह शरीर कितना प्रिय और सुन्दर मालूम होता है। परन्तु जब रोगसे आक्रान्त हो जाता है तब अनायास ही इससे अरुचि होने लगती है। यहाँ तक लोग कहते हैं कि मर जावें तो अच्छा है। देखा भी जाता है जब असह्य वेदना होती है तब विष खाकर मनुष्य अपने प्राण गमा देता है। अतः संसारसे मुक्त होना अभीष्ट है तो मोहको त्यागो।

(१७।५।५१)

१९. संसारमें अनन्तानन्त जीव है और पुद्गल द्रव्य इनसे भी अनन्तगुणे हैं। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, तथा आकाशद्रव्य ये

तीनों द्रव्य एक एक ही हैं। काल लोकप्रमाण असंख्यात द्रव्य हैं। इन द्रव्योंमें चार द्रव्य स्वभावतः शुद्ध हैं, इनमें विभाव शक्ति नहीं। अतः एक भी विकृतभावको नहीं परिणमता। जीव और पुद्गल दो द्रव्य ही ऐसे हैं जो विकृतावस्थाको प्राप्त होते हैं। यही कारण है कि गृद्धपिच्छने जीवके दो भेद बताए—संसारी और मुक्त। पुद्गलके भी अणु स्कन्धके भेदसे दो भेद बताए। जीवका लक्षण कुन्दकुन्द भगवानने प्रवचनसार पञ्चास्तिकायमे लिखा है—

जाणदि पस्सदि सव्वं इच्छदि सुक्खं विभेदि दुक्खादो।

(प्र० १८५)

कुव्वदि हिदमहिदं वा भुंजदि जीवो फलं तेसिं।

(पञ्चास्तिकाय १२२)

२०. सबको जानता है, देखता है, सुखकी अभिलापा करता है, दुःखसे भय खाता है। शुभाचार और अशुभाचारको करता है और उनके फल भोगता है। इस स्वरूपसे अनायास ही जीवका बोध हो जाता है। हम लोग अनादि कालसे मोहकी नदीमे इतने उन्मत्त हो रहे हैं कि अनायास ही जिस तत्त्वका बोध भगवान् कुन्द-कुन्द महाराजने बताया है उसे नहीं जानते। बड़े-बड़े पण्डित और त्यागियोके द्वारा उसे जाननेका प्रयास करते हैं। अन्ततो गत्वा वह लोग भी क्या कहेगे? कोई 'उपयोगो लक्षणम्' कह उसकी व्याख्या कर देते हैं कोई—

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥

जीव ज्ञानोपयोग-दर्शनोपयोगवाला है, अमूर्तीक है, कर्मोंका कर्ता तथा अपने ही देहके प्रमाण है, कर्मोके फलका भोगनेवाला,

संसारी, सिद्ध तथा स्वभावसे ही ऊर्ध्वगतिवाला है। द्रव्यसंग्रहकी यह गाथा पढ़कर सन्तोष करा देते हैं परन्तु परमार्थसे विचारो तो जो लक्षण कुन्दकुन्द महाराजने किया वही तो सबमें आता है।

(१८।५।५१)

२१. परमार्थसे तो सभी द्रव्य स्वतन्त्र हैं। किसीका तादात्म्य किसीसे नहीं है। पर मोहसे परको अपना मानकर उन्हें अपनानेकी चेष्टा करना क्या न्याय है। परन्तु मोहमें यही न्याय है। जिसने मद्य पानकर लिया उसका पत्नीको माँ कह देना कोई कठिन नहीं। अतः जिन्हें आत्मकल्याण करना हो वे इन पर पदार्थोंमें निजत्व माननेकी जो अनादि प्रकृति है उसे त्यागें।

(२०।५।५१)

२२. 'कैवल्यपद प्राप्ति अतिदुर्लभ है' यह बात मोही जीव कहते हैं। मोही जीव अनादिसे पर पदार्थोंको अपना मानते हैं और अपनेको पराया मानते हैं। उन्हें कैवल्य हो ही कैसे सकता है? यद्यपि सर्वदा आत्मा केवल ही है दूसरे द्रव्यका अंश भी उसमें आया नहीं और न आ सकता है परन्तु इसके ज्ञानमें परमें निजत्वकी बुद्धि है इसीसे निरन्तर खिन्न रहता है। खिन्नता कहींसे आती नहीं। हम स्वयं विवेकके अभावमें उन्मत्तवत् चेष्टा करनेमें ही सुख मानते हैं। वास्तवमें सुख है नहीं। सुखकी परिभाषा है—'किसी प्रकारकी आकुलता जहाँ न हो उसीका नाम सुख है।' यदि सुखकी परिभाषा यही है तब तो प्रायः संसारी मनुष्य सभी सुखी हो जावेंगे। जब इस प्राणीको रूप देखनेकी इच्छा होती है उस कालमें रूप देखनेके अर्थ यह व्याकुल रहता है। यही दुःख है। किन्तु जब रूप देख चुकता है उस कालमें तो सुखी कहो। परन्तु उसे सुखी कोई कहता है? वह स्वयं अपनेको सुखी नहीं कहता। इसका कारण यह कि इसे उसी समय विषयान्तरकी

इच्छा उत्पन्न हो जाती है। अथवा वासनामें अनेक प्रकारके संकल्प रहते हैं जो प्रायः प्रत्येक मनुष्यके अनुभवमें आ रहे हैं। यही कारण है जो लोकमे प्रायः सभी दुःखी देखे जाते हैं। सुखका अनुभव उसीको होगा जो सब चिन्ताओंसे रहित हो जावे। अन्यकी कथा छोड़ो जो घर छोड़ देते हैं वे भी गृहस्थोंके सदृश व्यग्र रहते है। कोई तो केवल परोपकारके चक्रमें पड़कर स्वकीय ज्ञानका दुरुपयोग कर रहे हैं। कोई हम त्यागी हैं, हमारे द्वारा संसारका कल्याण होगा ऐसे अभिमानमे चूर रहकर काल पूर्ण करते हैं।

(३१।५।५१)

२३. कोई मोहको अच्छा मानो तो मानो परन्तु वह सुख-दायी नही। जिसके द्वारा पर पदार्थमे आकुलता हो वह काहेका हितू ? आजतक इसी भ्रान्तिने हमे बहुबिध आकुलतारूप आपत्तियोका पात्र बनाया। यदि कोई भ्रान्तिसे रज्जुमे सर्पकी भ्रान्ति कर ले तव सिवाय भयादिकके अन्य फल नहीं। भ्रान्तिका कारण रज्जुके ज्ञानका अभाव ही तो है। यदि रज्जुका ठीक ज्ञान हो जावे तो उसी समय भ्रान्तिका अभाव होनेसे मनुष्यके भय आदि अनायास चले जाते हैं। इसी तरह हम अनादिसे इस पञ्चभौतिक शरीरको ही आत्मा मान रहे हैं। अतः शरीरको ही पुष्ट करनेकी चेष्टा करते रहते है, क्योकि भिन्न आत्माका परिज्ञान नही हुआ। आत्मा ही ज्ञाता-दृष्टा है। शरीरको आत्मा माननेवाला यह तो मानता ही है कि मैं हूं, क्योकि 'मै हूँ' यदि यह ज्ञान न हो तव अपने शरीरसे भिन्न जो परका शरीर है उसे भी अपना मानने लगे सो मानता नहीं अतः निज शरीरमे ही आत्मा मानता है। मेरी समझमे न तो आत्माका ज्ञान है और न शरीरका ही ज्ञान है। क्या है ? कुछ ज्ञानमें नहीं आता। अनध्यवसाय ज्ञानके सदृश

ही यह ज्ञान है। इसी अनध्यवसायके द्वारा आजन्मसे पर्यायमे आत्मा मान दिन व्यतीत करता है।

(२०। ६। ५१)

२४. इस भयानक अरण्यमे भ्रमते भ्रमते हमको कितने संकटोका सामना करना पड़ा उनका हम वर्णन नहीं कर सकते अन्यका तो वर्णन ही क्या करेंगे? जिस जीवके जो पर्याय होती है उस पर्यायका उसके साथ तादात्म्य होता है। उस पर्यायको वही जीव अनुभव करता है। अन्य जीव चाहे सर्वज्ञ हो उस पर्यायका जाननेवाला है अनुभव नहीं कर सकता। जब यह सिद्धान्त है तब भगवानको दयालु क्यो कहा? कहाँ कहा कि भगवान दयालु है? भगवान तो वीतराग हैं, उनके न तो दयालुता है, न अदया-लुता है। अस्तु, जो अल्पज्ञ हैं उनके ज्ञानमे भी हमारा दुःख भासित नहीं होता। वह भी निजके ज्ञानमे जो आया उससे स्वयं दुःखी हो जाते हैं और फिर दुःखको दूर करनेके अर्थ प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार मोही जीवोका परिणमन है। हम यह कल्पना करते हैं कि अमुकने अमुकके ऊपर महती अनुकम्पा की परन्तु वस्तुतः कोई भी जीव किसी पर अनुकम्पा करनेवाला न तो आज तक हुआ, न है और न होगा। जितने व्यवहार हैं मोही जीवोकी कल्पनाके विषय हैं।

(२२। ६। ५१)

२५. चित्तमे जो अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ आती हैं उनका उत्पादक कौन है? इस पर विशेष विचारकी आवश्यकता है। चित्त कहो या मन एक ज्ञानविशेष है। ज्ञानमे पदार्थ प्रतिभास-मान होता है। किन्तु जो प्रतिभास्य होता है वह वस्तु अन्य है, कदापि प्रतिभास्य जो पदार्थ है वह जिससे प्रतिभासित होता है वह नहीं हो जाता। जैसे दर्पणमे बिम्ब पड़ता है। जिस वस्तुका

प्रतिबिम्ब पड़ता है दर्पण वह वस्तु नही हो जाता। हाँ, वर्तमानमें जो परिणमन हो रहा है वह परिणमन दर्पण ही का है। परमार्थसे विचार किया जावे तब दर्पणमे पर वस्तुके निमित्तसे वह पर्याय हुई अतः उस पर्यायको दर्पणकी स्वच्छताका विकार कहा जाता है। इसी प्रकार ज्ञानमे ज्ञेय आता है। क्या आता है? कुछ आता-जाता नहीं। कुछ ऐसी प्रक्रिया बन रही है जो ज्ञानमे ज्ञेय जैसा आकार प्रतिभासित होता है। वह परिणमन ज्ञान हीका है। इसीसे विज्ञानाद्वैतवादीका कहना है कि **"यत् प्रतिभासते तत्प्रति-भासान्तःप्रविष्टं सत् प्रतिभासस्वरूपमेव प्रतिभासमानत्वात् प्रतिभासस्वरूपवत्।"** यदि ज्ञेयरूप ज्ञान हो जावे तब ज्ञानमे जो स्वपर प्रकाशकत्व है ध्वस्त हो जावेगा। जैन सिद्धान्तसे आत्मा अनन्त गुणोका पिण्ड है, रहो, उसमे महत्ता इस बातकी है कि जो ज्ञानमे स्वपरप्रकाशकत्व है। अजीवमे नही। एतावता अजीव भी महान् है। वास्तवमे न तो कोई महान् है और न कोई लघु है। मोह ही यह सब व्यवहार कराता है। मोह जानेके बाद ये सब व्यवहार विलीन हो जाते है।

(२५।६।५१)

२६. दुःखका मूल कारण परके साथ समागम है। मोहके बिना परका समागम कदापि नही होता। वह अनुमापक है अतः परका समागम छोडनेकी आवश्यकता नहीं। आवश्यकता इस बातकी है कि आत्मस्थित जो मोह है वही दुःखदायक वस्तु है। जिस महान् आत्माने उसपर विजय प्राप्त की वही इस संसारके क्लेशोसे निर्वृत्त हो सकता है। अर्थात् जो क्लेशका मूल है उसपर विचार करो। यह क्या वस्तु है? कुछ नहीं। तुम्हारी ही मलिन परिणति-का यह ठाठ दृष्टिपथ हो रहा है. जिस समय चाहो उसे दूर कर

सकते हो। जो कारीगर मकानका निर्माण करता है वह उसे ढह भी सकता है परन्तु ढहनेका भाव हो तभी। हमने आत्मीय अज्ञान परिणामोंसे यह जगत बना रक्खा है। यदि हम अन्तरङ्गसे प्रयास करें तब आज ही इसी समय इस प्रबल वैरीका विध्वंश कर सकते हैं। जो भाव हममें होता है, तथा हमारी अज्ञानतासे हुआ उसे दूर करना कौनसी कठिन बात है? अज्ञानताकी निवृत्ति ही तो करना है। अज्ञानताका अवबोध ही तो अज्ञानताके हटानेमें कारण है। भ्रमका ज्ञान हो जाना ही भ्रमके दूर होनेका कारण है। जैसे रज्जुमें किसीको सर्पज्ञान हो गया, यह भ्रम कैसे मिटे? भ्रम ज्ञानका यथार्थ ज्ञान हो जाना ही तो भ्रम मिटनेमें कारण है। जिस कालमें रज्जुमें सर्पज्ञान होता है उसीका नाम भ्रम विपर्यय ज्ञान है।

(१।८।५१)

२७. यद्यपि वस्तु स्वरूप तो यह कहता है कि एक पदार्थ अन्य रूप नहीं होता परन्तु मोहमें परिणमन अन्य रूपसे ही होता है। अर्थात् मोही जीव यही मानता है कि मैं परपदार्थके परिणमन का कर्ता हूँ, यह पदार्थ मेरे द्वारा परिणमन करते है। यदि मैं न होता तब ये क्या इस रूप हो जाते? हमारे ही प्रयाससे आज आप इस वैभवको प्राप्त हुए। यह सब महती अज्ञानता है। सिद्धान्त तो यह कहता है कि—

"सर्वं सदैव भवति नियतं स्वकीय-
कर्मोदयान्मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परात्परस्य
कुर्यान्मरण-जीवित-दुःख-सौख्यम्।"

अपने कर्मोदयसे जीना, मरना, सुख, दुःख सभी सदा ही

होते हैं। जो यह मानता है कि परसे परका सुख, दुःख, जीवन, मरण होता है वह मिथ्यादृष्टि है। प्राणीका जीवन अपने आयुकर्मके अधीन है। आयुकर्म अपने परिणामोंसे अर्जन किया जाता है, अन्य कोई अन्यको आयु नही दे सकता। तब मैंने इसको जिलाया, मैं इसके द्वारा जीता हूँ यह सब मानना मिथ्या है। इसी प्राणीका जो मरण होता है अपने आयु कर्मके क्षीण हो जाने पर होता है। अन्य मनुष्य आदि अन्यकी आयुको क्षीण नहीं कर सकते। अपने भोगसे आयुकर्मका क्षय होता है फिर यह मानना कि हमने इसे मारा, इसके द्वारा हम मारे गये, यह भी मिथ्या कल्पना है।

(४।८।५१)

२८. जीवोंमें परस्पर सौमनस्य नहीं, एक दूसरेसे प्रेम नहीं करते, यह सब मोहकी महिमा है। यद्यपि पर पदार्थसे मोह करना अच्छा नहीं और आगममे उपदेश भी निरन्तर मोह दूर करनेका दिया जाता है। वक्ता लोग भी 'मोह त्यागो' यही उपदेश निरन्तर देते हैं फिर आप इसको क्यो अच्छा नहीं मानते? यह ठीक है जहाँ परस्परमे स्नेह नही होता, वहाँ पर जो स्नेहका त्याग है वह द्वेष नही है। त्यागमे उपेक्षाबुद्धि होना परमावश्यक है। आज कल जो त्याग है वह केवल जहाँ अपने अनुकूल प्रवृत्ति नहीं हुई वहाँ उस पदार्थसे उदासीन हो गये। इसका अर्थ यह नही कि उससे विरक्त हो गये, उससे द्वेष करने लगे। उपेक्षा ही वीतरागतारूप है, सम्यग्दृष्टिके जो उदासीनता होती है वह उपेक्षाका अंश है अतः उसमे वीतरागभावका अंश है, मिथ्यादृष्टिका जो त्याग है सो द्वेष रूप है। जहाँ द्वेष है, वहाँ राग अवश्य है, अतः जिनको कल्याणका मार्ग स्वीकार करना है वे द्वेष त्यागें।

(१४।८।५१)

२९. आत्मामें जो अशान्ति होती है उसमें मूल कारण मोह है। उससे ही यह सब हलचल होती है। कहाँ तक कहें यह चतुर्गतिका सम्बन्ध उसीके विभवका फल है। यदि हमको किसी वस्तुकी आवश्यकता होती है तब उसे पानेका प्रयत्न प्राणपनसे करते हैं। वह वस्तु जब हमको प्राप्त हो जाती है हम हर्षसे फूल जाते हैं, मानो सर्वस्व मिल गया। यदि कोई इसमें बाधक हो गया तब उसे शत्रु मान लेते हैं। और साधक हो गया तब मित्र मान लेते हैं। इस तरह हम निरन्तर मोहके चक्रमें रहकर भेद-ज्ञानके पात्र नहीं बनते।

(२०।८।५१)

"अहो निरञ्जनः शान्तः बोधोऽहं प्रकृतेः परः।
एतावान्तुमया कालः मोहेनैव विडम्बितः॥"

३०. बड़े आश्चर्यकी बात है कि मैं निरञ्जन हूं, रागादि उपद्रवोंसे रहित शान्तस्वभावरूप हूँ, तथा ज्ञान स्वरूप हूं परन्तु एतावान् काल मैंने मोहके द्वारा बिता दिया। अनादि कालसे जो पर्याय पाई उसीमें अपनत्वकी कल्पना कर ली। यद्यपि यह असमान जातीय पुद्गल और जीव दोनोंकी मनुष्य पर्याय है किन्तु मैंने अपने स्वरूपको न जान बन्ध पर्यायको अपना माना कि यह पर्याय मेरी है, यह मैं हूँ, इत्यादि अहंकार ममकारके द्वारा ठगाया गया। नहीं चलायमान है चेतनाका विलास जहाँ ऐसा जो आत्मा उसके व्यवहारसे च्युत होकर समस्त क्रिया कुटुम्बको अपना मानकर मनुष्य व्यवहारको आश्रयकर कहीं रागी होता है, कहीं द्वेषी होता है। पर द्रव्य कर्मकी संगत करता हुआ पर समय होता है। अर्थात् जहाँ पर द्रव्यको अपना मानता है वहीं परसमय हो जाता है। जो परसे भिन्न अपने आत्माको मानता है। यह जो पर्याय है

वह केवल मेरी नहीं, इसमें पुद्गल द्रव्यका समावेश है। मैं तो चैतन्यका पिण्ड ज्ञान-दर्शनवाला आत्मा हूँ, ज्ञाता-द्रष्टा हूं। यह जो परद्रव्यका सम्पर्क है वह अनादिकालसे जो मेरी आत्मामे कर्मका सम्वन्ध है उसके निमित्तसे है। अब इससे मोहको त्यागता हूं, अपने आत्मामे ही अपनेको मानता हूं।

(१० । ९ । ५१)

३१. मोहके सद्भावमे नाना कल्पनाओंका जन्म होता है। जितने महानुभाव धुरन्धर लेखक हुए हैं सभीने प्रायः अपने विचारोमे सबसे बलवान् शत्रु आत्माका मोह माना परन्तु ऐसा उपाय देखनेमे न आया कि इस शत्रुसे पिण्ड छूट जावे। हम भी निरन्तर यही कहते रहते है कि 'मोह वञ्चक है' यह तो कहनेकी बात है। दूसरोंपर प्रभाव डालते हैं परन्तु जब अपनी ओर दृष्टिपात करते हैं तब अणुमात्र भी उसके त्याग करनेमे अपनेको असमर्थ पाते हैं। मोहकी कथा तो दूर रही, पञ्चेन्द्रियोंके विषय जिनके त्यागमे अणुमात्र भी कष्ट नहीं, उनके भी छोड़नेमे असमर्थ है। यदि किसीने प्रकृति विरुद्ध कोई बात कह दी तो आगवबूला हो जाते है। यद्यपि किसीने क्रोधके आवेगमे आकर कुछ शब्द कह दिये तो जिसने शब्द कहे उनका उत्पादक जो है वही तो उनके फलका भोक्ता होगा, उससे हमारा क्या सम्बन्ध? कर्ता और भोक्ता पृथक्-पृथक् नहीं होते—जो कर्ता सो भोक्ता परन्तु हम व्यर्थ ही कल्पनाकर दुःखके भाजन बन जाते हैं।

(१४ । १० । ५१)

३२. जहाँ कषायोके द्वारा मन वचन कायके व्यापार है वहाँ ही बन्धन हैं। कषायके अभावमे मन-वचन-कायके व्यापार रहो, आत्माका कोई घात नहीं। जैसे पङ्कके अभावमे वायुके वेगसे भी पानीकी स्वच्छताका घात नहीं होता केवल प्रदेश कम्पनमात्र ही

होता है अतः आवश्यकता है कि हम आत्माको कलुषित करनेवाले मोह, राग, द्वेषको दूर करें। मन-वचन-कायके व्यापार स्वयमेव काल पाकर मिट जावेंगे। वृक्ष जब मूलसे उखाड़ दिया जाता है तब उसकी सचित्तावस्था अल्पकालमें ही विना प्रयासके स्वयमेव चली जाती है। इसी तरह आत्मासे जब मोह राग द्वेषकी निवृत्ति हो जाती है तब अनायास ही शेष चार अघातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं। अष्टावक्र गीतामें लिखा है—

"मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु॥"

पञ्चेन्द्रियोंके विषयमें अनुराग मोही जीवोंके रहता है; क्योंकि वह परको निज मानता है। जब आत्मासे मोह पलायमान हो जाता है तब यह परमें निजत्व बुद्धि छोड़ देता है। इसके बाद उसके भोगनेमें जो रस आता है वह उसमें आपसे आप उपेक्षा कर देता है। जिससे उपेक्षा हो जाती है उसमें रस काहेका? अर्थात् परमार्थसे जब पदार्थोंको पर जान लिया तब न तो उनमें राग होता है और न द्वेष। जबतक हम उनको उपकारी और अनुपकारी जानते हैं तभी तक उनके साथ राग और द्वेष करते हैं। जब यह निश्चय हो गया कि ये पर हैं, न तो हमारा कल्याण कर सकते हैं और न अकल्याण कर सकते हैं, केवल हमारी अनादि कालसे यह धारणा थी कि राग द्वेषका मूल कारण ये परपदार्थ हैं तावत् हम उनकी सत्ता असत्ता करनेमें व्यग्र रहते थे। यद्यपि यह असम्भव है कि हम किसीकी रक्षा अरक्षा कर सकें। संसारमें जितने पदार्थ हैं वे उतने ही रहेंगे तथा उनके परिणाम भी निरन्तर धारावाह रूपसे रहेंगे। हम न तो किसीके अस्तित्वको रख सकते हैं और न मिटा सकते हैं, केवल मोहके नशामें अन्यथा श्रद्धानकर

इस अनन्त संसारकी विविध यातनाओंके पात्र बन रहे हैं। जिन्हे इन यातनाओंसे मुक्त होना है उनको उचित है कि इस मिथ्या धारणाका हृदयसे निष्कासन कर दें। जो पदार्थ है वे स्वतःसिद्ध हैं, तथा उनका परिणमन भी स्वतःसिद्ध है। कोई शक्ति ऐसी नही जो हम अनन्त पदार्थोंकी प्रवाह परम्पराको अन्यरूप कर सकें। जीव सर्वदा जीव ही रहेगा।

(१८।१०।५१)

३३. हम सर्वदा पराश्रित रहकर आत्मीय उत्कर्ष और अपकर्षकी कल्पना करते हैं। उत्कर्ष और अपकर्ष यह दोनों विकृत भाव हैं। तथा इनका मानना भी मोहसे होता है। मोही जीव पर्याय बुद्धिवाले होते हैं जो बात इनको रुचिकर हुई और उसका लोग प्रचार करने लगे तो हर्षसे फूल गये और जो वात रुचिकर न हुई और लोग उसका प्रचार करने लगे तो दुखी हो गये।

(१।११।५१)

३४. (जितने जीव हैं सबका परिणमन स्वाधीन है। हम मोहके आधीन होकर परको अपने रूप परिणमन कराना चाहते हैं, पर यह असम्भव है।)

(१७।११।५१)

३५. अनादि कालसे हमने मोहके वशीभूत होकर आस्रव ही को अपनाया, आत्मतत्त्वकी श्रद्धा नहीं की। इसीका यह फल हुआ कि निरन्तर पर पदार्थोंके अपनानेमें ही समय गमाया। यद्यपि ये पदार्थ आत्माके स्वरूपसे भिन्न है। यह मोही जीव उन्हें निज मानकर अपनानेकी चेष्टा करता है। आत्माका स्वभाव देखना जानना है। साम्यभाव वदलकर क्रोधादि कषाय हो जाते हैं, उनसे वह कलुषित हो जाता है। इसी कलुषतासे वह आत्मा निरन्तर व्यग्र रहता है। ज्ञानका कार्य इतना है कि उसके द्वारा

पदार्थका ज्ञान होता है, पर वह पदार्थरूप नहीं होता। जैसे दर्पणमें जो स्वच्छता है उसमें यह सामर्थ्य है कि वह अपने स्वरूपको दिखाती है तथा अन्य पदार्थके आकारको भी अपनेमें झलका देती है। किन्तु अन्यरूप नहीं होती। जैसे अग्नि दर्पणमें दृश्यमान होती है किन्तु उसमें ज्वाला और उष्णता नहीं। इसी तरह ज्ञानमें क्रोधादि कषाय झलकते हैं परन्तु ज्ञान क्रोधरूप नहीं होता। जब यह वस्तु मर्यादा है फिर आत्मा दुखी क्यों होता है? इसका मूल कारण यह है कि यह जीव जब अपनेको क्रोधरूप मान लेता है तब क्रोधके कार्य सिद्ध न होनेसे दुखी होता है।

(७।१२।५१)

पिशाच-परिग्रह

१. संसारमें परिग्रह पापकी खनि है। इससे परिग्रही तो दुःखी हैं ही परन्तु मेरी तो यह धारणा है कि जो परिग्रहकी चर्चा करता है वह भी व्यग्रताका अनुभव करनेका पात्र हो जाता है।

(२१।७।४७)

२. किसीसे याचना करना महान् पाप है। जब अन्तरङ्गकी कामना घट गई तब यह उचित है कि पराये अर्थ जिसमें क्लेश हो ऐसी प्रवृत्ति न करो। परिग्रह मनुष्योंको प्राणोंसे भी प्रिय है। उसे छीननेकी चेष्टा करना कहाँ तक उचित है। बहुत मनुष्योंसे ऐसा सुननेमें आया कि हम किसीसे याचना नहीं करते। दूसरोंके लिये माँगनेमें क्या हानि है? यह भी एक छल है। जो ऐसा करते हैं उनकी भावना परोपकारका बहाना लेकर अपनी कषाय पुष्टकर ख्याति लाभकी ही रहती है।

(८।९।४७)

३. परिग्रह पिशाचसे पीडित मनुष्य विवेक शून्य हो जाते हैं। आज जो मारकाट हो रही है उसका मूल कारण यह परिग्रह ही है।

(१६।९।४७)

४. रुपया वह वस्तु है जो संसारमे मोही जीवोके पतनका कारण हो जाता है।

(३१।१०।५१)

५. जहाँ परिग्रह पिशाचका आवेश रहता है वहाँ निज परका विवेक नहीं रहता। यदि इसके पिण्डसे छूट जावें तब सुमार्ग पर ही आजावें। सामान्य मनुष्योकी बात छोड़िये श्री रामचन्द्रजी महाराज लक्ष्मणके स्नेहमे छह माह पागल रहे। सीताजीका जबतक रामसे स्नेह था दुखी रहीं, स्नेह त्यागते ही आर्या हो गई। अतः विकल्पोका त्याग ही श्रेयस्कर है।

(१८,१९,।२।४८)

६. परिग्रह पिशाचके वश उत्तमसे उत्तम मनुष्य अधम-भावको प्राप्त हो जाते है। रावण सदृश प्रतिनारायण कुत्सित भावके वश कुगतिका पात्र हुआ तथा वर्तमानमे अनेकोकी यही गति है।

(१६।९।४८)

७. संसारमे पापका मूल परिग्रह है। इसका जिसने सम्वन्ध किया उसीका संसारमे पतन होगा। जिन्हे परिग्रहसे बचना हो वे इसे त्यागें। यही मार्ग प्रशस्त और उपयोगी है।

(१७।१०।४८)

८. संसारमे परिग्रह ही महापाप है। इसके त्यागका उपदेश देना ही धर्म है। जिन्होने इसपर विजय प्राप्त की वही सत्य धर्मात्मा है।

(१२।११।४८)

९. संसारमें जहाँ परिग्रह होता है वहीं पारस्परिक सौमनस्यकी प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। अतः मनुष्योंने विचार किया कि जब परिग्रह अनर्थका मूल है तब इसे ऐसे कार्योंमें लगाओ जहाँ इसके द्वारा अशान्ति न हो। परन्तु यह तो जिस परिणामका है जहाँ गया अपना कार्य करेगा। और की कथा छोड़ो, मन्दिरमें गया तो वहाँ पर भी इसने अपना रङ्ग जमाया। मन्दिरके निधि-रक्षकके हृदयमें ऐसा अभिमान उत्पन्न किया कि 'मैं मन्दिरका खजाञ्ची हूँ।' फूलकर कुप्पा हो गया।

(२०।१।५१)

१०. द्रव्य अनर्थकारी है परन्तु मन्दिरका द्रव्य तो सबसे अधिक अनर्थकारी है। जो मनुष्य मन्दिरके द्रव्यका स्वामी बन जाता है वह शेपको तुच्छ समझने लगता है और जो मन्दिरका द्रव्य उसके हाथमें रहता है उसको अपना समझने लगता है। परिणाम यह होता है कि समय पाकर दरिद्र बन जाता है और अन्तमें जनताकी दृष्टिमें उसकी प्रतिष्ठा नहीं रहती। अतः मनुष्यताकी रक्षा करनेवालेको उचित है कि मन्दिरका द्रव्य कभी भी अपने निजी उपयोगमें न लावे। द्रव्य वह वस्तु है जिसके वशीभूत होकर मनुष्य न्यायमार्गसे च्युत होनेकी चेष्टा करने लगता है।

(१०।३।५२)

११. संसारकी दशा इतनी विचित्र है कि इसके मिटानेका प्रयास करना ही व्यर्थ है। यह कर्मभूमि है। यहाँ पर मनुष्योंमें एकता होना असम्भव है। हाँ, यह अवश्य है कि यदि इनमेंसे कोई परिग्रह त्याग दे तब परस्परमें अपेक्षा न होनेसे किसीका किसीके साथ वैमनस्य नहीं हो सकता। वैमनस्यका कारण परिग्रह

ही है। कहाँ तक कहूँ इसके कारण पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहिनमें भी वैमनस्य हो जाता है।

(२२ । ३ । ५१)

१२. भगवानने मूर्च्छाको परिग्रह कहा है। हम निरन्तर जनताको कहते रहते हैं—'परिग्रह त्यागो' और परिग्रहका अर्थ मूर्च्छा है। इस प्राणीके प्रवल मूर्च्छा तो परमे निजत्व कल्पना है। जो पदार्थ आपसे भिन्न हैं उसे निज मानना सबसे वलवती मूर्च्छा है। इस मूर्च्छाने वहुमतोंकी सृष्टि की है। आज संसारमे जितने मत हैं इसी मूर्च्छाके प्रभावसे जन्मे हैं। जैसे ईसाई कहते हैं कि जिन्हे संसार यातनाओसे मुक्त होना है वे ईसा पर विश्वास करें। मुसलमानोका कहना है कि धर्म खुदाके द्वारा जगतमे आया है। अतः खुदा पर विश्वास करो और यह भी कहते हैं कि खुदाकी शक्तिसे सब संचालन हो रहा है।

(१८ । ६ । ५१)

१३. संसारमें द्रव्यके अर्थ जो-जो अनर्थ न हों थोड़े है। इसके वशीभूत होकर मनुष्य आत्म-स्वरूपको भूल जाता है। आत्मस्वरूपकी कथा छोड़ो, आज जितने मनुष्य रणक्षेत्रमे जाते हैं और जानेकी चेष्टा करते हैं केवल एक अर्थार्जनके लिये ही तो यह प्रयास है। इस अर्थके लिये मनुष्य अदालतमे साक्षी दे आता है। इस अर्थके लिये भाई-भाईको विष देकर मारनेका प्रयत्न करता है। इस अर्थके लिये गरीबोकी रोटी तक छीन लेता है। इस अर्थके लिये आज हजारो स्थलो पर पण्डा लोग जलकी पूजा कराकर तृप्त नहीं होते। इस अर्थके लिये गया (विहार) मे १० पीढ़ी पहिलेकी और १० पश्चात्‌की सुगति भेज दी जाती हैं। इस अर्थके लिये हजारों स्थान तीर्थ रूपमें परिणत हो गये

उन स्थानो पर धन देनेसे सीधा स्वर्ग मिलेगा ऐसा प्रलोभन दिया जाता है।

(१०।११।५१)

१४. जो मूर्च्छाका स्वरूप जानते हैं, जब वे उसे दूर नहीं कर सकते तब जिनको इसका स्वरूप परिज्ञात ही नहीं वे दूर न करें तब इसमें आश्चर्यकी कथा ही क्या? आश्चर्य तो इस बातका है कि जितने विद्वान् हैं वे स्वयं इसके द्वारा पराभूत हैं अतः अन्यसे त्याग करानेकी उनकी चेष्टा विफल है। यदि वेश्या शील व्रतके पालनेका उपदेश देवे तो कहाँ तक उचित है? यदि कोई पराया कल्याण करना चाहे तब सबसे पहिले उसे उचित है कि वह स्वयं कल्याणके मार्गमें लगे।

(२८।११।५१)

१५. जो सुख अकिञ्चन होने पर होता है वह कौपीनमात्र परिग्रहके सद्भावमें भी नहीं होता।

(१२।१२।५१)

परसमागम

१. समागम उत्तम होता है परन्तु धर्मके अनुकूल हो तभी, अन्यथा संसार गर्तमें पड़नेका कारण हो जाता है।

(२।११।४७)

२. संसार अशान्तिका सागर है। इसमें न शान्ति मिली और न मिलनेकी है। अनन्तकालसे हम संसारके चक्रमें आ रहे हैं और अनन्तकाल आगे भी रहेंगे, क्योंकि आत्मतत्त्व अवबोधनसे पराङ्मुख हैं। परको आत्मीय मानकर निरन्तर परके संग्रह करने

मे अपनी चेष्टा लगा देते है। उसका जो फल होता है सो प्रत्यक्ष है।

(२२ । १२ । ४७)

३. पर सम्पर्कसे ही रागादि दोपकी उत्पत्ति होती हैं और रागादि दोप ही संसारके कारण होते हैं।

(१० । १ । ४८)

४. अनेक मनुष्योके सम्पर्कसे स्वात्मतत्त्वकी उपलब्धि दूर होती जाती है; क्योकि सम्पर्क ही स्नेहका कारण है और यदि सम्पर्कमे मनोमालिन्य हुआ तब द्वेषका होना अनिवार्य है। कहाँ तक इस विषयमे विवेचना की जावे, दुःख राशिका कारण यह समागम ही है।

(२९ । १ । ४८)

५. परके साथ संसर्गसे ही वचनोकी प्रवृत्ति होती है और वचनोसे नाना प्रकारके विकल्प आत्मामे होते है और आत्मा उनसे अनेक सङ्कटोमे पड़ता है अतः जिनकी परिणति स्वच्छ हो वे इन संसर्गोका परित्याग करें।

(१६ । २ । ४८)

६. जिन जीवोको आत्मकल्याणसे पतित होना हो उन्हें गृहस्थोका सम्पर्क करना चाहिये। जब अनात्मीय पदार्थोंसे आत्म-बुद्धि दूर हो जाती है तभी तो यह कल्याणमार्गका पथिक होता है और उन्हीका सम्पर्क करने लगे तब कालान्तरमे उस दर्शनसे च्युत होकर उन्ही अनात्मीय पदार्थोमें निजत्वकी कल्पना करने लगता है।

(१६ । ३ । ४८)

७. परके संसर्गसे ही मनुष्योके चित्तमे नाना प्रकारके विभ्रम होते हैं। विभ्रम ही संसारका मूल कारण है। जिन्होने पर पदार्थसे

संसर्ग नहीं छोड़ा वे ही संसारके पात्र होते हैं। संसार कुछ नहीं, आत्माकी परिणति विशेष ही है।

(१० । ५ । ४८)

८. संसारमें समागम करना ही उलझनका कारण है। किस किसके अनुकूल प्रवृत्ति करें? स्वाधीन रहना ही धर्म साधनमें मुख्य हेतु है।

(१२ । ८ । ४८)

९. प्रायः पर सम्पर्क छोड़ो, भगवान अर्हन्तकी उपासना करो, परन्तु अनुरक्त मत होओ। सम्पर्कसे सङ्कल्पोकी उत्पत्ति होती है और फिर मनमें अनेकविध विभ्रम होते हैं। विभ्रमोसे अनेक प्रकारकी आकुलता होती है, अकुलतासे निरन्तर दुःखी रहता है क्योकि जहाँ पर आकुलता है वहीं दुःख है।

(६ । ९ । ४८)

१०. समुदाय ही मनुष्यको फंसानेवाला यन्त्र है। इसके चक्रमें जो आता है वह संसार परिभ्रमण करनेका पात्र होता है।

(२१ । ९ । ४८)

११. परके समागमसे हानि ही होती है। प्रथम तो परके समागममें अपना समय नष्ट होता है। दूसरे जिसका समागम करते हो उसके अनुकूल प्रवृत्ति करनी पड़ती है। अनुकूल प्रवृत्ति न करने पर उसके रुष्ट होनेकी संभावना हो जाती है। अतः परका समागम हेय है।

जिस समय आत्मा अपनेको जानता है उस समय निज स्वरूप ज्ञान दर्शन ही है। दर्शन ज्ञानका काम देखना जानना है इससे अतिरिक्त मानना अपनेको ठगना है। आत्मा तो द्रष्टा-ज्ञाता है। उसे रागी, द्वेषी, मोही बनानायह कार्य सर्वथा आत्मासे स्वयमेव नहीं होता। यदि परकी निमित्तता इसमे न मानी जावे तब आत्मा

ही तो उपादान हुआ और आत्मा ही निमित्त हुआ तव सतत यह होते रहेंगे, कभी भी आत्मा इनसे अलिप्त न होगा।- अतः किसी भी आत्माका मोक्ष न होगा। इसलिये यह मानना चाहिये कि आत्मामे यह जो रागादि भाव हैं वह विकारी भाव हैं। जो विकारी भाव होता है वह निमित्तके दूर होनेपर स्वयमेव पृथक हो जाता है। जैसे अग्निके सम्बन्धको पाकर जलमे उष्णता आ जाती है वह उष्णता औपाधिक है। अग्निके अभावमे वह उष्णता या तो काल पाकर स्वयमेव विलय जाती है क्योकि जल पर्याय स्वभावतः उष्ण नही, आत्मा भी स्वभावसे रागादि रूप नहीं, यह काल पाकर जाते ही हैं। खेद इस वातका है कि जव वह उदय देकर जाते हैं; हम उनसे इतना प्रेम करते हैं कि उन्हे आत्मीय मानकर रखना चाहते हैं। उनका कहना है कि हम तो अव रह नही सकते, हॉ हम ऐसी प्रक्रिया वन जावेंगे कि कालान्तरमे निरन्तर आवेंगे। परन्तु जिस दिन तुम हमसे स्नेह छोड़ दोगे और हमे आत्मीय न समझोगे तो फिर हम तुम्हारे पास भूलसे भी न फटकेंगे। तुम्हारी कथा दूर रहे, जो मनुष्य तुम्हारे वचनोपर विश्वास करेगा उसके पास भी न आवेंगे। अतः रागादि होनेका खेद मत करो, उनके होनेमे राग मत करो, उसे अच्छा न समझो, विकार परिणति जान उसके होनेके अर्थ प्रयास मत करो। एक ही अमोघ उपाय उसके दूर होनेका है कि जो पदार्थ रागमे विपय आया है उसको आने दो, उसको अपनानेकी चेष्टा मत करो। अपनाना ही उन्हे भविष्यके लिये आह्वानन देना है। जिन महाशयोंको कल्याणकी अभिलाषा है उन्हे उचित है कि सर्व-प्रथम अपनेको जाननेका प्रयत्न करें अनन्तर जो पर है उनका संसर्ग छोड़ें तथा जिन्होने आत्मतत्त्वकी यथार्थ अवस्था प्राप्त कर ली उनका स्मरण करें।

शरीर यद्यपि पर है और हम तथा अन्य वक्ता भी यही निरूपण

करते हैं। श्रद्धा भी यही है कि 'यह पर है' परन्तु जब कोई आपत्ति आती है तब ऊपरसे तो वही बात परन्तु अन्तरङ्गमें वेदन कुछ और है। श्रद्धा-ज्ञानमात्रसे कल्याण नहीं, साथमें चरित्र गुणका भी विकाश होना चाहिये। हम अन्तरङ्गसे चाहते हैं, हम ही क्या प्रायः अधिकतर प्राणी रागादि दोषोंको नहीं चाहते क्योंकि ये साक्षात् आकुलता उत्पादक हैं। आकुलता ही दुःख है, कौनसा मानव है जो दुःखके कारणको इष्ट मानेगा? किन्तु लाचार हैं, जब रागादि होते हैं और तज्जन्य पीड़ा सहन नहीं कर सकता तब उसके मेटनेका उपाय करता है। वह चाहे किसीके प्रतिकूल हो चाहे अनुकूल हो। जैसे जब पिता पुत्रको खिलाता है और उसके अधरों-का, कपोलोंका चुम्बन करता है। भले ही वह चुम्बन पुत्रको अनिष्ट हो फिर भी पिता आत्मीय रागादिजन्य पीड़ाको मेटनेके लिये चेष्टा करता ही रहता है। यही प्रक्रिया सब कषायोंको दूर करनेमें देखी जाती है। जब क्रोध कषायका उदय होता है तब पदार्थोंमें अनिष्ट मान उनके नाश होनेका प्रयत्न करता है व उन्हें कष्ट देनेकी चेष्टा करता है, उनका अनिष्ट स्वयमेव हो जावे तब आप प्रसन्न होता है। अथवा जो उन्हें इष्ट पदार्थ मिले तब आप उन इष्ट पदार्थोंसे वैरभाव कर शत्रुओंकी वृद्धि करता है। एकके शत्रुमें आकुलता थी अब उससे शतगुणी हो गई, अतः जो मनुष्य अपना कल्याण चाहे उन्हें उचित है कि इन पर पदार्थोंको त्यागे।

(२५, १६, २७, २८ । १० । ५१)

१२. कोई भी वस्तु अपनी नहीं तब उसे अपनाना कहाँ तक सुखकर होगा? जिनको कुछ उपशमभावका उदय हो उन्हें तो सर्वथा ही पर पदार्थोंके साथ सम्पर्क छोड देना चाहिये। यद्यपि सम्पर्क छूटा ही है, केवल कल्पनामें यह मानता है कि 'ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ' अथवा 'मैं यह हूं, यह मै हूँ, ये पहले हमारे थे, हम

पहले इनके थे, यह फिर हमारे होंगे, हम इनके फिर होंगे,' यह मिथ्या विकल्प यह जीव निरन्तर करता रहता है। जबतक अज्ञान है यह विकल्प होता है, अज्ञानके अभावमें यह विकल्प सुतरां चला जावेगा। अज्ञानसे जिनकी मति मोहित होगई है वह बद्ध अबद्ध पदार्थोंको अपना मानता है, चाहे वह चेतन हो, चाहे अचेतन हों, जिन्होने निखिल पदार्थोंको जान लिया है उन्होने यही बताया है कि जीवका लक्षण उपयोग है, वह पुद्गल द्रव्य नही हो सकता!

(८।११।५१)

संकल्प-विकल्प

१. सर्वत्र ही विकल्प रहते हैं। विकल्पोकी निवृत्ति तो तब हो जब अन्तरङ्गसे पर पदार्थोंमे मूर्च्छा छूटे। कहने और करनेमे बड़ा अन्तर है। अन्तरङ्गसे मूर्च्छा त्यागना बड़ा कठिन है। मूर्च्छा-त्याग ही तो व्रत है। व्रत वस्तु भीतरकी है। यो तो सहस्रो व्रती है परन्तु परमार्थसे विरला ही व्रती होगा।

(१।७।४७)

२. चिन्ता क्यो होती है इसका मूल कारण अन्तरङ्गकी जिज्ञासा है। जहाँ जिज्ञासा है वही सद्विपयक जिज्ञासा होगी। उसकी सिद्धिका उपाय करना पड़ता है। उसके अर्थ अनेक प्रकारके विकल्प होते है और उस विपयकी सिद्धि होनेसे यह प्राणी अनेक दुःखोका पात्र होता है।

(१।७।४७)

३. मनमे नाना विकल्प होते है। उनकी शान्तिका उपाय

केवल कषायोंका उपशमन करना है। कषायोंके दूर करनेका उपाय पर पदार्थोंमें मूर्च्छाका त्याग ही है। अतः मूर्च्छाका त्याग ही मुख्य कार्य है।

(२६।८।४७)

४. संसारमें जो हमारी यह बुद्धि है कि असुक काम हमने किया, असुक व्यक्तिने हमारे प्रभावमें आकर असुक कार्य किया यह सब मोहजन्य कल्पना है। कोई भी किसीके द्वारा कुछ नहीं करता। अपने अभिप्रायसे ही करता है। निमित्त अन्य हो जावे यह बात दूसरी है, इससे 'हमने यह किया' नहीं हो सकता। मेरी तो यह श्रद्धा हो गई है कि कोई जीव किसीका कुछ नहीं करता।

(१०।११।४७)

५. चित्तमें जो विकल्प आते हैं वह क्यों आते हैं? इसमें जो अन्तरङ्ग शक्ति है वह तो हमारे ज्ञानमें आती नहीं, केवल बाह्य निमित्तोंकी हम कल्पना करते हैं और उन्हींके छोड़नेका प्रयत्न करते हैं। परन्तु इनको छोड़नेसे कुछ साध्य नहीं। साध्यकी सिद्धि तो यथार्थ हेतुसे होती है, गल्पवादसे कुछ नहीं।

(२९।२।४८)

६. वास्तवमें विकल्पोंको आश्रय देनेवाला आत्मा ही तो है। यह भी सर्वथा नहीं। यद्यपि उपादानकी अपेक्षा तो यही है फिर भी कार्यकी उत्पत्तिमें सहकारी कारणोंकी भी आवश्यकता रहती है। फिर भी अपने ही में अपना दोष देखना चाहिये

(२२।४।४८)

७. मनमें जो विकल्प आते हैं, उनका मूल कारण कषाय है। वही उन विकल्पोंका जनक है। वे विकल्प जो कार्य करते हैं वह दुख रूप हैं अर्थात् उन विकल्पोंकी उत्पत्ति होनेसे चैन नहीं।

अतः जिन मनुष्योंको कल्याण करना इष्ट है उन्हें विकल्पोंके मूल कारण पर पदार्थोंमें निजत्व कल्पनाको दूर करना चाहिये।

(३।९।५१)

८. प्रतिदिन मनुष्योंके प्रति मानव जातिके अनेक विचार होते हैं। मनुष्य अपनेको बहुत चतुर समझता है और निरन्तर ऊहापोह करता रहता है कि कब इस संसार बन्धनसे छूटें! संसारमें प्रत्येक जीवको नाना प्रकारकी आपत्तियाँ दबाए हुए हैं। मनुष्य जीव सब जीवोंमें श्रेष्ठ है। यदि वह चाहे तो आत्मीय चित्तवृत्तिको संकोचकर अपना कल्याण कर सकता है परन्तु यह तो जगन्मात्रकी चिन्तामें अपनेको फँसा लेता है। और फल उसका अत्यन्त कटुक होता है। अर्थात् न तो उसका उपकार कर सकता है और न अपना ही कल्याण कर सकता है। कोई भी शक्ति संसारमें ऐसी नहीं जो किसीका दुःख दूर कर सके। प्रायः संसारमें अधिकतर मनुष्य परमेश्वरकी उपासना करते हैं कि हमारे दुःखको दूर कर हमको सुमार्ग पर लाओ परन्तु फिर भी संसारमें अनेक प्राणी दुःखी ही देखे जाते हैं। सुख दुःख यह दोनों प्राणियोंके विकल्प हैं। जैसे जो बात अपनेको रुचिकर न हुई तथा जिस पदार्थका संयोग इष्ट न हुआ वहीं यह आत्मा दुःखवेदन करने लग जाता है। और जो कथा आपको इष्ट हुई अथवा जो पदार्थ इष्ट हुआ उसका समागम होने पर सुखका वेदन करने लग जाता है।

(१२।११।५१)

इच्छा

१. कार्य करनेमें इच्छा मुख्य कारण होती है। इच्छा ही प्रेरणा कराके प्रवृत्ति कराती है। अतः सबसे उत्तम मार्ग तो यही

है कि ऐसा अभ्यास करो जो किसी भी विषयकी इच्छा न होवे। इच्छा ही जगतका मूल कारण है। इच्छाके अभावमें कोई भी कार्य नहीं होता।

(१६ । ५ । ५१)

२. संसारमें प्रत्येक प्राणी उत्कर्षको चाहता है। आत्माकी प्रकृति न तो उत्कर्षरूप है न अपकर्षरूप है। उच्च नीच व्यवहार कर्मकृत है। आत्मा द्रव्य तो ज्ञान दर्शन गुणवाला है। स्वाभाविक रूपसे विचार किया जावे तब आत्मा न तो किसीको देखना चाहता है और न जानना चाहता है। देखने जाननेकी अभिलाषा संसारी जीवके होती है। देखने जाननेकी इच्छा कोई उत्कर्षकी नियामक नहीं। देखने जाननेकी इच्छा प्रत्युत दुःखका कारण है। जब तक हमें जिसे देखनेकी इच्छा है वह पदार्थ न देखा जावे हम दुःखी रहते हैं। देखनेके बाद सुखी हो जाते हैं। विचारो, देखनेसे क्या मिल गया? कुछ भी नहीं मिला, केवल देखनेकी वह इच्छा मिट गई जो दुःखकी जननी थी। अतः मेरी समझमें यह आता है कि सर्व विषयोंकी इच्छाओंको त्याग देना चाहिये। जिससे दुःखका बीज ही मिट जावे। मुझे तो यह विश्वास है जो बहुज्ञानी होते हैं उनका कहना है कि मोक्षकी भी इच्छाको त्याग दो। इन इच्छाओंका त्याग ही सब दुःखोंको दूर करनेका उपाय है। आज हम ज्ञानार्जन करते हैं, जगतको समझावेंगे, यह भी उपद्रवकी जड है। बहुज्ञान सम्पादनकर विज्ञ बननेकी इच्छा भी दुःखकी जड़ है।

(१४ । ६ । ५१)

३. शास्त्रकारोंने तपका लक्षण—'इच्छा निरोधः' किया है। इच्छा दो प्रकारकी है, शुभोपयोगजनिका, अशुभोपयोगजनिका। शुभोपयोगजनिका जो इच्छा है उससे पञ्च परमेष्ठीके गुणोंमें अनुराग होता है। अथ च परोपकार, अनुकम्पा, दानादि विषयक भाव

होते है। इनमें भी दो तरहके जीव होते हैं। एक तो वे जीव हैं कि जिनका मूल अभिप्राय तो पर पदार्थोंसे अणुमात्र भी अनुरागका नही परन्तु जन्मान्तरका संस्कार इतना प्रबल है कि उसके सत्त्व-कालमें निज स्वरूपको जानते हुए भी इन पर पदार्थोंके सहवासको छोड़नेमें असमर्थ है। यद्यपि उनका दृढ़ निश्चय यह है कि इन पर पदार्थोंसे हमारा अणुमात्र भी सम्बन्ध नही और न ये हमारा कुछ भी विगाड़ या सुधार करनेमें समर्थ है परन्तु ऐसा जानकर भी कुछ ऐसी परिस्थिति आ जाती है कि उन्हे छोड़नेमें अशक्य हैं। जैसे कोई मनुष्य अपने अपराधसे अजीर्ण कर मलेरिया ज्वरसे पीड़ित हो गया, वैद्यने उसे कुटकी, नीम, चिरायताका काथ पीनेका उपदेश दिया, वह रोगी चिरायता आदि कटुक पदार्थोंके काथको सुखपूर्वक पी रहा हैं परन्तु वह नहीं चाहता कि मै इस काथका पान करूँ। इसी प्रकार भेदज्ञानी जीव इन विषयोको नही भोगना चाहता परन्तु उदयमें आये जो भाव उनको दूर करनेके लिये विषयोमें प्रवृत्त होता है।

(१०।९।५१)

४. दुखका कारण हमारी इच्छा है। हम विषयोको भोगना चाहते है परन्तु वे कभी भी भोगनेमें नहीं आते क्योकि वे इच्छाके अनुकूल हो तब तो शान्ति हो, सो होता नहीं, क्योकि उनका परिणमन उनके अधीन है, होना भी चाहिये। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श ये पुद्गलके गुण हैं, इनका परिणमन भिन्न-भिन्न है। ये भिन्न इन्द्रियोके द्वारा ग्रहणमें आते हैं। हम सबको एक कालमे विषय करना चाहते है पर यह सर्वथा असम्भव है। इन्द्रियजन्य ज्ञानमे यह सामर्थ्य नहीं; क्योकि इन्द्रिय प्रतिनियत विषयको ग्रहण करती है। ज्ञान ज्ञेय सम्बन्धसे वे विषय ज्ञानमें भासमान होते हैं। परमार्थसे न तो विषय ज्ञानमें जाता है और न ज्ञान विषयमें जाता

है। ज्ञेयके समवधानमें ज्ञानमे ऐसा परिणमन होता है कि हमने ज्ञेयको जाना और स्वेच्छासे उस ज्ञेयका नाम कल्पना करते हैं।

(७।१०।५१)

आकुलता

१. सन्तोषका फल सर्वदा मधुर होता है। सन्तोषका अर्थ किसी भी विषयमे आकुलताकी जननीको मेटना है। संसार मार्गकी आकुलता ही दुःखकी जननी नहीं, मोक्ष मार्गमे भी आकुलता दुःखकी जननी है। जहाँ दुःख वहाँ सुखका होना सम्भव नहीं ?

(१६।४।४८)

२. आकुलता ही शान्तिकी बाधक है।

(२।५।४८)

मूर्खता

१. स्थिर चित्त उसीका हो सकता है जो एक प्रतिज्ञा पर स्थिर है। जो जगतको प्रसन्न करना चाहता है वह परम मूर्ख है। आत्माको प्रसन्न करनेका जो प्रयत्न करता है वही विवेकी है। वही मोक्षमार्गका पात्र है। यो तो जन्म लेनेवाले और मरनेवाले बहुत हैं।

(१७।७।४७)

२. बहुत कथा करना मूर्खता है।

(४।२।४८)

३. धर्म तो लौकिक यातनाओसे निवृत्ति करानेका कारण है। उसे लौकिक कार्योंके लिये करना महान् मूर्खता है।

(८।२।४८)

४. नियम करना एक तरहसे मूढ़ता है। नियमकी अपेक्षा काम करना उत्कृष्ट है। कोई भी किसीको विवशकर अन्य रूप परिणमन नही करा सकता। मोही जीवोकी प्रकृति स्वयं अनाप-शनाप प्रवृत्ति करनेकी होती है।

(१५।४।४८)

चिन्ता

१. शरदी-गरमी तो शारीरिक रोग हैं। इनसे उतना कष्ट नहीं जो कष्ट मानसिक चिन्ताओसे होता है। मानसिक चिन्ताएँ कषायोके कारण होती हैं। खेद है कि हम आत्मीय दुःखसे जितने दुःखी नही जितने पराये दुःखसे दुःखी हो जाते हैं। हम संसारकी कथा करते हैं होता जाता कुछ नहीं। जिन कार्योंको हम स्वप्न में भी नहीं कर सकते उनका भी प्रयत्न करते हैं।

(११।७।४७)

२. प्रत्येक मनुष्य यही चाहता है कि जगतका कल्याण हो और उसके कर्तृत्वका श्रेय उसे प्राप्त हो। परन्तु जगत तो अनादि निधन है। वह तो सदा ऐसा ही रहेगा। जिसको इसके फन्देसे बचना हो उसे उचित है कि जगतकी चिन्ता त्यागे, अपनी चिन्ता करे, उपाय सरल है।

(२८।५।४८)

३. परकी चिन्ता ही संसारके दुःखोकी खनि है।

(१७।८।४८)

मिथ्यात्व

१. अनादिकालीन गुरुतम मिथ्यात्वके सहवाससे हमारी बुद्धि भ्रमात्मक हो रही है। उसका फल जो भ्रमज्ञानसे होता है वही होता है। विभ्रम ज्ञानमें पदार्थ विपरीत भासता है। यद्यपि पदार्थ अन्यथा नही हुआ परन्तु हमारे ज्ञानमे अन्यथा भासमान होता है। जैसे रज्जुमें किसीको सर्प भ्रान्ति हो जावे तब वह मनुष्य भयभीत हो वहाँसे एकदम भागता है। यद्यपि रज्जु सर्प नहीं हुआ परन्तु हमारे ज्ञानमे तो सर्प है। जबतक यह ज्ञान न हो—नायं सर्पः, भ्रमज्ञानात् रज्जौ सर्प इति ज्ञानं हि मे यत्पूर्वं जातं तन्मिथ्या अतः मे दोपवशात् तद् ज्ञानं जातम्।" ऐसी प्रतीति होनेसे हम भागनेसे रुक जाते हैं।

(३०।१।५१)

२. सबसे महान् परिग्रह मिथ्यादर्शन है, क्योकि मिथ्यात्वके उदयमे यह जीव विपरीत अभिप्राय पोपण करता है। अजीवको जीव मानता है, शरीरमें आत्मबुद्धि करता है। जैसे कामला रोगवाला शङ्खको पीला मानने लगता है। एक बार मुझे श्री कुण्डलपुरजी क्षेत्रपर चातुर्मास करनेका अवसर आया। उस समय मुझे बड़े वेगसे मलेरिया ज्वर आ गया और पित्त ज्वर हो गया। एक वैद्यने कहा तुम साँटा (गन्ना) चूसो, ज्वर शान्त हो जावेगा। मैंने गन्ना चूसा किन्तु चिरायता व नीमसे भी वह बहुत कडुवा लगा, मैंने उसे फेंक दिया।

बाईजीने कहा—'बेटा ! चूस लो।'

मैंने उत्तर दिया—'कैसे चूसूँ, यह तो चूसा नहीं जाता।'

यद्यपि साँटाका रस मीठा था परन्तु मुझे तो रोग था इसलिये वह कडुवा लगता था। इसी प्रकार जिनके मिथ्या रोग है उन्हे मोक्षमार्गका उपदेश देना हितकर नहीं होता क्योकि मोक्षमार्ग-मे तो प्रथम सम्यग्दर्शन है।

(१२।१२।५१)

सङ्कोच

१. सङ्कोच ही पापकी जड़ है। सङ्कोचके वशीभूत होकर मनुष्य उत्तमसे उत्तम कार्यसे पराङ्मुख हो जाता है। किसीके द्वारा अपनी प्रकृतिको विपरीत करना अच्छा नहीं।

(२२।७।५१)

लोकप्रशंसा

१. मनुष्यमे सबसे बड़ा अवगुण अपनी प्रतिष्ठाका है। प्रायः अधिकांश मनुष्य अपनी प्रशंसा चाहते है। प्रशंसाके लिये पुत्र कलत्रादिका त्याग कर नाना प्रकारके कष्टोंको सहन करते हैं। व्रत करें, उपवास करें, एक बार भोजन करें। कहाँ तक कहें तिल-तुषमात्र परिग्रह भी न रक्खे। केवल लोग हमको उत्तम कहें ऐसी जिनकी अभिलाषा है उनका यह बाह्य त्याग दम्भ ही है।

(३०।४।४७)

२. लोकेषणा बहुत ही प्रबल संसारवर्द्धक अनात्मीय भावों

की जननी है। वहुत ही कम महानुभाव ऐसे होगे जो इसके रङ्गसे वचे हो।

(७।८।४७)

३. केवल लोक प्रशंसासे न कुछ लाभ है और न होगा। स्तुतिवादमे हर्ष मानना पतनका कारण है।

(१२।९।४७)

४. लौकिक प्रशंसा ही आजकल संसार गर्तमे तुमको गिरा रही है। जिसको लौकिक प्रशंसा रुचिकर है उसे निन्दामे अवश्य दुःख होगा, जो निन्दा करेंगे उन्हे यह नियमसे अनिष्ट समझेगा और जो प्रशंसा करेंगे उन्हे इष्ट समझेगा। यही इष्टानिष्ट कल्पना आर्तध्यानमे कारण होगी। तथा पर द्रव्यको अपनानेका जो भाव है वह रौद्रध्यानमे कारण पड़ता है अतः कल्याणकी इच्छा है तव सवसे पहिले जिस भावसे यह अपनाये जाते हैं उन्हे त्यागो।

(१०।५।५१)

५. जिनसे जो न हो थोड़ा है। परमार्थसे जगत्मे कोई भी किसीका उपकार और अनुपकार नहीं करता। हमारे विपयमे हम स्वयं कल्पना कर सुख और दुःख, यश अथवा अपयश, निन्दा या प्रशंसा मान लेते हैं। कोई कुछ कहे यदि हम उसको ज्ञेय न वनावे कुछ भी कल्पना नहीं हो सकती। प्रथम तो हम स्वयं उसको श्रवण करनेकी अभिलाषा करते हैं। उसके अन्दर यह लिप्सा वैठी है कि कुछ हमारी प्रशंसा ही तो होगी। यही पाप हमारेको प्रेरणा करता है। कहो भाई। क्या अमुक व्यक्तिने क्या कहा? यदि प्रशंसा वाचक शव्द श्रवणमे आये तव तो हर्पमे मसककी तरह फूल गये, यदि निन्दा वाचक शव्द श्रवणमे आये तव हृदय फट गया। मसककी तरह पचक गया। भीतर जलन पैदा हो गई। संक्लेश परिणामोंकी प्रचुरतासे पाप प्रकृतियोंका वन्ध

होने लगा। इससे यह सिद्ध होता है कि इन पाप प्रकृतियोके वन्धमे कारण कौन हुआ ? हम स्वयं हुए। इतना ही न हुआ हमारा अभिप्राय भी मिथ्या हुआ किन्तु जिसके द्वारा वे परिणाम कराए गये हमने उसे संक्लेशका मूल कारण जाना। यह अज्ञानता जो न करे अल्प है। अनादि कालसे हमारी यही पद्धति बन गई है कि हम पुण्य पापके कारण अन्य ही को मानते है। और जबतक यह मान्यता रहेगी तवतक संसारसे मुक्त होना असम्भव है।

(८।६।५१)

६. शान्तिका मार्ग इस लोकेषणासे परे है। लोक प्रतिष्ठाके अर्थ त्याग व्रत संयमादिका अर्जन करना धूलके अर्थ रत्नको चूर्ण करनेके समान है। पंचेन्द्रियके विषयोको सुखके अर्थ सेवन करना जीवनके लिये विप भक्षण करना है। जगत्‌के मनुष्य आत्मीय स्वार्थके लिये ही कोई कार्य करते हैं। यह कोई निन्दाकी वात नही। सामान्य मनुष्योंकी कथा तो छोड़ो किन्तु जो विद्वान् हैं वह भी जो कार्य करते हैं आत्मप्रतिष्ठाके लिये ही करते हैं। यदि वह व्याख्यान देते हैं तब यही भाव उनके हृदयमे रहता है कि हमारे व्याख्यानकी प्रशंसा हो। अर्थात् लोग कहे कि महाराज ! आप धन्य हैं, हमने तो ऐसा व्याख्यान नहीं सुना जैसा श्रीमुखसे निर्गत हुआ। हम लोगोका सौभाग्य था जो आप जैसे सत्पुरुषो द्वारा हमारा ग्राम पवित्र हुआ। ग्राम ही नही आज हम लोगोके गृह आपके चरणस्पर्शसे पवित्र हो गये। महान् पुण्यका उदय होता है तभी आप जैसे महात्माओका मिलाप होता है। इत्यादि वाक्योको सुनकर व्याख्याता महोदय हृदयमें प्रसन्न हो जाते है। ऊपरसे कहते है वन्धुवर ! हम तो कुछ नहीं जानते। यह आपकी गुणज्ञता है जो अल्प योग्यताको महान् मानते हैं। पानीका

स्वभाव ऐसा होता है जो उसमें एक बिन्दु मल डालनेसे सम्पूर्ण जल ऊपरसे मलरूप दीखता है। ऐसे ही आप लोगोंका हृदय है, वक्ता-श्रोता दोनो प्रसन्न हैं। इसका कारण यदि देखोगे तो दोनोंकी इच्छाएँ पूर्ण होगईं यही प्रसन्नताका हेतु है।

(२४।६।५१)

७. वर्तमानमें सभी मनुष्य लोक प्रशंसाके लोभी हो रहे हैं। धर्म भी करते हैं परन्तु प्रयोजन केवल लौकिक प्रतिष्ठाका रहता है।

(१६।७।५१)

८. मेरा यह अनुभव है कि प्रशंसासे आदमीकी गुरुता लघुतामें परिणत हो जाती है। जहाँ प्रशंसा हुई आदमी उसे सुनकर प्रसन्न होता है और जहाँ निन्दा हुई वहीं दुःख होता है। प्रशंसा और निन्दा दोनों ही विकृत रूप हैं, इन्हें निज मानना ही भयङ्कर भ्रम है, इस भ्रमका फल संसार है। संसार ही दुःखमय है।

(९।११।५१)

९. यदि आज हम लोग प्रशंसाको त्याग देवें तो अनायास ही सुखी हो सकते हैं। परन्तु लोकेषणाके प्रभावमें हैं। यही हमारे कल्याणमें बाधक है।

(२७।१२।५१)

भोजन

१. अनुमति त्यागके लिये आगममें भोजनमें अनुमति देनेका त्याग लिखा है। भोजन तो उपलक्षण है पापारम्भके समस्त कार्योंमें अनुमति नहीं देगा। इसका यह अर्थ है कि धर्ममें अनुमति दे सकता है।

(८।३।४७)

२. भोजन करानेवालोंमें सबसे महान दोष यह है कि मर्यादासे अधिक खिलानेकी चेष्टा करते हैं। यदि खानेवालेको रसना वशामें न हो तब अनर्थ हो जावे। परन्तु यह पञ्चम काल है। जैसे ही खानेवाले वैसे ही परोसनेवाले। 'फुट्टीदेवी ऊँट पुजारी।' संयमका पालना कठिन बात है, जिनका संसार तट अल्प है वही इसके पात्र हो सकते हैं।

(१०।७।४७)

३. जो भोजन कराता है वह पात्रबुद्धिसे ही कराता है, उसके परिणाम निर्मल रहते हैं। वह यही जानकर दान देता है कि मैं पात्रको भोजन करा रहा हूं। उसके कोई विकल्प अन्यथा नहीं। अतः वह पुण्यभागी अवश्य होता है।

(४।८।४७)

४. भोजनकी लालसा जिसने त्याग दी वह बहुत ही अल्प-कालमें शरीर और आत्मा दोनोंको नीरोग बना सकता है।

(१२।८।४७)

५. संसारमें यदि वैरको मिटाना है तब परस्पर भोजनका व्यवहार रक्खो। यही वैर मिटानेका सबसे उत्तम साधन है।

(१८।८।४७)

६. भोजनमें यदि विजयी होना चाहे तब रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करे। दाताके द्वारा यह कार्य नही हो सकता। इस कार्यमें पात्रको उचित है कि अपनी कषाय पर विजय प्राप्त करे। दाता तो अपने परिणामोके अनुकूल भोजनकी तयारी करेगा पात्रको अपनी इच्छा रोकनी चाहिये।

(२०।१०।४७)

७. भोजनसे कभी भी तृप्ति नहीं होती। आहार संज्ञा

अनादिकालसे लगी है। निरन्तर नवीनता चाहता है। कोई पुद्गल नहीं बचा जो अनन्तबार भोगनेमें न आया हो ?

(३० । १० । ४७)

८. भोजन करानेमें प्रायः प्रत्येक की रुचि रहती है। यदि पात्र उत्तम हो तो दाताको महान पुण्यबन्धका कारण होता है। पात्रकी विशेषतासे परिणामोंमें अधिक निर्मलता होती है और यही विशेषता विशेष पुण्यका कारण होती है।

(२० । ११ । ४७)

९. भोजनकी गृद्धता ही स्पर्शनेन्द्रियवत् अधःपातका कारण है। चाहे मानो, चाहे न मानो, अग्नि सम्बन्ध दाह करेगा !

(८ । ३ । ४८)

१०. जो भोजन उत्तम हो परन्तु पदके विरुद्ध हो तो वह आत्मामें गृद्धता उत्पन्न करता है, और गृद्धता ही चारित्रकी घातक है।

(१२ । ३ । ४८)

११. यद्यपि भिक्षाभोजन अमृत है परन्तु विषभोजी जीवको ऊँटकी तरह मिष्ट इक्षु नहीं रुचता ! अनादिसे परमें आत्मबुद्धि-वालोंको यह नहीं रुचता।

(१४ । ३ । ४८)

१२. भिक्षाभोजनको शास्त्रमें अमृत कहा है, यह प्रायः आज अनुभवमें आया। धन्य है उत्तम जीवोंको जो यह अमृतभोजन करते हैं।

(१८, २१ । ३ । ४८)

१३. भोजनकी प्रक्रिया वही है जो थी। न तो दाताकी बुद्धि मार्गपर है और न पात्रकी। विशेष दोष पात्रका है। यदि पात्र चाहे तो सब रस होनेपर भी नीरस भोजन कर सकता है।

अन्तरङ्गसे कषायविजयी होना चाहिये। कषाय दुःखकर है, एता-वता कषाय छूट गई सो नही।

(३२ । ४ । ४८)

१४. आजकल साधुओके भोजनकी प्रक्रिया निर्मल नही। इसका यह अर्थ नहीं कि भोजनमे अशुद्धि रहती है या देयद्रव्य पात्रकी प्रकृतिके अनुकूल नहीं। तथा भोजनमें ऐसे पदार्थ बनाते हैं जो पात्रको लालचके कारण बन जावें। अनादिकालसे भोजनकी संज्ञा है। इसका त्याग होना सरल नहीं।

(४ । १ । ४८)

१५. त्यागीको वह भोजन मिलना चाहिये जो उसके ज्ञानादि गुणोका साधक हो अर्थात् भोजन सादा होना चाहिये।

(५ । १ । ४८)

१६. भोजन वह सुखद होता है जो पक हो, आलस्य न लावे, उदराग्नि जिससे शान्त न हो जावे। जो विकृत भोजन करने-वाले होते हैं वे मोही रागी द्वेषी होते हैं। प्रथम तो भोजन पर है, उसे निज मानना ही तो मोह है। मोहवश उसके स्वादमे राग होना स्वाभाविक है। यदि प्रवृत्तिसे अनुकूल हुआ तब अनायास राग हो जाता है। जो प्रकृतिके अनुकूल भोजन बनाता है उसमे अना-यास मोह और राग होता है। तथा यदि प्रकृति विरुद्ध भोजन मिला तब उस बनानेवालेमे अनायास राग नहीं रहता। अन्य कथा छोड़ो उस भोजनको फैंक देते हैं। अतः जो मनुष्य प्राकृतिक भोजन करते हैं उनकी परिणति विकृत नहीं होती। समयपर जो मिल गया उसीसे सन्तोष कर लेते हैं। परन्तु यह उन्ही महानु-भावोसे बनता है जिन्होंने वस्तुका यथार्थस्वरूप समझा है। वास्त-वमे यदि वस्तु स्वरूप समझमे आ जावे तब अनायास आत्माका

सुधार हो सकता है। अनादिसे उसे न जान हमारी दुर्दशा हो रही है।

(६।८।५१)

१७. वह भोजन ही भिक्षुकको अमृत है जो उसके निमित्तसे न बनाया जावे।

१८. जो गृहस्थ शुद्ध भोजन करनेवाला है, अष्टमूल गुणका पालन करता है, पञ्चोदुम्बर और मद्य, मांस, मधुका भक्षण नहीं करता तथा जिसकी श्रद्धा पञ्च परमेष्ठीमें है, विना छना पानी नहीं पीता, जीवदयाका पालन करता है, वही भोजन देनेका पात्र है। जो लेनेवाला है वह उत्तम, मध्यम, जघन्यके भेदसे तीन प्रकारका है। उत्तम पात्र तो दिगम्बर है, जिनके बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह नहीं है। मध्यम पात्र एकादश प्रतिमाओंमें अन्यतम प्रतिमावाले हैं। उनके भी तीन भेद हैं। उत्तम तो दशम और एकादश प्रतिमाधारी हैं। इन्हें उत्कृष्ट श्रावक कहते हैं। मध्यम सप्तम प्रतिमासे लेकर नवम प्रतिमावाले हैं। और प्रथम प्रतिमासे लेकर छह प्रतिमा तक जघन्य कहलाते हैं। इनमेंसे जिनके कोई प्रतिमा नहीं किन्तु जैनधर्मकी दृढ़तम श्रद्धा है उन्हें जघन्य पात्र कहते हैं किन्तु अष्टमुलगुणका नियमसे पालन होना आवश्यक है। यदि अष्टमूलगुण से रिक्त हैं तब वे जैनधर्मकी श्रुति भी श्रवण नहीं कर सकते। यह नियम उन्हींके लिये है जो कुलक्रमसे जैनधर्म माननेवाले कुटुम्बमें पैदा हुए हैं।

(५।१०।५१)

पराधीनता

१. पराधीनता ही संसारकी जननी है। अनादिकालसे हमने पर पदार्थमें आत्मीय बुद्धिके द्वारा अपने स्वरूपकी अवहेलना की

और पौद्गलिक पदार्थोंके व्यामोहमें उन्मत्तकी तरह इतस्ततः भ्रमण कर रहे हैं। जो निज ज्ञान है, जिसके द्वारा जगतको जानते हैं उसकी उत्पत्ति पर द्वारा मानते हैं।

(३।१।४७)

२. अनादिसे इन प्राणियोंने आत्मतत्त्व नहीं समझा और न समझनेकी चेष्टा ही करते हैं। यों ही आते हैं और यो ही संसारमे जाते है। संसारके वन्धनसे मुक्त होना कठिन वात है। वे ही पार हो सकते हैं जो पराये दास नहीं वनते। हम लोग परकी ममतासे ही घूम रहे हैं।

(२।१२।४७)

३. ऐसा प्रयत्न करो कि परका अवलम्बन छूट जावे। परके अवलम्बनसे ही स्वाधीनताका अभाव होता है।

(२।८।५१)

४. यदि आत्माको संसारमे रखनेवाली कोई शक्ति है तो वह पराधीनता ही है और कल्याण करनेवाली कोई शक्ति है तो वह स्वाधीनता ही है। पराधीनताका मुख्य पाठ सिखानेवाले हैं नैयायिक और स्वाधीनताका पाठ सिखानेवाले हैं जैनश्रमण। इन दोनोमें जो पराधीन है वह सर्वदा अकिञ्चित्कर है, क्योंकि वह स्वयं तो कुछ कर ही नहीं सकता।

(२।८।५१)

५. यदि आत्माकी उन्नति इष्ट है तो पराधीनता त्यागो। जो पराधीनताके उपासक हैं वे कदापि आत्मशान्ति नहीं पाते।

(१२।१०।५१)

दुख

१. किसीका अपराध नहीं, अपनी निर्वलता ही आत्माको दुःखकी जननी है।

(९।५।४८)

चित्तवृत्तिमें व्यग्रता मत आने दो। व्यग्रता ही दुःखका मूल है।

(२७ । १० ४८)

२. संसारके मनुष्योंकी प्रवृत्ति स्वेच्छानुसार होती है और वे अन्यको अपने रूप परिणमाया चाहते हैं परन्तु जब वे परिणमते नहीं तब महादुःखके पात्र होते हैं। इसलिये यदि यह मानना छोड़ देवें कि पदार्थोंका परिणमन अपने अनुकूल होता है तो दुःखकी कोई बात नहीं।

(१७ । ११ । ४८)

३. बहुत बोलना दुःखका मूल कारण है।

(२७ । १२ । ४८)

४. प्रथम तो आपसे भिन्न पदार्थोंमें जो निजत्वकी कल्पना है वही मिथ्या कल्पना दुःखका मूल है; क्योंकि जिसे हमने अपना मान लिया उसका परिणमन उसके अधीन है, हमारा परिणमन हमारे अधीन है। हम दोनो परिणमनोंको एक रूप बनाना चाहते हैं यही महान दुःखका कारण है। यदि दुःखसे छूटना चाहते हो तब पर पदार्थोंसे सम्बन्ध छोड़ दो। यही सब दुःखोंसे छूटनेका उपाय है। दुःखका मूल कारण अपनी अज्ञानता है, अज्ञानताका निरास जिसने किया वही मानव है।

(२५ । १ । ५१)

५. संसार दुःखमय है। दुःखका मूल कारण आकुलता है। आकुलताका उत्पादक मोह कर्म है। मोह कर्मके उदयसे मिथ्यात्व और रागादिक उत्पन्न होते हैं। जबतक उनके कार्य नहीं होते तब तक आत्मामें शान्ति नहीं होती। कार्य होनेके अनन्तर सुतरां शान्ति हो जाती है। जैसे जब क्रोध कषायकी उत्पत्ति होती है तब अन्यको अनिष्ट माननेका विचार होता है। उसके अनिष्ट होनेसे यद्यपि इसे कुछ नहीं मिलता परन्तु दुःख देनेवाली कषाय है अतः

कषायका अभाव ही सुखका मूल कारण है। अतः जिन्हे दुःखसे वचना हो वे कषायको त्यागें।

(१६ । १२ । ५१)

तृष्णा

१. तृष्णानदी इतनी भयङ्कर और गहरी है कि संसारकी सारी सम्पदा भी इसके एक कोण तकको नहीं भर सकती। अतः समभावसे ही उसकी पूर्ति हो सकती है। हम चाहते हैं कि संसारके समस्त पदार्थ हमारे उपयोगमें आवें, सम्पूर्ण ज्ञान हमे हो जावे, किन्तु यह विचार नहीं करते कि कल्पना करो यदि सभी पदार्थ तुम्हारे उपभोगके लिए तुम्हे प्राप्त हो गये परन्तु उनका उपभोग एक कालमे तो नहीं कर सकते। एक रूपपर ही विचार करो, सब रूपवान तुम्हारे समक्ष है परन्तु तुम एक कालमे एकहीका तो उपभोग करोगे फिर भी दूसरेके देखनेकी अभिलाषा बनी ही रहेगी। कभी सब रूपोंका देखना एक कालमे नही हो सकता। इसी प्रकार सत्र इन्द्रियोकी व्यवस्था जानो। ज्ञानकी भी यही वात है। अतः यदि शान्तभावको चाहते हो तव यह अशान्तिके कारण त्याग दो। आत्माका जो परिणमन है वह आत्मा तक ही रहने दो।

(१५ । ११ । ५१)

हिंसा

१. अहिंसाका अर्थ है—हिसाका अभाव जहाँपर होता है वही पर अहिंसा होती है। 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।' बाह्य प्राण दश हैं, पाँच इन्द्रिय—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, तीनवल—मनोबल, वचनबल और कायबल, आयु और स्वासोच्छ्‌वास। कषायके वशीभूत होकर जहाँ इन प्राणोका घात हो जाता है वहीपर हिसा होती है। परकी हिसा होनेपर यदि प्रमत्त योग

नहीं तब हिंसा नहीं होती। हिंसामें मूल कारण प्रमत्तयोग है। जहाँपर यह है वहाँ पर अन्यका घात भले ही न हो आत्मीय ज्ञान दर्शन-सुख-वीर्यका घात तो होता ही है अतः प्राणोंका घात ही हिंसा है। (२९. ३०। ८। ४८)

२ दो प्रकारके कार्य हैं एक शुभ, दूसरा अशुभ। इनका विस्तार ही सब कार्य कलाप हैं। कुछ कार्य लोकके उपकारक और कुछ अनुपकारक होते हैं। जैसे हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह ये कार्य लोकमें अपनेको और परको कष्ट देनेवाले हैं। हिंसासे पर जीवका ही घात नहीं होता, अपना भी घात होता है। यहाँ तक कि हिंसकके द्वारा किसी परके घातके अभावमें आपका ही घात हो जाता है। हिंसा वह पाप है जिसने जगतको आदि आहिंसे व्याप्त कर रक्खा है। हिंसाका मूल कारण कषाय है—

"यत्खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणां।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति हिंसा॥"

सभी असत्यादि पाप हिंसामय हैं—

"आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय॥"

आत्माके परिणामोंका जहाँ घात है वहीं हिंसा है। असत्यादि पापोंमें आत्मपरिणामका घात ही तो होता है। अतः असत्यादि जितने पाप हैं सभी हिंसा हैं। शिष्योंको बोध करानेके लिए यह भी हिंसा हैं यह बताया है। परमार्थसे यही पाप हैं। परमार्थसे आत्मामें जो मोह राग द्वेष होते हैं यही हिंसा है। रागादिक परिणामोंका न होना ही अहिंसा है।

(१७।५।५१)
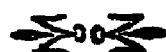
स्वतन्त्रताके सुप्रभातमें

स्वतन्त्रताके शुभप्रभातमें

संसारकी दशा इस समय भयङ्कर है। भारतवर्षमें मनुष्योंमें परस्पर सहानुभूति नहीं इसीसे विदेशी लोग यहाँ आकर अपनी सत्ता जमा लेते है और इनके गुरु बनाकर अपना स्वराज्य जमाते हैं। अतः परस्परमें सहानुभूति रक्खो, किसीसे भी वैर भावना न रक्खो. शत्रुको मित्र मानो, यदि वह क्रूर है तब [illegible] बनानेका प्रयत्न करो।

(२७।७।४६)

२. आज रात्रिके १२ बजे बाद भारतको स्वतन्त्र सत्ता मिलेगी। समय परिवर्तनशील है। जिनके राज्यमें सूर्य अस्त नहीं होता था वे ही भारतको राज्य समर्पित कर रहे हैं। संसारमें उचित तो यह है कि मनुष्यको निरन्तर ऐसे कार्योंको करना चाहिये जिसमें प्राणी मात्रको कष्ट न पहुंचे। जीवन तथा लक्ष्मी क्षण-भङ्गुर हैं, न जाने कब इसकी अवधि आ जावे। अतः जिस नीतिसे उपयोगकी शुद्धता हो वही नीति उत्तम है।

(१४।८।४७)

३. आज भारतवर्षके प्राणियोको पूर्ण स्वराज्य मिला। (सागरमें) किलेके अन्दर उसका उत्सव था। २०,००० बीस हजार जनता होगी। सबके हृदयमें उल्लास था, महिलावर्ग बड़ा प्रसन्न था। हर एक मनुष्य स्त्री, बालक, बालिकाओंके मुख पर प्रसन्नताकी ज्योति झलकती थी। प्रबन्ध सराहनीय था। यह सब हुआ परन्तु आपत्ति कालमें परस्पर सहानुभूति ही उत्तम होगी।

(१५।८।४७)

४. स्वराज्यका तात्पर्य प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रताका प्रेमी है। स्वतन्त्रताकी उत्पत्ति निर्मल परिणामोसे होती है। चाहे लौकिक हो, चाहे पारमार्थिक हो, मारकाटकी स्वतन्त्रता स्थायिनी नहीं।

(१७।८।४७)

५. यह जमाना बहुत ही सङ्कटमय है। लाखों निरपराधी मनुष्योंकी हिंसा निर्ममताके साथ हो रही है। स्वराज्यसे आशा थी कि शान्ति रहेगी परन्तु हुआ इसके विपरीत ही—सारा संसार अशान्तिमय हो रहा है। इसका मूल कारण तो निर्दयता ही है तथा हमको जो शिक्षा दी जाती है उसमें आत्मतत्त्वकी सिद्धिका कोई पाठ नहीं पढ़ाया जाता। केवल—'खाओ, पीओ, सुखसे रहो' यही सिखाया जाता है।

(२७।८।४७)

६. संसारमें इस समय अशान्तिका साम्राज्य है। भारतके दो विभाग हो गये, एकका नाम हिन्दुस्तान और दूसरेका पाकिस्तान। हिन्दुस्तानमें कांग्रेसका राज्य और पाकिस्तानमें मुसलमानोंका राज्य। पाकिस्तानमें रहनेवाले हिन्दू, सिक्ख तथा जैन महान सङ्कटमें हैं। लाखोंकी निर्मम हत्या हो रही है, वैदिक मन्दिर, गुरुद्वारा तथा जैन मन्दिरोंको ध्वंश कर दिया है। मूर्तियोंको तोड़फोड दिया है। सहस्रोकी संख्यामें जो शास्त्र थे उनको भस्मसात् कर दिया है। कोई सुननेवाला नहीं। जो गवर्नर जनरल हैं वे ऐसा वक्तव्य नहीं निकालते जिससे प्राणियोंकी रक्षा हो। यह सब अनर्थ परिग्रह पिशाचसे पीड़ित मनुष्यो द्वारा हो रहा है। बलात्कार पूर्वक धर्म परिवर्तन कराते हैं, मानवगणोको, उनके बालकोंको कत्ल करनेमें रञ्चमात्र भी निर्दयी जीवोको दया नहीं आती। अहिंसाकी महिमा अपरम्पार है परन्तु उसके पालनेका पात्र होना चाहिये। इस समय न तो वे ऋषि हैं, न वे मुनि हैं जो

अपने चमत्कारके द्वारा कुछ करते। एक गाँधीजी हैं, उनका अभिप्राय साधारण मनुष्योकी अपेक्षा बहुत अच्छा है परन्तु ऐसी बर्बर जातिके साथ भारतका सम्बन्ध है कि एक पक्षवाले तो गाँधीजी को देवता मानते हैं परन्तु दूसरे पक्षवाले उनके भावोंका विशेष आदर नहीं करते, अन्यथा शान्ति होना असम्भव न था। पहले नोआखालीमें निरपराध लाखों हिन्दू धर्मवालोंकी सम्पत्ति लूटी, स्त्री वर्गका सतीत्व अपहरण किया, जब विहारमे उसका प्रतिकार हुआ तब इस पक्षके नेताओंने उनको दबा दिया। बिचारे हिन्दू दयावाले थे मान गए। फल यह हुआ कि पञ्जाबमे उससे सहस्रगुणा नुकसान हिन्दू धर्मवालोका हो गया और ऐसी विशेष बात हो गई कि कोई उपाय शीघ्र रक्षाका नहीं।

७. संसारमे इस समय भयङ्कर उपद्रव हैं, पञ्जाबमे मनुष्यो-का निर्मम संहार हो रहा है, अराजकता हो रही है। अराजकताके कारण जो पुरुष इसे दमन न करेगा वह विपत्तिमे आ जावेगा। अतः सबको उचित है कि राष्ट्रकी रक्षा करनेमें अपनी शक्ति लगा देवें।

(३, ४, ५, ६, ९।९।४७)

८. आज परम दयालु महात्मा गाँधीजी का ५ बजे दिनको अन्त हो गया।

(३०।१।४८)

९. संसारकी दशा अत्यन्त सोचनीय है जो मनुष्य सबका उपकारी एवं कल्याणका कर्ता हो उसको भी कतिपय व्यक्ति शत्रु मानते हैं।

(३१।१।४८)

१०. भारतकी महान आत्मा जिसे प्रत्येकके प्रति दया थी शुक्रवारके ५ बजे एक मनुष्य द्वारा जो अत्यन्त विवेकशून्य था

बन्दूकसे परलोक सिधार गया। संसार कषायका पुञ्ज है, ऐसे ऐसे मनुष्योंका निवास है जिनकी निर्दयता वचनातीत है।

(१।२।४८)

११. आज गाँधीजी के शवकी भस्मको श्री जवाहरलालजी नेहरूने उठाया प्रायः सब स्थानोंमें उनकी भस्म प्रवाहित की गई। भारतवर्ष ही क्या संसार भरकी शान्ति चाहनेवाला महापुरुष था।

(२।२।४८)

देशका दुर्भाग्य

१. भारतवर्ष परोपकारी ऋषि आदि महापुरुषोंका जितना उत्तम देश था आज उतना ही अपनी गुणगरिमासे गिर गया है। पश्चिम देशकी सभ्यतामें केवल विषय पोषक कार्योंको भारतने इस समय अपनाया है। जहाँ प्रथमावस्थामें मद्य, मांस, मधुका त्याग कराया जाता था वहाँ अब तीनों अनुरूप माने जाकर इनके बिना गृहस्थोंका निवाह नहीं होता। बालकोंको औषधिमें मद्यपान करानेकी चेष्टा की जाती है। थोड़े दिन पहिले कोई साबुन आदिका स्पर्श नहीं करता था, आज उसके बिना स्त्रियोंका निर्वाह नहीं होता। सब असंगत कार्य हो रहे हैं। अंग्रेजोंमें जो गुण थे उन्हें भारतने नहीं अपनाया। वे समयका दुरुपयोग नहीं करते थे, जिसको जो वचन देते थे उसका निर्वाह करते थे। उन्होंने भारतवर्षकी महिलाओंसे सम्बन्ध नहीं किया प्राचीन वस्तुओंकी रक्षा की, विद्या प्रेमी थे, स्वच्छता रखते थे इत्यादि।

मुसलमानोंमें भी बहुतसे गुण हैं। जैसे एक बादशाह भी

अपनी जातिके अदना आदमीके साथ भोजनादि करनेमे संकोच नही करता। यदि किसीके पास एक रोटी हो और १० मुसलमान आ जावें तब वह एक एक टुकड़ा खाकर सन्तोष कर लेंगे। नमाजके समय कहीं हो वहींपर नमाज पढ़ लेंगे। परस्परमे मैत्री भावना रक्खेंगे। यही कारण है कि जो भारतवर्षमे उनकी संख्या ¼ हो गई। वह अपनाना जानते हैं। यदि उनमें मासादिक खानेका व्यवहार और गाय भैंसोंको मारनेका व्यापार न होता तो उनकी गणना सभ्य मनुष्योंमे होती। अतः हम लोगोंको इतर जातियोंके सद्गुणोंका अनुकरण करना चाहिये। उनके विशेष गुणोंका आदर करना चाहिये और अवगुणोंको त्यागना चाहिये।

(३, ४। ७। ५१)

२. सद्गृहस्थका सबसे पहला लक्षण 'न्यायोपात्तधन' अर्थात् न्याय पूर्वक धनका अर्जन करे। न्यायका निर्वचन क्या है? सब कोई जानता है कि जिस द्रव्योपार्जनमें प्रमत्तयोग है वह धन कदापि न्यायानुकूल नही होता। सिद्धान्त तो यह है कि जितने द्रव्य संसारमे हैं उनमें परिग्रहका व्यवहार रूपी पुद्गल द्रव्यमे होता है। आकाशादि अमूर्त द्रव्य है, निर्विकारी है, सबके साथ उनका सम्बन्ध एक सदृश है। रूपी पुद्गलमें विकृति है। उसका परिणमन नाना प्रकार है। उसको पञ्चेन्द्रिय विषय करता है। सामान्यतया सबके उपभोगमे वह आता है। कोई न कोई उसका अनुचित उपयोग करते हैं। सभी मनुष्य चाहते हैं कि हमको यथेष्ट भोजन मिले। इसके अर्थ नाना प्रकारके यत्न करते है। मनुष्यके भोजनके लिए—आटा ൬॥, दूध ൬॥, घी ൬–, शाक तथा लकड़ी आदि कुल मिलाकर १।=) मे यथेष्ट निर्वाह हो सकता है, परन्तु जिसके पास पैसा है वह ५) मे भी तृप्त नही होता। ५) तो मद्यपानमे ही व्यय कर देता है। इसके लिए बड़े बड़े अन्यायसे

धनार्जन करता है घूस लेता है. डाका डालता है, १०) का धोती जोड़ा ३०) मे बेचकर भी सन्तोष नहीं करना।

(२४।७।५१)

धर्मके नामपर ?

१. नुनसर (जबलपुर) ग्राममे ३-४ घर विनैकावाल जैनियोके हैं। गरीब हैं। दर्शन करनेसे भी लोग उन्हे रोकते हैं।

(२६।१।४७)

२. आजकल न्यायका गला घोंटकर धर्मके कार्य कराये जाते हैं।

(१३।२।४७)

३ मन्दिरजीमें प्रवचनमें ब्राह्मण क्षत्रिय स्वर्णकार आदि सभी आये। जैन धर्मकी रुचि हुई परन्तु लोगोंका विशाल हृदय नहीं, परको अपनाते नहीं, धर्मको पैतृक सम्पत्ति मान बैठे हैं।

(१०।४।४७)

४. मन्दिरोमे अनाप सनाप द्रव्य पड़ा है और किसीके उपयोगमें नहीं आता। देव तो वीतराग हैं। वे जगतको यही उपदेश दे गये कि यदि कल्याण करना है तो हमारा मार्ग अङ्गीकार करो।

(५।७।४७)

५. बहुतसे महानुभाव मुझसे यह प्रश्न करते हैं कि आपकी दस्साओंके पूजा करनेके विषयमें क्या सम्मति है? तथा हरिजनोंके मन्दिर प्रवेशमें क्या सम्मति है? मैं चरणानुयोगका आगम तो जानता नहीं परन्तु जब आगममें उनको पञ्चम गुणस्थान लिखा है उसके अनुसार वे स्वयं वहाँ तक पहुँच सकते हैं। व्रतोंको देव पूजा

स्वयं आ गयी। अतः मेरी सम्मति तो उनके पक्षमें हैं। रही यह बात कि आप लोग मानें या न मानें यह अन्य बात है।

(४, ५। ३। ४८)

६. गोपाचल पर्वत [लश्कर-ग्वालियर] के बीच अनेक जैन मूर्तियाँ पत्थरोमे बनाई गई हैं। बहुत ही सुन्दर और चित्ताकर्षक हैं। परन्तु जब यवनोका राज्य हुआ उन लोगोने धर्मायतनोंको ध्वस्त कर दिया। राज्य मदोन्मत्त होकर मनुष्य घोर पाप करनेमे नहीं हिचकता।

(१२। ५। ४८)

७. आज यहाँ पर श्री मल्लिसागर दिगम्बर मुनि आये।.... लोगोने चर्याके लिये प्रार्थना की थी फिर क्या था ? आप कहने लगे किसके यहाँ भोजन करें। किसीके शूद्र जलका त्याग है ? दस्साओके यहाँ भोजन तो नही करते। परस्पर जातियोंमे (अन्त-र्जातीय) विवाह तो नही करते ? आदि अनेक मानव जातिके अर्थ उपदेश था।

एक भिण्डनिवासीने कहा—"मेरे शूद्र जलका त्याग है।"

"किसके समक्ष लिया ?" मुनिने प्रश्न किया।

"श्री १०८ सूर्यसागर महाराजके समक्ष लिया था" श्रावकने उत्तर दिया।

"वह तो उत्तरका मुनि है, प्रतिमाको स्पर्श कर प्रतिज्ञा लो।" श्रावक मन्दिरमे गया और प्रतिमा स्पर्श करके आया। आपने इस कृत्यको कराया। श्रावक फिर नीचे आया, पड़गाहे गये, परन्तु आहार देनेवाली औरतके मुँहसे यह नहीं निकला कि—"मैं दस्सोके घर भोजन नहीं करूँगी।" अतः मुनि भोजन छोड़कर भग गये। स्टेशन पर साथके मनुष्योंके साथ भोजन करके चले गये। ग्राम ग्राम चन्दा होता है, यहाँसे भी ९०) चन्दा हो गया।

साथमें मोटर है, हर जगह चन्दा होता है, पञ्चम काल है अब यही धर्म रह गया है !!!

(६।११।५१)

८. आजकल हरिजन समस्याकी प्रायः जैन जनतामें चर्चा रहती है। एक पक्षका कहना है कि धर्मका अधिकारी प्रत्येक मनुष्य हो सकता है। उनमें शूद्र भी धर्मका अधिकारी है, क्योंकि आत्माका जो स्वभाव है वह प्रत्येक प्राणीमें है। परन्तु अनादि कालसे प्राणियोंके कर्मका सम्बन्ध है जिसके कारण आत्माएँ विकृत हो रही हैं। उनमें उनके दो भेद हो गये। असंज्ञी और संज्ञी। असंज्ञी तो मन रहित होनेसे धर्मधारणके अधिकारी नहीं। संज्ञी जीवोंमें चाहे वे देव, मनुष्य, तिर्यञ्च या नारकी कोई भी हों, योग्यता पाकर आत्मकल्याणका बीज जो सम्यग्दर्शन है उसके पात्र हो सकते हैं। यह जो सम्यग्दर्शन गुण है वह संज्ञी जीवोंमें उदय होता है। यही आत्माको संसारसे मुक्त होनेमें मूल कारण है। इसका सम्बन्ध साक्षात् आत्मासे है। परन्तु उसमें निमित्त कारण बाह्यमें देवादिकका श्रद्धान भी है, परिणामोंकी अपेक्षा इसमें कोई बाधा नहीं। परन्तु व्यवहारमें जो धर्म करना चाहते हैं उन्हें देव मन्दिर आदिमें जाना चाहिये। देवके दर्शन, गुरुकी श्रद्धा और आगमकी श्रद्धा होनी चाहिये। इसमें एक पक्ष महासभाका अनुयायी है वह कहता है कि जो अस्पृश्य शूद्र हैं वह मन्दिर नहीं जा सकते। उनके जानेसे अव्यवस्था हो जावेगी। अतः न तो वे मन्दिर जा सकते हैं और न शास्त्र छू सकते हैं। इसीको लेकर वे हरिजन मन्दिर प्रवेश बिलका विरोध कर रहे हैं।

दूसरा पक्ष दिगम्बर जैन परिषद्का है कि यदि हरिजन भी मद्य, मांस, मधुको त्याग देवें और बाह्यमें शुद्धतासे आवे तब वह भी श्री जैन मन्दिरमें आकर भगवान्के दर्शन कर सकता है। जब

पशु व्रत धारण करनेका पात्र हैं तब मनुष्य कुलमें जन्म लेनेवाला यदि निर्मल आचरणका धारी है तथा हिंसक न हो तब क्या धर्मका पात्र नहीं हो सकता है ? पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे—

"मद्यं मासं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन ।
हिंसाव्युपरतिकामैः मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥"

यह उपदेश मनुष्य मात्रके लिये है। केवल जैन मनुष्यके लिये ही नही हैं। प्रत्युत विचार कर देखा जावे तब जैनियोंमे तो प्रायः मद्यादि सेवन करनेवाले देखे ही नहीं जाते तब उन कुलोंको यह उपदेश है भाई! यदि हिंसासे वचनेकी प्रवल इच्छा है तब प्रथम मद्यपान, मांसभक्षण और औषधिमें जो मधुका उपयोग करते हो उसे त्यागो। यदि न त्यागोगे तव यह लिखा है—

"अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितान्यमूनि परिवर्ज्य ।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥"

अर्थात् यह जो आठ अनर्थ पापके मूल है जबतक इनका त्याग न करोगे तवतक जैन धर्मकी देशनाके पात्र न होगे।

अब आप ही शान्त मस्तिष्कसे विचार कर उत्तर दीजिये यदि किसी हरिजनने ८ वस्तुओंका परित्याग कर दिया और धर्म सुनना चाहता है तब उसे शास्त्र सभामें न आने दोगे ? बैठनेका स्थान मण्डपमें ही तो होगा, या वाहर निकाल दोगे। धर्म तो व्यक्तिगत सम्पत्ति है। जो आत्मा संज्ञी है, योग्य है, चाहता है, यदि आप उसे रोकोगे तब महती अज्ञानता है। प्रथम तो ऐसे मनुष्य आज सुमार्गमे लग जावें तब यह जो अनर्थ पशुवध हो रहा है अनायास कम हो जावेगा। तब स्वयमेव अहिंसा धर्मकी प्रचुरता संसारमे होनेका सुअवसर आ सकता है। तीर्थंङ्कर भगवानने यही तो उपदेश दिया—"अहिंसा परमो धर्मः" यह

धर्म किसी जाति विशेषका नहीं। धर्मका सम्बन्ध आत्मासे है। सभी आत्माओंमें यह शक्ति रूपसे विद्यमान है परन्तु इसका पूर्ण विकास मनुष्य पर्यायमें होता है।

(७, ८, ०, १२ । १ । ५१)

९. समाजमें हरिजन समस्याको लेकर परस्परमें वैमनस्य हो रहा है। भगवन! समाजकी चेष्टा सर्वदा आत्मीय उत्कर्षकी रहनी है, यह उत्तम है। परन्तु उत्कर्षके साधनोंको भी तो संग्रह करना परमावश्यक है। लेकिन मनुष्य अन्यको तुच्छ गिनते हैं तथा जिससे हमारी प्रशंसा न हो ऐसे उत्तमसे उत्तमके भी निर्दोष चारित्र होने पर भी दोष प्रगट करनेमें नहीं हिचकते। मनुष्योंने अपने स्वार्थके लिये समाजकी स्थापना की और जो पुरुषार्थी हुए उन्होंने अपनी सत्ता कायम की और अपने कार्यके लिये जिन मनुष्योंने स्वीकारता दी वे कालान्तरमें यही कहलाने लगे। अर्थात् जिन लोगोंने वस्त्रोंको स्वच्छ किया वह धोबी और जिन्होंने बाल बनानेका कार्य किया वह नाई कहलाने लगे। इसी तरह भङ्गी चमार आदि अनेक जातियाँ हो गयीं। मनुष्य समान होने पर भी कार्यके भेदसे कोई तुच्छ कोई उच्च हो गये। उच्चता आत्मामें पाप त्यागसे होती है परन्तु अब जो उच्च जातिमें पैदा हुआ वह अपनेको उच्च मानता है।

(२६ । १ । ५१)

१०. काका कालेलकर विद्वान् हैं। आपने हरिजनोंके विषय में बहुत कुछ व्याख्यान दिया। यहाँ तक कह गये कि यह स्पृश्या-स्पृश्यका रोग जैन धर्ममें नहीं, हिन्दू धर्मसे आया है। यदि जैनियोमें ऐसी ही प्रवृत्ति रही तब मुझे कहना पड़ेगा कि आप लोग नामसे नहीं तो परिणामसे हिन्दू बन जावेंगे। जैनधर्म अत्यन्त विशाल है। इस धर्मकी यह विशालता है कि चारो गतिके जीव जो संज्ञी पञ्चेन्द्रिय हैं वे अनन्त संसारके दुःखोंको हरनेवाले

सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर सकते है। धर्म किसी जाति विशेषका नहीं, धर्म तो अधर्मके अभावमें होता है। अधर्म आत्माकी विकृतावस्थाको कहते हैं। जब तक धर्मका विकाश नहीं तबतक सब आत्माएँ अधर्म रूप ही रहती हैं। चाहे ब्राह्मण हो, चाहे क्षत्रिय हो, चाहे वैश्य हो, चाहे शूद्र हो, शूद्र मै भी चाहे चाण्डाल हो चाहे भङ्गी हो—सम्यग्दर्शनके होते ही वह जीव कोई जातिका हो पुण्यात्मा जीव कहलाता है अतः किसीको हीन मानना अनुचित है।

(१९।२।५१)

११. काका कालेलकरजी ने जो कहा वह प्रायः हरिजन विषयक था और मनुष्य समाजके नाते उनका उपकार करना ही चाहिये। वह तो यहाँ तक कह गये कि जैनधर्ममे वर्ण व्यवहारकी प्रथा न थी। यह तो हिन्दू सम्प्रदायसे ली हुई वस्तु है। यदि जैन जनता इसे अपनावेगी तब मैं उन्हे हिन्दू कहूँगा क्योकि स्पृश्या-स्पृश्यता उन्हीं का ध्येय है।

(२१।२।५१)

१२. ज्ञानका आदर नही। जो कुछ द्रव्य लोग व्यय करते हैं मन्दिरकी शोभामे लगाते हैं। ज्ञान गुण आत्माका है उसके विकाशमे न द्रव्य लगाते हैं और न समयका सदुपयोग करते हैं। केवल बाह्यमे सङ्गमर्मर आदिका फर्श लगाकर तथा वेदीमे स्वर्ण आदिकी चित्रकारी कराकर नेत्रोके विषयको पुष्ट करते हैं। आत्मा का स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा है उसको दूषित कर राग और द्वेषके द्वारा किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट मानकर निरन्तर परको अप-नानेमे ही दुःखके पात्र बनते हैं। (२४।२।५१)

१३. जैनधर्म विश्व धर्म है, प्राणीमात्रके कल्याणका कारक है परन्तु आजकलके मनुष्योंने उसे अपना धर्म समझ रक्खा है।

किसीको उच्चदृष्टिसे नहीं देखते। कहाँ तक कहा जावे अन्यको उसका पात्र नहीं समझते।

(२०।३।५१)

१४. सभी सुविधाओके होते हुए भी तीर्थ क्षेत्रोपर ज्ञानार्जनका कोई साधन नहीं। धनिक वर्ग बाह्य सामग्री द्वारा सुन्दर सजावटमे ही केवल अपना रुपया खर्च करनेमें अपनी प्रभुता मानता है। किसीके यह परिणाम नहीं होते कि वहाँ एक विद्वान स्वाध्याय करनेके लिए रहे। केवल पत्थरादि जड़ाकर ऊपरी चमक दमकमें प्राणियोके मनको मोहित करनेसे रुपयेका उपयोग करते हैं। प्रथम तो इन बाह्य वस्तुओके द्वारा आत्माका कुछ भी कल्याण नहीं होता। द्वितीय जो कल्याणका मार्ग है 'कषायकी कृशता' सो इस बाह्य सामग्रीसे उसकी विपरीतता देखी जाती है। कृशता और पुष्टतामे अन्तर है। विषयोके सम्बन्धसे कषाय पुष्ट होती है और ज्ञानसे विषयोमें प्रेम नहीं होता सो इन दोनोंमें ज्ञान साधनका एक रूप से अभाव है।

(२७।३।५१)

१५. आजकल धर्मका मर्म दम्भमे रह गया है। दम्भी पूजे जाते हैं।

(६।४।५१)

१६. किसीको तुच्छ रूपमे देखना धर्मका स्वरूप नहीं। यह कषाय परिणतिका कार्य है तथा कषायोदयमें किसीको भी अल्प कहना अन्याय है।

(८।५।५१)

१७. तालवेहट (झाँसी) मे एक रामस्वरूप योगी हैं। संस्कृतके अच्छे विद्वान् हैं, साहित्यके आचार्य हैं। आप योगी हैं अतः ब्राह्मण लोग इनसे वह प्रेम नहीं रखते जो सजातीय ब्राह्मणसे रखते हैं। आप हाईस्कूलमे अध्यापक हैं। संस्कृत पाठशाला प्राइ-

वेट चला रहे हैं। उसमें कई हरिजनोको विशारद मध्यम* तक परीक्षा उत्तीर्ण करा चुके है। यह सब उच्च वर्णवालोंको अप्रिय प्रतीत होता है! न जाने लोगोने इतनी संकीर्णता क्यो अपनाई है? विद्या किसी व्यक्ति विशेषकी नही फिर भी इतनी संकीर्णता क्यों? यह सब मोहका कार्य है जो हम ही उच्च कहलावे, चाहे कितना ही नीच कर्म करें!

(१२।७।५१)

१८. जैनधर्म आत्मधर्म है। लोगोने उसे निज सम्पत्ति मान रक्खी है। अतएव मन्दिर आदि जो धर्मके आयतन हैं उनमें अन्य लोगोके आनेका निषेध करते हैं। माना, उनका बनाया जो मन्दिर है वह उन्हीका है किन्तु उसमे जो मूर्ति स्थापना करते हैं वह भी उन्हींकी है। फिर भी जिसकी स्थापना करते हैं वह उनका नही। उसमे अपनी स्थापना कर लें या अपने पित्रादिककी स्थापना कर लेवें तब तो अन्य को रोध करनेका अधिकार कथञ्चित् हो सकना है परन्तु श्रीआदिनाथदेवकी स्थापना कर परको रोकना सर्वथा अनुचित है। यह आत्मा निगोदसे जहाँ एक बारमे अष्टादश बार जन्म होता है निकलकर मोक्षका पात्र होता है फिर संज्ञी मनुष्य होकर मन्दिर जानेका भी पात्र न हो बुद्धिमे नही आता।

(१५।१२।५१)

१९. आजकल केवल द्रव्य प्राप्तिके लिए ही धर्म कार्य होते हैं। जिसने द्रव्य दिया उसकी प्रशंसा होने लगी।

(२१।१२।५१)

उच्चता और नीचता

१. संसारमें सभी अपना उत्कर्ष चाहते है अपनेको कोई

तुच्छ नहीं मानता। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा स्वभावसे उच्च है केवल कर्म कलङ्कके द्वारा नीच सदृश हो रहा है।

(५।५।४७)

२. जितने मनुष्य हैं सब अपनेको उच्च समझते हैं। किसी तरह उनका ऐसा समझना संगत भी है, क्योंकि सबके आत्मा है। सबका स्वरूप ज्ञाता दृष्टा है। उच्चता और नीचता व्यवहार मोह-कृत औपाधिक भावसे होता है। जैसे मद्यपान कर मनुष्य उन्मत्त हो जाता है। उस समय उसका जो व्यवहार होता है वह मदिराके निमित्तसे हुई जो उन्मत्तता है तत्कृत है। वह मनुष्यका स्वभाव नहीं। यदि मनुष्यका स्वभाव होता तो सर्वदा उस व्यवहार की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती देखी जाती, अतः सिद्ध हुआ कि ज्ञाता दृष्टा आत्मा स्वभावसे ही है। इसके अतिरिक्त जितने भाव होते हैं वे सब औपाधिक हैं। उनको परकृत जान ममता न करना। अतः जो मनुष्य अपनेको उच्च माननेकी चेष्टा करता है वह भी स्वकीय परिणामोसे गिरा हुआ है। जैसा वह वैसा वह। उत्कृष्ट तो यह है कि परपदार्थोंमें जब निजत्वबुद्धि हट जाती है तब अनायास ही उच्चता नीचताका भाव स्वयमेव विलीन हो जाता है। (२२।२।५१)

३. उच्च और नीच व्यवहार कर्मकृत है। आत्मा न तो उच्च है, न नीच है, वह तो ज्ञाता दृष्टा है।

'ण वि होदि पमत्तो न अपमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणन्ति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥"

४. आत्मा न तो प्रमत्त है और न अप्रमत्त है, क्योंकि जहाँ तक प्रमादका उदय है इसे प्रमत्त कहते हैं तथा प्रमादके अभावमें अप्रमत्त कहते हैं। (८।५।५१)

स्त्रियोंकी समस्याएँ

१. कन्याओंको शिक्षा देनेकी ओर समाजका कोई भी ध्यान नहीं। विवाहमे समाज लाखो रुपया व्यय करती है परन्तु कन्या निज कर्तव्यको समझे इसका कुछ भी ध्यान नहीं।

(५ । २ । ५१)

२. प्राचीन ऋषियोंने यहाँ तक लिख दिया है कि—"स्त्री-शूद्रौ नाभिधीयताम्" स्त्री और शूद्रको नहीं पढ़ाना चाहिए। यह अन्याय नहीं तो क्या है? स्त्रीको पूजन करनेका अधिकार नहीं।... उसके हाथका बना नैवेद्य चढ़ा देवेंगे, मुनिआदि सब भोजन लेते हैं, प्रतिष्ठामे इन्द्राणी बनती है, परन्तु न जाने इन मनुष्योंने कितने प्रतिबन्ध लगा रक्खे है? अन्य कथा छोड़ो, यहाँ तक आज्ञा कि एकान्तमे अपनी मांसे भी मत बोलो। 'माँ' यह उपलक्षण है। स्त्रीमात्रका ग्रहण है। परिणामोकी मलीनता जैसे जैसे वृद्धिको प्राप्त हुई वैसे वैसे यह सब नियम बने!

(१२ । ७ । ५१)

३. स्त्री समाजकी उपेक्षा न करो। स्त्री समाज उदार और सरल होती है। हम लोग उनकी उपेक्षा करते हैं। इसका जो फल हुआ सो प्रत्यक्ष है। आप जानते हैं स्त्री समाजका नीरोग रहना ही मनुष्य समाजके हितका साधक है। यदि स्त्री समाज नीरोग न होगा तो मनुष्य समाज कभी नीरोग न रहेगा परन्तु इस ओर हमारा अणुमात्र भी लक्ष्य नही। शरीरका पोषक भोजन है वह भोजन स्त्री वर्गको हानिकर मिलता है। मनुष्य (पुरुष) समाज जब भोजन कर लेता है तब स्त्रीसमाज भोजन करता है। विचारो तो सही, जब १२ बजे तक पुरुष भोजन करते रहते हैं तब बादमें

उनका अवसर आता है। प्रथम तो भोजन ठंडा हो जाता है, दूसरे भोजन वेला टल जाती है। वैद्य लोगोंका कहना है कि—

"याममध्येन भोक्तव्यं यामद्वयं न लंघयेत्।"

यदि स्त्रियोंको मनुष्योंसे पहले भोजन करना पड़े तो वे बासी अन्न खाती हैं जो उनके स्वास्थ्य सर्वथा प्रतिकूल रहता है। एक यह भी बात है कि जो उत्तमसे उत्तम वस्तु होगी वह वे पुरुष वर्गको खिला देंगी। इन कारणोंसे उनकी नीरोगता चिरस्थायिनी नहीं रहती। तथा पुरुष लोग मर्यादासे अधिक विषय सेवन करते हैं। इसका फल नाना रोग, तथा राजयक्ष्मा आदि रोग भारतवर्षमें वृद्धिपर हैं। अतः जो मनुष्य समाजका हित चाहते हैं उन्हें सबसे प्रथम सदाचारी बनना चाहिये। दो या तीन सन्तानके बाद सन्तान पैदा करनेकी लिप्साको त्याग देना चाहिये। ५० वर्षके बाद अपने जीवनको आत्मकल्याणमें लगा देना चाहिये।

(२७, २८।७।५१)

अभ्युदयकी ओर

१. यह निश्चित है कि कोई भी मनुष्य किसीसे भी तिरस्कार जनक शब्द सुननेके लिये प्रस्तुत नहीं। शिष्य गुरुसे अध्ययन करता है परन्तु शिष्यता सर्वदा सुरक्षित रहे यह नहीं चाहता। शिष्य हो कर भी निरन्तर उठने की भावना करता है। जब भगवानकी पूजा कर निवृत्त होता है तब यही पाठ तो पढ़ता है—

"तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनम्॥
तिष्ठतु जिनेन्द्र तावत् यावन्निर्वाणसम्प्राप्तिः॥
तव पद मेरे हियमें, मम हिय तेरे पुनीत चरणोंमें।
तबलों लीन रहे प्रभु जबलौं न प्राप्ति मुक्तिपदकी हो॥"

इससे सिद्ध होता है कि कोई भी जीव अपनी जघन्य अवस्था को नहीं चाहता। देखिये मूर्खसे मूर्ख जब मन्दिरजीमे दर्शन करने जाता है तब यही तो प्रार्थना करता है कि हे भगवन्! हमे संसार बन्धनसे मुक्त कर दो। इसका यही अर्थ तो हुआ कि हम भगवान हो जावें। अतः जब आत्मा उस पदको चाहता है जिससे उत्कृष्ट अन्य पद नहीं तब वह कार्य करो जिससे यह संसार बन्धन ही न हो। फिर तुम्हे भगवानके पास जाकर याञ्चा करनेकी आवश्यकता न होगी कि—हमारा बन्धन काट दो, क्योकि बन्धनका मूल कारण कषाय है, कषायके अभावमे बन्धन नहीं होता। अतः जिन्हे भगवान होनेकी अभिलाषा है वे भगवानसे प्रार्थना करना त्यागकर भगवन्निर्दिष्ट मार्गपर चलनेकी चेष्टा करें तो अनायास भगवान हो जावेंगे और यदि पथ पर न चलकर केवल भिखारी बने रहेगे तब भगवान बनना तो असंभव ही है भगवानका नाम भी न ले सकोगे।

(२५।७।५१)

२. संसारका कल्याण वही कर सकता है जो स्वयं संसारसे विरक्त हो। जिस मनुष्यने अपने ऊपर शासन नही किया वह अन्यका शासक हो यह सर्वथा असम्भव है।

आजकल सब मनुष्य नेता बननेके प्रयासमे हैं। जो मनुष्य आत्मीय गुणोका विकाश करनेमे असमर्थ है, निरन्तर व्यग्र रहता है, जिसका कोई लक्ष्य नहीं ऐसा उद्देश्यशून्य मनुष्य क्या उपकार करेगा? जो स्वयं दरिद्र है वह परका पोषण क्या करेगा? जो स्वयं अन्धा है वह परको मार्ग नही दिखा सकता। इसी तरह जो स्वयं आत्मज्ञानशून्य है वह परके हितकी वार्ता क्या करेगा?

(२६।७।५१)

नशा निषेध

१. मल्लाह आदि लोग मद्यपान बहुत करते हैं, प्रायः २) तककी मदिरा पान कर जाते हैं अतः इनके पास द्रव्य संचय नहीं होता। भारतराज्य, सभापति, मन्त्री आदि इनकी उन्नतिमें प्रयत्न-शील हैं परन्तु इनका उद्धार कैसे हो? इसपर दृष्टि नहीं। जो लोग जनसमाजमें श्रेष्ठ कहलाते हैं केवल उनसे कहते हैं कि इनसे घृणा मत करो। उचित ही है, परन्तु जबतक इन लोगोंमें मद्य मांसका प्रचार है तबतक न तो लोग इनके साथ समानताका व्यवहार करेंगे और न इनका उत्कर्ष भी होगा। उनके साथ घृणा आदि सहजमें दूर हो सकती है। प्रथम तो राज्यकी ओरसे मद्य विक्री रोकी जावे, क्योंकि मद्य (मदिरा) पान करके मनुष्य उन्मत्त हो जाता है और उन्मत्त अवस्थामें अपने स्वरूपको भूल जाता है। इसका कारण है कि मदिराका प्रभाव इन्द्रियादिको पर पड़ता है। वे कार्य तो करती हैं परन्तु विपरीत करने लगती हैं। यहाँ तक देखा जाता है कि उन्मत्त मनुष्य माताको भार्या और भार्या-को माता मानने लगता है। मदिराके नशामें अनेक विरुद्ध चेष्टाएँ करने लग जाता है। यदि इसके मुखमें कुत्ता भी मूत्र कर देवे तब उसे 'मधुर है, मधुर है' ऐसा कहते हुए भी लज्जाका पात्र नहीं होता! इसके अतिरिक्त—गाँजा, चरस, आदिका निषेध किया जावे। भारतवर्षमें करोड़ो रुपयेकी आय सरकारको तमाकूसे होती है। आज यह छूट जावे तब करोडों आदमी निरोग हो सकते हैं। राज्य तो चाहे सो कर सकता है। क्योंकि सत्ताका बल है। आज जो भी अधिकारी वर्ग है वह स्वयं सिगरेट पान करते हैं। यहाँतक देखा कि अधिकांश मद्यादि पान भी करते हैं। अन्य विभागके अधिकारियोंकी कथा छोड़ो, जो बालकोंको शिक्षा देते हैं वे स्वयं

सिगरेट पान करते हैं। उनके द्वारा सुकुमार बालक कहाँतक शिष्टाचारका पालन करेंगे अतः यदि देशका श्रेय चाहते हो तब इन नशाकारक पदार्थोंका त्याग करो। जिनसे परिणामोंमे विकृति पैदा हो ऐसे पदार्थ भी त्यागो। जिन पदार्थोंके भक्षण करनेसे विशेष राग उत्पन्न हो उनका भी त्याग करो। उदरसे न्यून भोजन करो, निरन्तर भोजनकी कथा मत करो। मनकी मलीनता जिनसे हो ऐसे भक्ष्य पदार्थ भी त्यागो। जो मनुष्य मिले उसे त्यागकी बात बताओ।

(२९।३०।६। तथा ६।९।५१)

भयङ्कर भूल

१. लोग जिन कार्योंमे धर्म मानते आ रहे हैं उनसे भिन्न कामोंमे आवश्यकता होनेपर भी एक पैसा व्यय नहीं करना चाहते! देखा गया है कि मन्दिरमे नवीन वेदिकाकी आवश्यकता नहीं फिर भी उसमें वेदी जड़वा देंगे, १०,०००) तक व्यय कर देवेंगे। पड़ौसमे जाति भाई आजीविकासे भी रहित होगा तो भी उसे १०) पूँजीको न देंगे। सिद्धचक्रविधानमे हजारो रुपया व्यय कर देवेंगे किन्तु एक विद्यार्थीको पढ़ानेमे १००) भी न देवेंगे। पञ्चकल्याणककी आवश्यकता न होनेपर भी ५०,०००) रुपया व्यय करनेमे विलम्ब न करेंगे। किन्तु अपने ग्राममे ही धर्म शिक्षा देनेके लिए एक अध्यापकको ५०) देनेमे इनका हृदय द्रवीभूत न होगा। देशमे लाखो मनुष्य अन्नके कष्टसे पीड़ित होनेपर भी लोग विवाहादि कार्योंमे लाखो रुपया वारूदकी तरह फूँक देनेमे संकोच न करेंगे। लाखो रुपया शरीरकी चमक दमकमे स्वाहा कर देवेंगे परन्तु अन्न वस्त्र विहीनकी रक्षामे ध्यान न देवेंगे। देवदर्शनादि करनेको समय नही मिलता ऐसा वहाना कर देवेंगे परन्तु सिनेमा

आदि देखनेमे आँख खराब हो जावे इसकी परवाह न करेंगे। धिक् इन भावोको।

(११।७।५१)

ग्रामोंकी ओर

१. ग्रामीण जन बहुत ही सरल और उदार होते हैं। इनमे मायाचारका प्रवेश नहीं होता। तथा विषयोंके लोलुप भी नहीं होते। कारण भी ऐसे ग्रामोमे नहीं होते, अतः उनके संस्कार निर्मल होते हैं। (१७।२।५१)

२. अभी तक ग्रामीण मनुष्योंमें आतिथ्य सत्कार है। परमार्थसे देखा जावे तब यह सब व्यवहार लौकिक मनुष्योंकी दृष्टिमें महत्ता रखता है। शुद्धोपयोगकी दशामे न तो इसकी इच्छा है और न वह इसको उपयोगी ही समझता है।

(१९।२।५१)

३. प्रायः जहाँ व्याख्यानोका विशेष प्रचार है तथा बहुजन समुदाय जहाँ निवास करता है, अनेक धर्मायतन जहाँ हैं तथा विशेष विद्याके साधन विशेष हैं वहीं अनेक अनर्थोंकी राशि देखी जाती है। इसका कारण यह है कि वहाँ पुष्कल विषयोकी सामग्री पाई जाती है। यह प्राणी अनादिसे परको निज मानता है। जहाँपर यह विषयकी पुष्कल सामग्री होती है वहींपर लोग विषयोंके लोलुपी हो जाते हैं और जब विषयोंकी पूर्णता नहीं होती तब जैसे बने वैसे पूर्ति करनेकी चेष्टा करते हैं। इसके लिये अनेक अनर्थ करते हैं। हिंसादि पाँच पापोमे प्रवृत्ति करनेमे अनायास प्रयत्न होने लगते हैं। अतः जिनको इन विषयोंमे न फँसना हो उन्हें शहरका निवास नहीं करना चाहिये।
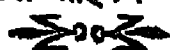
(२०।५।५१)

सूक्ति सुधा

१. संसारकी यही दशा है कि जो वस्तु आज जिस रूपमे है कल उसका अभाव है। संसारकी यह परिवर्तनदशा देख किसी भी वस्तुका अभिमान मत करो। तुम स्वयं जो आज हो कल नहीं रहोगे। जो पदार्थ आजके दिन तुम्हारे है कल वे सब पलट जावेंगे। तुम स्वयं परिवर्तनशील हो पलट जाओगे।

(१।१।४७)

२. श्रीमहावीर स्वामीकी मनोहर मूर्तिके दर्शनसे वीतरागताकी अनुमिति होती है। शरीरकी मुद्रा और है। वीतरागता आत्माकी परिणति है उसका दर्शन नही होता वह तो अनुभवगम्य है।

(४।१।४७)

३. गल्पवादसे स्वपर मनोरञ्जनकी चेष्टा अकार्यकारिणी है।

(६।१।४७)

४. संसारमे सभी मनुष्य कीर्ति चाहते हैं परन्तु कीर्ति होना पुण्यके अधीन है। पुण्यका लाभ शुभ परिणामोके अधीन है तथा शुभ परिणाम उत्तम कार्योंके करनेसे होते हैं। उत्तम कार्य वह है जिनसे प्राणियोंको कष्ट न पहुँचे। सबसे उत्तम तो वह जीव है जो स्वयं अपनी आत्माको कष्ट नहीं देते। जो मनुष्य अपनी आत्माको संसार यातनाओसे नही बचा सकता वह परको बचावे यह असम्भव है।

(१४।१।४७)

५. आगमकी कथा द्वारा ही प्रायः अनेक जीव आत्मतत्त्व-की खोज करते हैं। परन्तु श्री कुन्दकुन्द महाराजका कहना यह है कि आगम, गुरुपरम्परा तथा तर्क इन सबीसे परे स्वीय अनुभवसे वस्तुका निर्णय करो। जिस पदार्थका निर्णय आगमसे वर्षोंमें नहीं हो पाता उसका निर्णय अनुभवसे मिनिटोंमें हो जाता है।

(१६। १। ४७)

६. भोजनकी विशेषता दो बातोंसे है, शुद्ध हो तथा सादा हो।

(३। ३। ४७)

७. जहाँ तक बने मनको वशमें करनेकी चेष्टा करो। भोजन की गृध्नता और पर पदार्थोंमें ममता छोड़ो। ममताका मूल कारण अनात्मीय पदार्थोंमें आत्मीय बुद्धिकी कल्पना है। इस अनात्मीय बुद्धिके त्याग विना यह ममता छूटना अति कठिन है।

(५। ३। ४७)

८. जो मनुष्य सङ्कोचशील होता है उसका पद पदमें पतन होता है।

(२५। ३। ४७)

९. वर्तमानमें अधिक सरल होना लौकिक उन्नतिका बाधक है। यह समय इतना भयावह है कि सरल मनुष्योंकी गणना पशुमें की जाती है।

(२९। ३। ४७)

१०. चित्तकी स्थिरता तथा चञ्चलता दोनों ही शुभ और अशुभ हैं। मनोव्यापार जहाँ शुभ कार्योंमें प्रवृत्ति करता है वहाँ पर चाहे वह स्थिर हो चाहे चञ्चल हो शुभ ही कहलाता है। जहाँ अशुभ कार्योंमें प्रवृत्ति करता है वहाँ चाहे चञ्चल हो चाहे स्थिर हो अशुभ ही है। मनकी चञ्चलता आत्मसुखकी घातक नहीं,

उसमे जो कपायकी पुट है वही इसको संसारमें पटकनेवाली है। चाहे वह शुभोपयोगकी साधक हो, चाहे अशुभोपयोगकी जननी हो।

(१४।४।४७)

११. अपने दोषोंको कोई नहीं कहना चाहता, निरन्तर महान बननेकी चेष्टा करता है, भले ही काम अन्यथा करे, यही तो भूल है।

(१६।४।४७)

१२. लोकेपणाकी मूर्च्छा ही लोकमे कार्य करनेमे प्रवृत्ति कराती है। कार्यसे जो बचता है उसमें भी यही लोकेषणा कारण है। लोक भयसे कोई पाप छोड़ना कोई मोक्षमार्गका साधक नही। जैसे पित्त रोगके भयसे कोई उष्ण पदार्थ छोड़ देवे तब वह उसका त्यागी नहीं। इसी प्रकार नरकादि भयोसे पापसे बचना लाभदायक नहीं, परमार्थ वस्तुके मनन करनेसे ही आत्मलाभ होता है।

(१८।४।४७)

१३. मनुष्य पर्यायका प्रत्येक क्षण दुर्लभ है। इसमे प्रमाद मत करो। शुभ परिणामोकी परम्पराका घात मत करो। अशुभ परिणामोंको आश्रय मत दो। गृहस्थोंके संसर्गसे आत्मक्षति होती है।

(२१।२।४७)

१४. वास्तवमे केवल पदार्थ ही रहना संसारका नाशक है। जहाँ दो पदार्थोंका सम्पर्क है वहीं सब उपद्रव है। जो सृष्टि हमारे देखनेमे आती है वह दो पदार्थोंके विलक्षण सम्बन्धसे उत्पन्न हुई है। दो पदार्थोंका तादात्म्य तो होता ही नहीं, बन्ध ही होता है। जब इस प्रकारकी वस्तु मर्यादा है तब हमें उचित है कि इन पर-

पदार्थोमें अपना सम्बन्ध त्याग देवें। आत्मा एक पदार्थ है, उसका लक्षण ज्ञानदर्शन है, उससे भिन्न जितने भी पदार्थ हैं उनमें देखने जाननेकी शक्ति नहीं, अतः न तो उन्हें दुःख वेदन होता है और न सुख ही होता है। यह सब विकार आत्मद्रव्यमें ही होते हैं। रागादिक भाव भी आत्माके हैं परन्तु पौद्गलिक कर्म विपाकके उदयमें होनेसे विकृत भाव है अतएव हेय हैं। सर्वथा परको मानना उचित नहीं। यदि हेय हैं तब अपने ही हैं। हेय इससे हैं कि पर निमित्तसे जायमान है तथा आकुलताके जनक हैं। क्षायिक भाव भी तो कर्मके अभावमें होता है, पारिणामिक नहीं परन्तु हेय नहीं। उपशमादि सम्यक्त्व भी तो कर्मके उपशमादिसे होते हैं, उनको हेय नहीं कहा। जब क्षायिक सम्यक्त्व होता है वह पर्याय स्वयमेव नहीं रहती। चारित्रके उदय होते ही रागादिक स्वयं विलय जाते हैं फिर भी उन्हें हेय माना है क्योंकि रागादिक परिणाम आत्माको आकुलताके उत्पादक हैं। इस तरह उपशमादि परिणाम आकुलताके जनक नहीं। ये भाव यद्यपि कर्मके उपशमसे होते हैं फिर भी इनसे उनमें बड़ा अन्तर है, वे भाव कर्म बन्धके कारण हैं, उपशम भाव बन्धके कारण नहीं। जो भाव आत्माको संसारमें रुलावें वे हेय हैं। चरणानुयोगमें जो त्याग बताया है उसका यही तात्पर्य है कि रागादि भाव छूटें तथा चरणानुयोगमें जो विधि है उसका तात्पर्य भी साक्षात्परम्परा निवृत्ति परक ही है।

(२५।५।४७)

१५. मनुष्योंको उचित है कि अपनी प्रतिज्ञासे च्युत न हो अन्यथा उनकी कोई प्रतिष्ठा नहीं।

(२८।५।४७)

१६. शूरता ही संसार परम्पराको नाश करनेवाली शक्ति है।

जो कायर होते हैं वे न तो लोकमे प्रतिष्ठा पाते हैं और न परलोकमे ही।

(२३। ६। ४७)

१७. परमार्थसे पापोका प्रायश्चित्त 'पाप करनेका अभिप्राय न रहे' यही है। परका विभव देख विषाद न हो और निज गुणका विकाश हो, उसमे अभिमान न हो। हर्ष होना बुरा नही है।

(२७। ६। ४७)

१८. जबतक अनात्मीय पदार्थोंमे रुचि है तबतक यही उपद्रव है। सम्यग्दृष्टिके भी तो भोजनादिकी यही चेष्टा रहती है। आसक्तता ही उसमे कारण है। जो उसमे आसक्त नही, काल पाकर एकदम विरक्त हो जावेगा।

(३०।६।४७)

१९ संसार है। यहाँ तो सब स्वार्थ देखते है। तत्त्वदृष्टिसे यही होना चाहिए। यहाँ तो जिसने स्वार्थ साधा वही मनुष्य बन्धनसे छूट गया। परन्तु वही तो नही साधा।

(१७। ७। ४७)

२०. जो मानव जातिका कल्याण करनेके इच्छुक हैं उन्हें उचित है कि मनुष्य जातिको पञ्च पापसे रक्षित करें अन्यथा उनका हित नहीं हो सकता। जो पापाचार छोड़नेमे असमर्थ हैं वह संसार बन्धनसे नहीं छूट सकते। बन्धका करनेवाला पाप ही तो है।

(२३। ५। ४८)

२१. प्रतिकूल कारण उपस्थित होने पर यदि चित्तमे उद्वेग न हो, उद्वेग ही नहीं पदार्थान्तरमें अन्यथा भाव न हो तो समझो हमारी प्रवृत्ति कुछ सरल मार्गकी ओर जा रही है।

२२. भूलकी खनि तुम स्वयं हो। निमित्त कारणों पर आरोप करना अपनेको गर्तमें पटकना है।

(२४। ५। ४८)

२३. वस्तु स्वरूप निरूपण करनेवाला यदि वस्तुके स्वरूप-को न जाने तव निरूपण करनेमे समर्थ नहीं हो सकता। जिसने मिश्री भक्षण नहीं की वह मिश्रीका स्वाद नहीं वता सकता। मिश्रीका स्वाद मिश्रीमे नहीं, क्योकि मिश्रीमे चेतना नहीं। जिसमे चेतना है उसीमे पदार्थ जाननेकी सामर्थ्य है। ज्ञाता ही इसको कह सकता है कि मिश्री मधुर होती है। यह भी जानना इन्द्रिय ज्ञान-वालेका है। अतीन्द्रिय ज्ञानका विषय मिश्री मीठी होती है, नीम कटुक होता है, मिर्च चरपरी (तिक्त) होती है यह नहीं। यह तो निर्विकल्प ज्ञान है, मोहातीत है। उसका विषय क्या है यह हमारे ज्ञानमे नहीं आता। हमारा जो ज्ञान है उसका अनुभव हमको है। हम छद्मस्थके ज्ञानके विषयको नहीं कह सकते। केवलीके ज्ञानका क्या विषय है, कहना सर्वथा अशक्य है।

(२१ । ७ । ४७)

२४. संसारमे प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है, कूटस्थ नहीं। किसी भी पदार्थका नाश नहीं होता। केवल पदार्थमात्र एक अवस्थाको त्याग कर अवस्थान्तरको ग्रहण करता है। जैसे मृत्तिकाका घट वनता है। अर्थात् पहिले मिट्टी शुष्क पर्यायमे स्कन्ध रूपसे थी, पश्चात् कुम्भकार द्वारा पानीके सम्वन्धसे गीली अवस्था मे हुई। पश्चात् स्थासादि अवस्थाओ द्वारा घट रूप हो गई।

(१ । ८ । ४७)

२५. वहुत मनुष्योंमे गल्पवाद ही की प्रचुरता रहती है। एकान्तमें चित्त विक्षेपताके कारणोंकी प्रचुरता नही रहती। चित्तमे व्यग्रताका कारण प्रतिकूल सामग्रीका सद्भाव है। जहाँ प्रतिकूल सामग्रीका सद्भाव रहता है वहाँ चित्त शुद्धताकी उत्पत्ति नहीं होती। संक्लेशताका उदय होता है।

(२ । ८ । ४७)

२६. शरीरमें कोई रोग नही। वास्तवमे रोग तो आत्मामे है। जब आत्मामे कषायें उत्पन्न होती हैं तब वह उनके शमन करनेके अर्थ नानाप्रकारके मनोरथ करता है। मनोरथ कितने ही करे परन्तु भोगनेके लिये केवल स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द ही पल्ले पड़ते हैं।

(१३।८।४७)

२७. संसारमे दुःखका मूल कारण परपदार्थके स्वामीपनेमे है। जहाँ स्वामीपन है वही इष्टानिष्ट कल्पना होती है। जो इष्ट हुआ उसे अनुकूल और जो अनिष्ट हुआ उसे प्रतिकूल मान लेना ही दुःखका कारण है।

(२२।८।४७)

२८. वास्तवमे चारित्र गुणका एक ऐसा भी विलक्षण परिणाम होता है जो आस्रव बन्धके होने पर भी संवर और निर्जरामे कारण हो जाता है।

(२१।९।४७)

२९. जो छात्र अपना लक्ष्य पठन पाठनसे हटाकर अन्य कार्यमे लगाता है वह गलत मार्ग पर है। मनुष्यको एक लक्ष्य स्थिर रखना चाहिये। बिना लक्ष्य स्थिर किये उन्नति होना कठिन है।

(२७।९।४७)

३०. संसार उपद्रवोका घर है। उन्हे धन्य है जो संसारसे पृथक् हो गये। संसारसे पृथक् होनेका मूल मन्त्र पर पदार्थमे मूर्च्छाका त्याग है। परमे जो निजत्व बुद्धि है उसे त्यागो। कहनेमे कोई बड़ी बात नही परन्तु करनेमे कष्ट है।

(२९।९।४७)

३१. मनुष्यको साहस चाहिये बड़े-बड़े कार्य कर सकता है।

(३०।९।४७)

३२. प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहना विजयका कारण है। यदि आत्मा चाहे तब संसार पर विजय प्राप्त कर सकता है।

(३०।१०।४७)

३३. वास्तवमें पित्तरोगीको मिसरी नहीं रुचती। एवं जिनके हृदय मलिन हैं वे धर्मसे विमुख रहते हैं। पर पदार्थको अपना मानना ही उनका कार्य है।

(११।११।४७)

३४. क्षेत्रका निमित्त पाकर परिणामोंकी निर्मलता हो जाती है। बहुत बार ऐसा देखनेमें आया कि कालादि निमित्त पाकर परिणाम निर्मल हो जाते हैं।

(१८।११।४७)

३५. बुद्धिकी न्यूनतासे शक्ति होकर भी उत्तम कार्य करनेसे वञ्चित रहते हैं यह सब अज्ञानका फल है।

(२९।११।४७)

३६. मूर्ख मनुष्योंको रञ्जायमान करना अति कठिन है। उन्हें स्वपरविवेक नहीं, क्योंकि उन्होंने कभी शास्त्रज्ञ पुरुषोंका संसर्ग नहीं किया।

(८।१२।४७)

३७. आजकल संसारमें धन पुरुषार्थकी मुख्यता है।

(९।१२।४७)

३८ परमेश्वरसे सुखाभिलाषा करना सुखका साधक नहीं।

(१२।१२।४७)

३९. संसारकी अवस्था यही है कि जिसका उदय है उसका नाश भी।

(१६।१।४८)

४०. भवितव्य दुर्निवार है। प्राणियोंके सुख दुख उसी पर अवलम्बित है

(१७।१।४८)

४१. केवलपद प्राप्तिके लिये केवलभावकी परमावश्यकता है। बात कहनेमे कुछ भी नही लगता परन्तु तद्रूप होना कठिन है। हम लोग पर पदार्थोंमे गुण दोषकी विवेचना करते हैं। पर ही गुणोका उत्पादक है, और पर ही दोषका जनक है, यही हमारी विरुद्ध धारणा है।

(२८।१।४८)

४२. जिस व्याख्यानको कहकर आप स्वयं उसके करनेमे अशक्य हो तब उस व्याख्यानसे क्या लाभ? अन्धेकी लालटेन सदृश है। जिसको श्रवण कर कोई आचरण न करे उससे भी क्या लाभ? सर्वथा इसका निषेध नही परन्तु वर्तमानमें ज्ञानमात्र लाभ है।

(२२।२।४८)

४३. अन्तर्दृष्टिसे कार्य लो, कोई किसीका नही, वाह्यदृष्टिसे कुछ कार्य नही होता।

(२६।२।४८)

४४. भावनाका फल कभी नहीं मिल सकता। भावना तो यहाँ तक होती है कि त्रैलोक्यके प्राणियोंका कल्याण हो परन्तु होना अशक्य है।

(१५।३।४८)

४५. ज्वरका कारण अजीर्ण है। अजीर्णताका मूल कारण रसनाकी लोलुपता है।

(९।४।४८)

४६. बातका निर्वाह करना कठिन है। कह देना कोई तत्व नहीं रखता। सर्व सङ्ग त्यागना कठिन नहीं। आत्माकी कलुषता त्यागना कठिन है।

(१०।४।४८)

४७. जो परको उपदेश करते हो पहिले यह विचारो कि हम स्वयं इसका पालन करते हैं या नहीं। स्वयं पालन किये बिना दूसरेको उसका उपदेश देना वेश्याके द्वारा दिए गये ब्रह्मचर्य के उपदेशके सदृश है।

(२१।५।४८)

४८. परके सम्बन्धसे जो भाव आत्मामें होते हैं वे उस सम्बन्धके अभावमें मिट जाते हैं। जैसे मोहके उदयमें आत्मामें मिथ्यादर्शन होता है वह भाव मोहजन्य है। जिस कालमें मोहोदय नहीं उस कालमें वह भाव भी नहीं। इसी तरह चारित्रमोहके उदयमें जो भाव होते हैं उनकी भी यही व्यवस्था जानना। क्षयोपशमसे भी जो भाव होते हैं वे उसके अभावमें नहीं होते। अतः जो ये औदयिक, औपशमिक तथा क्षायोपशमिक भाव हैं सभी परके सद्भावमें होनेसे त्यागने योग्य हैं। एक पारिणामिक भाव जो कि द्रव्यकी सत्ता रखे हैं वह या कर्मोंके अभावमें होनेवाला क्षायिक भाव ही नित्य है, अतः उसीकी ओर लक्ष्य दो।

(२२।५।१।६।४८)

४९. संसारको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करना मरुमरीचिकामें जल खोजनेका प्रयास है।

(२।६।४८)

५०. बड़ा कलङ्क यह है कि तुम जो कहते हो उस पर असल नहीं करते।

(१६।७।४८)

५१. कर्मविपाकको ऋण समझना उचित है। जो ऋण लिया है उसे विना तकाजाके दे देना चाहिये। तकाजा होनेपर देनेमें आनाकानी महती नीचता है।

(२५।७।४८)

५२. सत्समागम उसे कहते हैं जिसके कारण कषाय उत्पन्न न हो।

(२३।८।४८)

५३. आत्मगौरवका यह अर्थ नहीं कि अपनेको उच्च और परको तुच्छ समझो। अपितु अपनी आत्माको क्रोधादि कषायोंसे कलङ्कित न करो। परकी अपेक्षा न करो, यही तो संसार बन्धनकी जड़ है। परको देखकर द्रष्टा वने रहो। तुम्हे क्या अधिकार है कि किसीको निर्मल या समल कहो ?

(२६।८।४८)

५४. अनादि-अनन्त-अचल-स्वसंवेद्य चैतन्य ही जीवका लक्षण बतलाया है। यह लक्षण सर्वावस्थाव्यापक है। इसका यह तात्पर्य नही कि लक्षण 'अनादि अनन्त होनेसे हम स्वरूपसे च्युत हो गये।

(१।९।४८)

५५. समयसारका कर्तृकर्म अधिकार जानना कठिन है, फिर भी जाननेकी अपेक्षा यथार्थ श्रद्धान होना अति सरल नहीं तथा सरल भी है। किन्तु हम उसरूप होनेकी चेष्टा नहीं करते। आत्माको संसार बन्धनसे निवृत्त करना कठिन नहीं।

(७।९।४८)

५६. वास्तवमें जब आत्मामें संवर हो जाता है तब निर्जरा के लिये विशेष परिश्रमकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि जो कर्म उदयमें आवेगा उस कालमें यदि आत्मामें आगामी कर्म बन्धका कारण राग-द्वेष नहीं तब निर्मोही ही तो होगा।

आगममें उस निर्जराको महत्त्व दिया है जो संवर पूर्वक होती है। 'आस्रवनिरोधः संवरः' तथा 'कर्मफलानुभवनं निर्जरा' यहाँ पर फलानुभवन के समय यदि रागद्वेष न हो तब निर्जरा होना कार्यकारिणी है।

आत्मामें मन, वचन और कायके व्यापार यदि राग सहित हो तब ज्ञानावरणादि कर्मोका बन्ध अवश्यम्भावी है। उपयोगके साथ यदि रागादिक नहीं है तब बन्ध होना असम्भव है।

(२८, २९, ३० । ९ । ४८)

५७. तत्त्वज्ञानसे तात्पर्य यह है कि आत्माको आत्मा और परको पर जानो। इसका यह तात्पर्य है कि आत्मामें पर निमित्तक जो विभाव होते हैं उन्हें त्यागो। जाननामात्र बन्धाभावमें कोई प्रशस्त कारण नहीं।

(४ । १२ । ४८)

५८. जिसके यह संवर हो जाता है वह आत्मा संसार बन्धनसे अल्प कालमें ही मुक्त हो जाता है।

(१० । १० । ४८)

५९. संसारमें जो कार्य कारणकूटसे होता है वह अनित्य होता है। उसकी प्राप्तिके लिये परिश्रम करना व्यर्थ है। जैसे शुभोपयोगसे पुण्यकी प्राप्ति होती है और पुण्यसे उत्कृष्ट गतिका लाभ होता है। वह गति आयुकर्मके अभावमें मिट जाती है। अतः उसके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है। यही नियम सभी कार्योंमें लागू होता है। कारणकूटसे जो कार्य उत्पन्न होते हैं वे नाशवान् होते

है, अतः उनके लिये प्रयास करना कोई महत्त्व नहीं रखता। अतः जो वस्तु कर्मोके अभावमें उत्पन्न हो वही ध्रुव है।

(२१ । १० । ४८)

६०. इस समय संसारमे सर्वत्र भौतिकवादका साम्राज्य है। सब मनुष्योके भाव काम और भोगमे आसक्त हैं। निरन्तर धन और विलासिताके अर्जनमे अपनी शक्तिका उपयोग कर रहे हैं। चाहे उसमे आत्मघात हो, चाहे परघात हो इसका ध्यान नहीं।

(२२ । १० । ४८)

६१. पर पदार्थोंमे जहाँ आत्मीय बुद्धि हो जाती है वहाँ पर आत्मा विवेकशून्य हो जाता है। विवेकके अभावमे ही संसार है। अतः आवश्यकता भेदज्ञानकी मुख्यता होनी चाहिये। भेदज्ञान विना शुद्धात्मोपलब्धि होना अशक्य है।

(२३ । १० । ४८)

६२. आत्माका पुरुषार्थ यही है कि प्रथम तो पापोंसे निवृत्ति करे तदनन्तर निज तत्त्वकी शुद्धिका प्रयास करे।

(१९ । १२ । ४८)

६३. चित्तवृत्ति शमन करनेको आत्मश्लाघा त्यागनेकी महती आवश्यकता है। स्वात्मप्रशंसाके लिये ही मनुष्य प्रायः ज्ञानार्जन करते है, धनार्जन करते है, पर निन्दा तथा स्वात्म-प्रशंसा करते हैं। पर मिलता-जुलता कुछ नहीं।

(२१ । १२ । ४८)

६४. अपना अनादर जो करता है उससे अन्यका आदर नही हो सकता।

(३१ । १२ । ४८)

६५. परमार्थसे सब द्रव्योंकी सुन्दरता तभी तक है जब तक वह निजमे परिणमन करते हैं। परिणमन तो निजमे ही होता है।

सहकारी कारण भले ही कार्योत्पत्तिमें सहायक हो परन्तु कार्यकी उत्पत्ति उपादान कारणमें ही होती है। पूर्व परिणाम संयुक्त द्रव्य ही उत्तर पर्याययुक्त द्रव्यका कारण है।

(११ । ३ । ५१)

६६. जो कार्य करो उसमें यह भाव रक्खो कि फिर उसे न करना पड़े। अशुभोपयोगकी कथा दूर रहो शुभोपयोग कार्यमें भी यह भावना रक्खो कि इसको फिर करनेका अवसर न आवे। हमारा तो यह विश्वास है कि भगवानका स्मरणकर यह भावना भावो कि हे भगवन्! आपके प्रसादसे मुझे फिर आपके द्वार न आना पड़े। संसारमें रागभाव ही तो दुःखका कारण है, चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ हो। आपकी भक्तिसे आत्मगुणका विकाश होता है अतः वही प्रशस्त है। आपसे इतरकी जो भक्ति है वह केवल रागादिवर्धक है। अतः उनकी भक्ति व स्नेह संसार वर्द्धक है इसी लिये त्याज्य भी है. क्योंकि "गुणेषु अनुरागो भक्तिः" गुणोंमें जो अनुराग है वही भक्ति है। संसारी जीवोंमें जो अनुराग है वह राग हीका पोषक है। राग ही संसार बन्धका कारण है। परमेष्ठी में जो भक्ति है वह रागवर्द्धक नहीं; क्योंकि उनके जो गुण हैं वे रागनाशक हैं। इससे भक्ति करनेवालेका रागोच्छेद गुणमें अनुराग है। गुणमें अनुराग है अतः वह अनुराग रागका वर्द्धक नहीं, क्योंकि वीतरागतामें जो स्नेह है वह रागका नाशक है। राग संसारवर्द्धक है फिर भी वीतरागकी रुचि वीतरागभावको ही पुष्ट करनेवाली है।

(२३ । ३ । ५१)

६७. 'सर्वथा आगमके जाननेसे ही आचरण होता है' यह नियम नहीं। ऐसे मनुष्य देखे जाते हैं जिन्हें आगमका अंश मात्र भी ज्ञान नहीं परन्तु अहिंसादि व्रतोंका सम्यक् परिपालन करते

है। 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' इस सूत्रको बाँच नहीं सकते परन्तु फिर भी हिंसासे अपनी आत्माको रक्षित रखते हैं। इसी प्रकार 'असदभिधानमनृतम्' इस सूत्रको पढ़ नहीं सकते हैं फिर भी मिथ्या भाषण कभी नही करते। अदत्तादानं स्तेयम्' इस सूत्रकी व्याख्या आदि कुछ नही जानते किन्तु स्वप्नमे भी पराई वस्तुको ग्रहणके भाव नहीं होते। मैथुनमब्रह्म' इसके आकारको नहीं जानते किन्तु स्वकीय परिणतिसे स्त्रीविषयक भोगका भाव नहीं होता। इसी तरह 'मूर्च्छा परिग्रहः' इसका भी अर्थ नहीं जानते फिर भी पर पदार्थोंमे मूर्च्छा नही करते। इससे सिद्ध है कि आगममें जो लिखा है वह आत्माके परिणामविशेषको ध्यानमे रख शब्द रचना रूपमें लिखा गया है।

(२५।३।५१)

६८. तत्त्वदृष्टिसे वृद्धावस्था भ्रमण योग्य नही। कविवर पं० दौलतरामजी ने ठीक कहा है—

'अर्धमृतक सम बूढ़ापनो, कैसे रूप लखे आपनो।'

यद्यपि विचार कर देखा जावे तव वृद्धावस्था कल्याण मार्गमें पूर्ण सहायक है, क्योकि युवावस्थामे प्रत्येक आदमी बाधक होता है। कहता है—'भाई! अभी कुछ दिन संसारके कार्य करो पश्चात् वीतरागका मार्ग ग्रहण करना।' इन्द्रियाँ भी विषय ग्रहणकी ओर ले जातीं हैं, मन निरन्तर अनाप-शनाप संकल्प-विकल्पके चक्रमे फँसा रहता है। इसके विपरीत जब अवस्था वृद्ध हो जाती है तब चित्त स्वयमेव विषयोसे विरक्त हो जाता है।

(३०।३।५१)

६९. मन्दिर जानेका यह प्रयोजन है कि वीतराग देवकी

स्थापना देखकर वीतराग भावकी प्राप्तिके लिये स्वयं द्रव्यनिक्षेप बनो। वीतरागके नामका पाठ करनेसे वीतराग न हो जाओगे। उन्होंने मार्ग अवलम्बन कर वीतरागताकी प्राप्ति की है अतः उस मार्ग पर चलकर स्वयं वीतराग होनेका पुरुषार्थ करो। पुरुषार्थ और कुछ नहीं केवल यही है कि जो रागादिक भाव तुममें हो उनका आदर न करो। आने दो, क्योंकि तुमने उन्हें अर्जन किया था। अब उनसे तटस्थ रहो।

(११ । ४ । ५१)

७०. आहारको निकले, अनायास कल्पना हुई कि आज स्वर्गीय पं० देवकीनन्दजीके घर आहार होना चाहिये परन्तु उनके घरके कपाट बन्द मिले। वहाँसे अन्यत्र गये तो वहाँ भी कोई न था अतः तीसरे घर गये तब देखा कि वहाँ पर उक्त पं० जीकी धर्मपत्नीने ही आहार दिया॥ इससे सिद्ध होता है कि जो कल्पना शुद्ध परिणामोंसे की जाती है उसकी सिद्धि अनायास हो जाती है।

(१२ । ४ । ५१)

७१. संसारमें मनुष्योंका व्यवहार प्रायः यह रहता है कि हम उत्तम कहलावें। यह प्रायः प्रत्येककी आकांक्षा रहती है और यदि वह सिद्ध हो जावे तब वह सुखी हो जावे परन्तु यह असम्भव है। यद्यपि आत्माका स्वभाव न तो किसीसे बना है और न किसीको बनाता है फिर भी यह शुभाशुभ परिणामोंका कर्ता बनता है और उसके फल स्वरूप अनन्त संसारका पात्र होता है। इसको पृथक् करनेके लिये सब मतोंका अध्ययन करता है, उपाय मनमें जो आते हैं अनेकों करता है।

(१३ । ४ । ५१)

७२. स्वच्छ एवं अस्वच्छ भाव ही शुभाशुभ कर्मका कारण

होता है। इन दोनोंसे भिन्न जो सर्वथा शुद्ध है वह संसार बन्धनका उच्छेदक कारण है। संसार सन्ततिका मूल कारण वासना है। वासना आत्मामें ही होती है।

(१६ । ४ । ५१)

७३. इस जगतमें दो पदार्थ अनुभवमें आते हैं। एक तो देखनेवाला और दूसरा जो देखनेमें आवे जैसे स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द। ये तो इन्द्रियोंके द्वारा देखनेमें आते हैं। इन्द्रिय करण है, करण कर्ता बिना नहीं होता। अतः इसका जो कर्ता है उसे जीव कहो, आत्मा कहो या जो कहो। इस तरह ये दो पदार्थ अनादिसे हैं। इन्हें कोई मेट नहीं सकता। केवल यह जो अजीव पदार्थ है वह हमसे भिन्न है सो भी कहने मात्रकी बात है, अन्तरङ्ग श्रद्धा नहीं। आज जो संसारको दुःखी देख रहे हो इसका मूल कारण यह है कि दृश्यमान शरीरको आत्मा अपना रहा है। जब शरीरको निज समझा तब उसकी रक्षा रहे, इसके लिये अनेक अनर्थ करने पड़ते हैं। भूख तृषादि अनेक रोगोंका मन्दिर शरीर है। उसे जब निज माना तब उसकी रक्षाके लिये जो जो अनुचित कार्य यह करता है किसीसे गुप्त नहीं। पञ्च पापोंका प्रचार जो जगतमें है इसी शरीरकी रक्षाके निमित्त है। प्रथम तो सबसे महान् पाप यह है कि इस अजीव शरीरको यह सजीव आत्मा अपना मानता है।

(१८ । ४ । ५१)

७४. वर्तमानमें श्रम कराके ही शिक्षा देना चाहिये। ऐसे कार्य सिखाए जाने चाहिये जिनसे उनके पढ़नेका व्यय निकल आवे।

(२१ । ४ । ५१)

७५. इस भयानक जगत्में भयसे रक्षा करनेवाला कोई नहीं।

भय इसका है कि हमने पर पदार्थको अपनाया। उसकी रक्षा करना चाहते है यह असम्भव है। जो पदार्थ आज है उसकी पर्याय कल रहेगी यह हमारे अधीन नहीं। यदि रह भी गई तो उसमें हमको क्या लाभ? उसके सद्भावमें दुःखदायी जो ममता भाव है वह बना रहेगा. अतः जो पदार्थ ममतामें निमित्त पड़ें चरणानुयोग की आज्ञानुसार वे पदार्थ त्यागने चाहिये। यद्यपि पर पदार्थ जबरन ममता जनक नहीं, अन्तरङ्ग उपादान होनेसे ही उन्हे अपनाते हैं। यदि दैवने उन्हे स्वयं न रहने दिया तब मुझको आपके प्रबल उदय मानना चाहिये। क्या करें कुछ समझमें ही ऐसा विभ्रम है कि जानकार भी गर्तमें पड़ते हैं। जो ज्ञान संसार की व्यवस्था करनेमें प्रख्यात है, उससे युक्त महाराज्ञानी बात छोड़ो अल्पज्ञानी भी यद्यपि परको पर और अपनेको उनसे भिन्न मानता है फिर भी इस द्विविधामें पड़ा है। जो अपनी परिणतिको अपनानेमें हीन पुरुषार्थी है उसका कभी भला नहीं हो सकता।

(३।५।५१)

७६. 'हम न किसीके, कोई न हमारा। झूठा है जगका व्यवहारा।'

कुछ समझमें नहीं आता इससे 'जगका व्यवहार मिथ्या है' यह कहाँसे आया? हाँ, यह बात अवश्य है कि जब हम किसीको अपना मान लेते हैं तब उस पदार्थके प्रति प्रेम करने लग जाते हैं और वह हमें अपनाता है इस व्यवहारमें हम दोनोंमें घनिष्ट सम्बन्ध हो जाता है। यहाँ तक प्रेम हो जाता है कि एक दूसरेको देखे बिना व्याकुल हो जाते हैं। यदि जगतका व्यवहार मिथ्या था तो यह दशा हम दोनोंकी क्यो हुई? इससे सिद्ध होता है कि मिथ्या कहनेका यह आशय है कि परको अपना मानना दुःखदायी है। तथा व्यवहारको झूठ कहनेका तात्पर्य यह है कि

जैसा पदार्थ है तुम उसे वैसा नहीं मानते। इससे तुम्हारा ज्ञान मिथ्या है इसका भी यही तात्पर्य है। ज्ञान तो तुम्हारा स्वत्व है परन्तु उसमे जिसको निज मानते हो वह तुम्हारा नही। तुम्हारा जो है वह तुम्हारे पास है। उसीको निज मानो। जैसे दर्पणमें मुख दिखता है वह तुम्हारा नही है। जो तुम्हारे ज्ञानमे आ रहा है वही तुम्हारा है। वह भी परिणमन मिट जाता है अतः वह भी तुम्हारा नही। जो वस्तु उसके मिट जानेपर रह जाती है वही तुम हो। वह वस्तु भी परिणमनशून्य नही। परिणामका पुंज ज्ञानमें लाओ वही वस्तु है।

(१३।५।५१)

७७. क्रोध दूर करनेमे पुरुषार्थ नही है, पुरुषार्थ तो उसे न होने देनेमे है।

(१४।५।५१)

७८. परकी प्रवृत्ति जैसी होती हो उसपर हर्ष विषाद मत करो। किसीके सहवासमें मत रहो, यदि रहो तब उनकी प्रवृत्तिका ज्ञान ही मत करो।

(१४, १५।५।५१)

७९. अच्छे कार्यके प्रारम्भ करनेके पूर्व यह दृढ़ सङ्कल्प कर लो कि अनेक विघ्नोंके होनेपर भी हम यह कार्य अवश्य ही पूर्ण करेंगे।

वही काम करो जो फिर न करना पड़े।

(१६।५।५१)

८०. पात्र तीन प्रकारके होते हैं जघन्य, मध्यम, उत्तम। इनमे सम्यग्दृष्टिको जघन्य पात्र कहते हैं, विरताविरत (देश विरत) पञ्चम गुणस्थानवाला मध्यम पात्र और सकलविरत (मुनि) यह उत्तम पात्र होता है। ये भेद दान देनेकी मुख्यतासे कहे गये

हैं। इससे सिद्ध हुआ कि चरणानुयोगके अनुकूल जो सम्यग्दृष्टि है वह जघन्य पात्र है और जो चरणानुयोगके अनुकूल व्रत पालता है वह मध्यम पात्र है और जो महाव्रत पालता है वह उत्कृष्ट पात्र है। इन लक्षणोके अनुसार मैं अपनेको जघन्य पात्र मानता हू।

(२१।५।५१)

८१. बहुत प्रयास करना अच्छा है यदि वह कार्यके अनुकूल हो। कार्यके अनुकूल प्रयास कार्यका साधक होता है। केवल प्रयास प्रयासका फल नही देता।

(२४।५।५१)

८२. जगतमें अनेक पदार्थोंका समुदाय है, था तथा रहेगा। हमारा विशेष सम्बन्ध मनुष्योसे है; क्योंकि हमारे बहु व्यापार उन्हींके सदृश हैं। हम जो करते हैं वही यदि दूसरा मनुष्य भी करता है तब हमारा उससे मेल हो जाता है। यदि हम तम्बाकू पीते हैं तब हमारा अनायास उससे स्नेह हो जाता है। चाहे उसको तम्बाकू पिलानेसे हमारा आर्थिक व्यय भी हो तो भी हम उसे न गिनकर हम उससे प्रेम करेंगे। यदि कोई भूखा मिल जावे तब उस मनुष्यको उस द्रव्यसे भोजन न देकर तम्बाकूवालेको बीड़ी तम्बाकू पिलाकर हम प्रसन्न होगे। आज इस जगतमें यदि मनुष्य इस व्यसनको त्यागकर वह द्रव्य देशके उद्धारमे लगावे तब करोडों रुपयेका संग्रह हो सकता है।

(२६।५।५१)

८३. जितना व्यवहार है भेदमूलक है। एक तो पर पदार्थमें व्यवहार है, वह तो प्रदेशभेदकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न द्रव्योमे व्यवहार होता है। जैसे शरीर वस्तु पुद्गल परमाणुओके पुञ्जसे निष्पन्न है। आत्मा ज्ञानदर्शनका आश्रय चेतन द्रव्य है। यहाँ

पर जो यह विकल्प होता है कि यह शरीर हमारा है यह व्यवहार द्रव्यभेदमूलक है। यहाँ पर शरीर और आत्माका एक क्षेत्रावगाही जो सम्बन्ध है वही इस व्यवहारका मूल है। यह भी अन्तस्तलसे देखा जावे तब अनादिसे जो आत्मामें मोहभाव चला आ रहा है वही इस व्यवहारका मूल है। जब आत्मा ज्ञानदर्शनका पुञ्ज है तब यह विभाव क्यों होता है। इसका उत्तर यह है कि आत्मामें विभाव नामक शक्ति है, जिसके विपरिणमनसे ये रागादि परिणाम अनादिसे चले आ रहे है और तभी यह आत्मा अपराधी कहलाता है और तभी अनादिसे यह परिणमन चला आता है और जब मिटना होता है तभी मिटता है परन्तु मोही जीव ऐसा सुनकर पुरुपार्थसे वञ्चित न हो जावे अतः यह कहा जाता है कि उद्यमसे ही कार्यसिद्धि होती है। (३।६।५१)

८४. हर समय प्रसन्न रहो। हर अवस्थामें परके हितके लिए ध्यान रक्खो। भोजन समय पर करनेका ध्यान रक्खो। केवल अपना प्रयोजन पुष्ट मत करो। जिसका भोजन करो उसका प्रत्युपकार करनेकी भावना न रक्खो। श्री रामचन्द्रजीकी यह उक्ति ध्यानमें रक्खो—

"मय्येव जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिवाञ्छति॥"

हे हनुमान्! तुमने जो हमारा उपकार किया वह हममें ही जीर्ण हो जावे अर्थात् आपका प्रत्युपकार हमको न करना पड़े। जो प्रत्युपकार करना चाहते है वे उसे आपत्तिकी इच्छा करते हैं।

जिसके घर भोजन करो उसे धर्मोपदेश दो। यदि वह धर्मोपदेश न माने तब आगामी कालमें उसके घर पर भोजनको मत जाओ। उपदेशकी पद्धति ऐसी हो जिससे वह सुमार्ग पर आवे तथा

जो अपव्यय होता हो उससे सुरक्षित रहे। धर्म कथा ऐसी कहो जो सरलतासे उसके हृदयमें प्रवेश कर जावे। गृहस्थके घर पर अल्प समय लगाओ। ऐसे शब्दोंका प्रयोग करो जो शब्द सुनकर आगत जनता लाभ उठा सके।

भारतवर्षमें दानकी पद्धति कर्मभूमिके समयसे चली आई है। जब कल्पवृक्षोंका अभाव होने लगा तब लोग कुलकरके पास गये, उनकी बहुत विनय की, अपने जीवन निर्वाहका उपाय पूछा, उन्होंने यही कहा कि तुम इस सीमा तक ही कल्पवृक्षोंसे फल ले सकते हो। इन्होंने विनय किया, उन्होंने निर्वाहका उपाय बताया। यह परस्पर आदान-प्रदानरूप ही व्यवहार है। तत्त्वार्थसूत्रमें यही तो लिखा है—'परस्परोपग्रहो जीवानाम्।' यह व्यवहार दोमें होता है एकमें नहीं होता। एकमें जो होगा वह संसारातीत दशामें परिणमन होगा। जैसे आत्मामें जहाँ रागादिकी निवृत्ति है वहाँ अन्यकी आवश्यकता नहीं। रागादि निवृत्तिका मैं यह अर्थ समझा कि रागादि औदयिक होते हैं। उनमें अहङ्कार ममकार न हो। यह परिणाम सम्यग्दर्शनके होने पर ही हो सकता है।

सम्यग्दर्शन वह शक्तिका विकाश है जिसके होनेपर यह संसार अनायास समाप्त हो जाता है। यह निश्चय है कि सम्यक्त्वके समान न तो कोई कल्याण करनेवाला है और न मिथ्यात्वके समान अन्य अकल्याण करनेवाला है। फिर भी जीवोंके अनादि कालसे ऐसा अज्ञानान्धकारका सम्बन्ध है जो निज परका विवेक नहीं होने देता। 'हम कौन हैं?' यही ज्ञान नहीं तब कल्याण अकल्याण की बात कहाँसे ज्ञात हो? सबसे पहिले तो यह जाननेकी आवश्यकता है कि हम कौन हैं? बहुतसे मनुष्य इसके जाननेका आजन्म प्रयत्न करते हैं, व्याकरण, न्याय आदि शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं। उत्तमसे उत्तम पुरुषोंकी सङ्गतिमें सम्पूर्ण आयको व्यय

कर देते हैं। अनेक तीर्थोंमें जाकर धर्म साधनकी चेष्टा करते हैं, अनेक महन्तोंकी धूनी लगाते हैं, स्वयं पञ्चाग्नि तपते हैं, गङ्गा आदि महान नदियोमे अवगाहन करते हैं, समुद्रके क्षार जलसे भी स्नान करते हैं, भूभागमें प्रवेश कर समाधि लगाते हैं परन्तु आत्मा क्या है इसका बोध नही होता है। (७।६।५१)

८५. संसारमे ऐसी प्रवृत्ति मत करो जो आभ्यन्तरसे कुछ हो और वाह्यमे कुछ हो। इससे तुम स्वयं अपनेको ठग रहे हो।
(२३।६।५१)

८६. धर्मश्रवणकी इच्छा सवको रहती है, सभी मनोयोग पूर्वक सुनते हैं परन्तु उपदेश कर्तव्य पथमे नही आता। इसका मूल कारण यह कि वक्ताकी आभ्यन्तर आर्द्रता नही है। श्रीगुणभद्र स्वामीने कहा है—

"जना घनाश्च वाचालाः सुलभा स्युर्वृथोत्थिताः।
दुर्लभा ह्यन्तरार्द्रास्ते जगदभ्युजिहीर्षवः॥"

अतः जो यह चाहता है कि मेरे उपदेशोका प्रभाव लोगो पर पड़े तव उसे सवसे पहिले उस कार्यको स्वयं करना चाहिये। मुनि धर्मकी दीक्षा मुनि ही दे सकते हैं तथा जिस पद्धतिसे मुनिधर्मका निरूपण करनेमें समर्थ होते हैं, अविरती विद्वान् उसका निरूपण नहीं कर सकता। आजकल सिद्धान्तके ज्ञाता हैं परन्तु उसपर आचरण नहीं करते, इससे उस उपदेशका कोई प्रभाव नहीं होता। पदार्थका ज्ञान हो जाना अन्य कथा है और उस पदार्थ रूप होना अन्य वात है। (११।७।५१)

८७. विहार करनेमें अनेक गुण है। प्रथम ता एक स्थान पर निवास करनेसे जो स्नेह प्राणियोमें होता है वह नहीं होता तथा देशाटन करनेसे अनेक मनुष्योंके साथ धर्मचर्चा करनेका अवसर आता है। अनेक देशोके वन आदि देखनेका अवसर आता है।

चलनेसे शरीर आदिके अवयवोका संचालन होनेसे क्षुधा आदि शक्ति क्षीण नहीं होती। अन्न की परिपकता सम्यक् होती है, आलस्यादि दुर्गुणोसे आत्मा सुरक्षित रहता है। अनेक तीर्थादि क्षेत्रोके दर्शनका सुवसर मिलता है। तथा किसी दिन स्थानादि विशेषके न मिलनेसे परीषह सहन करनेकी शक्ति आ जाती है। कभी दुर्जन मनुष्योंके समागमसे क्रोधादि कषायके कारणोके सद्भावमें क्षमाका भी परिचय हो जाता है। (३।७।५१)

८८. सामायिक उसी जीवके होता है जिसके स्वपरका भेद ज्ञान हो गया हो। भेदज्ञानके अभावमें सामायिक हो ही नहीं सकता। जबतक यह आत्मा परको निज और निजको पर मानता है तबतक इस जीवके साम्यभाव उदय नहीं हो सकता। सब जीव कषायके प्रेरे इस संसारमें प्रवृत्ति कर रहे है। जैसे जैसे कषायोदय होते हैं उनके अनुकूल प्रयत्न कर यह प्राणी संसारमें काल यापन कर रहे हैं। बहुत ही प्रबलतम भाग्योदय होवे जो इस जीवको जीव और अजीवका यथार्थ ज्ञान हो जावे। यथार्थ ज्ञान होते ही पर पदार्थोंमें निजत्व बुद्धि नहीं होती। निजत्व बुद्धिके अभावमें न तो उस पर पदार्थमें राग होता है और न द्वेष ही होता है। अतः संसारके नाशका उपाय करनेवालोंको इस मिथ्यात्व शत्रुसे बचना चाहिये। बचनेका उपाय केवल दृष्टिको बदलना है। दृष्टिके बदलनेसे ही कार्यसिद्धि हो जाती है। हम व्यर्थ ही इस जालमें फँसे हैं जो जगत्से मिथ्यात्वको दूर करनेकी चेष्टा करते हैं। वही मनुष्य है जो आत्मीय परिणतिको शुद्ध कर अशुद्धताके सम्पर्कसे पृथक् हो जाता है। (१२।७।५१)

८९ ...योगी भी मनुष्य ही होते हैं। इस कालमें उनका होना प्रायः असम्भवसा हो गया है। जैन सिद्धान्तसे तो पञ्चमकालके अन्त तक योगी जनोंका अस्तित्व रहेगा ऐसा पता चलता है

परन्तु प्रवृत्तिमे श्रावकोका होना भी आगमानुकूल नही मिलता। (१६।७।५१)

९०. उपदेश निरपेक्ष होना चाहिये। अभिप्राय यह होना आवश्यक है कि हममे जो दोष हैं वे दूर हो, आनुसङ्गिक अन्य का भी भला हो जावे। केवल परका कल्याण हो इसमे यह अभिलाषा लुप्त है कि हमारी प्रशंसा हो। परापवादको त्यागो। आत्मगत दोषोको दूर करो। (१६।८।५१)

९१. जो अपने ऊपर शस्त्रका प्रयोग करे। हमको उचित है कि उसे पुष्पमाला समर्पित करें। क्रोधाग्निके आवेगमे आकर जो वज्रवाक्का प्रहार करे, या ताड़न करे, हम उसके साथ क्षमा जलका प्रयोग करें। जिससे उसकी क्रोधाग्नि शान्त हो जावे। ठीक ही कहा है—

"अपराधिनि चेत्क्रोधः क्रोधे क्रोधः कथं न हि।
धर्मार्थकाममोक्षणां चतुर्णां परिपन्थिनि॥"

यह पाठ हम पढ़ते हैं, श्रोताओंको श्रवण कराते हैं, तथा श्रोताओंके धन्यवाद शब्दोंको श्रवण कर फूले नहीं समाते। वचनोंकी कुशलतासे जगत्को मुग्ध करना वञ्चना है, प्रशंसा उस वक्ताकी है जो उसपर अमल करता है। (१७।८।५१)

९२. समयसार, समय शब्दका वाच्य आत्मा होता है। उसमे सार क्या है? सिद्धपर्याय। सिद्ध पर्यायसे तात्पर्य केवल शुद्ध पर्यायसे जहाँ परके निमित्तसे आत्मामे विकृत परिणाम न हो, केवल आत्मपरिणमन हो। (२०।८।५१)

९३. मनुष्यमात्रका सम्पर्क अच्छा नहीं। यदि सम्पर्कके विना निर्वाह नहीं हो सके तो कमसे कम सम्पर्क रखे; क्योकि अन्तरंगकी वीतरागता नही, उसके अभावमे ही इन पर पदार्थोंका आश्रय लेना पड़ता है। (२६।८।५१)

६४. मेरा यह दृढ़तम विश्वास हो गया है कि धनिक वर्गने पं० वर्गको बिलकुल ही पराजित कर दिया है। यदि उनको कोई बात अपनी प्रकृतिके अनुकूल न रुचे तब वे शीघ्र ही शास्त्रविहित पदार्थको भी अन्यथा कहलानेकी चेष्टा करते हैं। (२०।९।५१)

६५. पुण्य पाप यह दोनो काल्पनिक पर्यायें हैं सर्वथा मिथ्या नही, विलय जाती हैं अतएव इन्हे अभूतार्थ कहते हैं। इसका यह अर्थ नही कि पुण्य-पाप अस्तित्वशून्य हैं। इनका अस्तित्व है परन्तु स्थायी नही, इससे इन्हे अभूतार्थ कहा। इसी तरह मतिज्ञानादि चार ज्ञान हैं, ये भी अस्थिर हैं। ये क्षयोपशमसे होते है। वे भाव औदायिक हैं। ये भी आत्माके ज्ञान गुणका विकार है। वे बन्ध करनेवाले हैं, मतिज्ञानादिक बन्धक नहीं। वे आत्माको आकुलता उत्पादक है, ये आकुलताको अनुभव कराते है। यदि आत्माके अन्दर यह चैतन्य गुण न होता तब आत्मा पुद्गलकी तरह जड़ हो जाता। संसारकी जो व्यवस्था आज दीख रही है कौन इसका वर्णन करता। यह जीव है, यह जीव नहीं, ज्ञान गुण विना कौन इसको बताता। यह होनेसे ज्ञान गुणको ही मुख्य माना गया है अतएव संसारमे जहाँ देखो वहाँ ज्ञान वृद्धिकी शिक्षा दी जाती है। (१२।१०।५१)

६६. जो मनमे आता है वह स्वाभाविक नहीं; क्योकि मन स्वतन्त्र द्रव्य नहीं। यह वस्तु नोइन्द्रियावरणके निमित्तसे होती है। बहुत मनुष्योकी यह धारणा है कि मन न होता तब हमारा कल्याण कठिन न था परन्तु यह धारणा मिथ्या है।

(५।११।५१)

६७. सब जीव अपने अपने प्रयोजनको देखते हैं अतः किसीको अपराधी मानना मूर्खता है। (१७।११।५१)
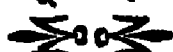
वर्णी-उपदेशाञ्जलि

वर्णी जयन्ती

स्तुतिका अर्थ थोड़ी चीजको बहुत बढ़ा कर वर्णन कर देना जिसका कोई पारावार नहीं। थोड़ीसी बातको बहुत कहना तो इसमें रंज करनेकी बात ही क्या है पर मोह तो ऐसी चीज है कि वो रंज करा ही देता है। मुख्तार सा० ने कहा कि प्रशंसा सुनकर हम नीचे-नीचे हो जाते हैं तो विचार करके यह भी मनमें आता है कि अरे ये लोग भी कैसे हैं कि हम तो कुछ हैंई नहीं और ये लोग बना-बनाके कहते हैं। पर अच्छी बात है, देखा जाय तो हमारा देश तो भारतवर्ष है भैया। इतना बड़ा देश है भैया कि पत्थरमें कल्पना करके ये मोक्षमार्ग निकाल लेते है। देख लो भगवान पार्श्व-नाथको मोक्षको जानेवाले मगध, उनकी स्थापना करके और मोक्ष-मार्गमें चल रहे नहीं अपन लोग? विष्णु भगवानका पत्थरकी प्रतिमामें आरोपण करके अपना कल्याण कर लेते है।

अगर हममें जो गुणोंका आरोपण कर लेवें तो इनकी मनकी बात है हम मना करनेवाले कौन?

हमारी बात मानो तो जितने हैं सभी बड़े है सबकी आत्माकें अन्दर वह ज्ञानकी ताकत सब बातें सबके अन्दर विद्यमान है। हम उनका अनुभव न करें ये बात दूसरी है। अगर उसकी तरफ दृष्टि-पात कर देवें तो हम कल्याणके पात्र हो जावें,

विश्व क्या है—

मोहकी महिमा है कि यह संसार चल रहा है। अगर मोह चला गया तो 'मम इदम् त्वमिदम्' अज्ञान करके मोहित नही होगे।

अज्ञानमे हम इसके ये हमारा, हम इसके पहले थे अब ये हमारा होगा इस प्रकार अज्ञान वुद्धिसे संसारमे भ्रमण कब तक होगा कि

"कम्मे णोकम्मम्मि य अहमिदि अहकं च कम्मणोकम्मं।
जा एसा खलु वुद्धी अप्पडिवुद्धो हवदि ताव ॥"

जबतक कर्म—नोकर्ममे हम हैं और हमारेमें कर्म नोकर्म हैं तबतक यह अज्ञान है तब तक संसार है। यथा एक घट होता है, पुद्‌गलका परिणाम है यथा घटादिषु पुद्गलपर्यायेषु सो··· ·· ·· ·· ·· · अहम्। ये शरीरमें रागादिक हुए, ये और हमारा यह भ्रम कि हममें ये नोकर्म आदि हैं इनमे हम हैं तभी तक हम अज्ञानी हैं।

दैवयोगसे किन्हीं ज्ञानी गुरुओंका समागम मिल जाय अज्ञान मिट जाय तो यथा दर्पणे···ज्वालाग्निः" दुनिया जानती है, दर्पणमें अग्नि प्रतिभासित होती है, अग्निकी ज्वाला दर्पणमें भासमान होती है तो उसकी उष्णता और ज्वाला दर्पणमे नहीं। यहाँ सिगड़ी रखी है उसका प्रतिविम्ब दर्पणमें पड़ता है पर यदि किसी स्त्रीसे दाल बनानेको कहा जाय तो बटलोई दर्पण पर रखेगी कि सिगड़ीकी आग-पर, तो उसे भी इसका ज्ञान होता है, इसलिए पुद्‌गलकर्मसे भिन्न अरूपी जो आत्मा है उसमे जानपना है, ज्ञातृपना है उसमे कर्म और नोकर्म नहीं हैं। आप हमारे ज्ञानमें आ गए एता-वता इसका यह अर्थ नहीं कि आप हममें आ गए। आपका एक अंश भी हमारे ज्ञानमे नहीं आया। जब अंश भी हमारे ज्ञानमे नहीं आया तो आपसे स्नेह क्या करें कैसे करें।

पुद्‌गलके रूप रस गन्ध वर्णका अंशमात्र भी हमारे ज्ञानमे नहीं है। अगर हमारी कोई भी बात उनमे होती तो स्नेह करते। कहा है—

"ज्ञानतादात्म्य... ... ."

तो ज्ञानका तुम क्या उपदेश करते हो—ज्ञानका तादात्म्य होकर भी क्षण मात्र भी हम उसकी उपासना नही करते।

यहाँ बहुत बाहरके लोग हैं वे भी सुन लें—इसमें क्या शक है।

तो जब तक हम इन पर पदार्थोंको अपना रहे हैं तब तक हमारे अनन्त संसारमे कोई शक नही। तो अब हम व्याख्यान क्या करें पर हमारी समझमे इन लोगोने पंडित लोगोने जो व्याख्यान किया कि परके लिए अपना समय छोड़ दो। अरे समय छोड़ दे तो व्याख्यान क्या दें। इससे मालूम होता है कि मोह ही तो व्याख्यान दिला रहा है। पूज्यपादस्वामीने सर्वार्थसिद्धि जैनेन्द्रव्याकरण और समाधिशतक बनाया तो वो पूज्यपाद स्वामी कहते हैं—

उन्मत्तचेष्टितं.. ......।

दूसरेने हमे समझा दिया और हमने दूसरेको समझा दिया तो ये प्रतिपाद्य और प्रतिपादक हुए।

ये गुरु शिष्यका जो व्यवहार है।

पूज्यपाद स्वामी कहते है कि उन्मत्तचेष्टितं... ...ये जो हमारी उन्मत्त चेष्टा है सो उन्मत्तो की कहे चाहे पागलो की कहे, पागल कहे तो उल्लू कहावें सो उन्मत्त ही हम कहते हैं। गुण० का नाम भी भगवानने प्रमत्त रखा है। गुरु-शिष्यका व्यवहार ही जब प्रमत्तोकी चेष्टा है तो महाराज आप क्यो लिख रहे? तो इससे मालूम होता है कि सब मोहकी चेष्टा है। मोह महा बुरी चीज है। मगर एक मोह ऐसा होता है कि संसारमे डुबो देता है और एक मोह ऐसा होता है कि संसारसे उद्धार कर देता है। प्रातः सूर्योदयमे गगनमे लालिमा होती है सायंकालीन सूर्योदयमे भी लालिमा होती है पर एक लालिमासे सूर्यका प्रकाश फैलनेवाला है और उस

शामकी लालिमासे प्रकाश नाश होनेवाला है तो इसी प्रकार वह जो मोह है संसारी उपादानोका, वह सायंकालकी लालिमाकी तरह उत्तरकालमे अंधकारका कारण है और वह जो राग है धर्म शास्त्रो आदिका, वह उत्तरकाल प्राचीकी लालिमाकी तरह प्रकाशका कारण है। रा० वा० मे अकलंक स्वामीने कहा है:—

नात्रशिष्याचार्य ... ...
... . मोक्षमार्गः।

किसी शिष्यने जाकर पूछा ऐसा नही है। संसार रूपी सागरमें डूवते हुए जो अनंत प्राणी हैं वे धर्मध्यान सप्तम गुणस्थान और अपायविचय—से छूट करके मिथ्या मार्गमे लगे हैं कैसे इनसे यह मिथ्यात्व छूटे इसी भावनासे प्रेरित होकर सब कहा। तो वह शुभ राग जो है वह उत्तरकालमें उन प्राणियोंके संसारसे छूटनेका कारण और उनके लिए भी उत्तरकालमे कर्मनाश का कारण हुआ। हम तो ये समझते है कि सम्यग्ज्ञानियोकी जो चेष्टा है सो सारी चेष्टा मोह रागको निकालनेकी चेष्टा होती है।

हम आचार्योकी बात क्या कहें हम तो आप लोगोंकी बात कहते हैं कि आप लोगोके कौन मोह है। यदि आपके सम्यग्दर्शन है तो स्त्रियोका मोह बच्चोकामोह और संसारका मोह यह आपके संसारका नाशका कारण है।

किसी मनुष्यको जव ज्वर[1] आता है तो उसे चिरायता पीना पड़ता है तो क्या वह इस शौकसे पीता है कि फिर ऐसा ज्वर आवे और चिरायता पीना पड़े। सम्यग्दृष्टि चिरायता समझता है विषय सेवन से दुख होता है पर क्या करे उसे फिर पीनेकी आशा क्यों करेगा।

---

१ ईसरी के मलेरियाका उदाहरण—

हमें तो विश्वास है कि सम्यग्दृष्टि विषयको भोगकर उसे चिरायता जैसा उपचार मानता है इसलिए मुनिपद यदि मोक्षमार्ग है तो हम भी मोक्षभागी है। उनके संज्वलन है तो हमारे अप्र० का योग है। उनके हजारों शिष्य हो जाते है तो हमारे तो ४- ही ६ लड़के होते हैं पचास कुटुम्बी हैं। ४-४ हजार शिष्योंके रहते जव वो मोही नहीं होते तो हम ४ के रहते कैसे मोही होवें, जैसा चंदावाईने कहा था कि बद्धा ये किल केचित्।

भेदविज्ञान जिन्हें मिल गया वे तिर गए और जो डूवे वो भेदविज्ञानके अभावमें डूवे।

संसारके प्रकरणमें आचार्य कहते हैं कि हम क्यों डूवें। संसारके अन्दर विचार करो तो २ प्रकारका योग होता है एक शुभ एक अशुभ, उसका मूल कारण राग-द्वेष है। हमारी आत्मा जो रागद्वेषके कारण उत्पन्न हुए रागमें विद्यमान है हमी तो उसको ले जानेवाले हैं हमीं भिन्न कर सकते है। अपनी आत्माको अपने आत्माके द्वारा रोककर अपनी आत्मामें लगा कर पर द्रव्यमेंसे इच्छाको हटालें तो पर द्रव्यका समागम छूट जाय। खातावही नकली तो वह वनावे जिसके व्यापार होता हो किन्तु धंधा ही जो न करे तो वह खाता-वही क्या वनावे।

तव जव संग रहित हो गया तो आत्माकी चीजका आत्माके द्वारा ध्यान करता हुआ शुद्धज्ञान-दर्शनमय आत्माको प्राप्त करता है। मोक्षमार्गको प्राप्त होता है। आप लोग जो इधर आए हो सो इतनी वात मानना कि और कुछ छोड़ो चाहे न छोड़ो, मोह छोड़ जाओ। और चाहे सारी सम्पत्ति ले जाओ पर मोह छोड़ जाओ। वस यही कल्याणका मार्ग है।

विनोवा जयन्ती

"मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥"

बन्धुवर!

आज एक महापुरुषकी जयन्ती है। विचार करके देखो उनकी यह महापुरुषता क्या? भूमिदान दिला देते इससे उनकी महापुरुषता नही। अरे जब भूमि तुम्हारी चीज ही नहीं तब दिलानेका प्रश्न ही नहीं आता। उन्होने एक पुस्तकमें लिखा है कि 'भूमि तो भगवानकी है' तो तुमारी कैसे हुई? और जो तुम्हारी नहीं उसका दान कैसा? सबसे भारी बात तो यह है कि मैं उनके गुणोसे मोहित हूँ। मेरे ध्यानमे यह बात आई कि उन्होने पंचेन्द्रियके विषयोको लात मार कर अपनी ओर ध्यान दिया। यह भूमिदान तो आनुसङ्गिक है। कहा है—

"मुक्तिमिच्छसि चेत्तात! विषयान् विषवत् त्यज।"

हे तात् यदि मुक्ति चाहते हो तो पंचेन्द्रियके विषयोको विषकी तरह त्याग दो। जिसने पंचेन्द्रियके विषयको विषकी तरह त्याग दिया, सच्चा त्याग तो उनका यह है।

तुम तो भूले हो, भटके हो, तुम्हारी तो यह चीज ही नही। सच्चा त्याग तो उन्होंने आत्महित किया। पंचेन्द्रिय विषयोंको लात मार कर आत्महितमें लग गये। यह (भूमिदान) तो गौण काम है। असली काम तो यह है—

"मोक्षो विषयवैरस्यं"

मोक्ष है क्या चीज ? विचार कर देखो तो मोक्ष सव दुःखोसे छूट जाना ही तो है। वह मिले कैसे ? 'मोक्षो विषयवैरस्यं' पञ्चेन्द्रियके विषयोसे विरक्तताका आजाना ही तो मोक्ष है। भोगनेको आपको क्या है संसारके अन्दर। गरीवसे लेकर अमीर तक क्या चीज मिलती है वताओ। सिवाय एक रूप, रस, गन्ध, स्पर्शके और कुछ मिलता हो तो वताओ। भारतवर्षके वड़े वड़े पुराणोमे देख लो पञ्चेन्द्रियके विषयोके सिवा भोगनेको और है कौन चीज ? इनके सिवा तुम भोग क्या सकते हो। उस भोगको जिसने छोड़ दिया उसकी तारीफ है। तुम्हारी गलती है कि ऐसे महापुरुषसे ऐसा काम लेते हो। तुम लोग गलत रास्ते पर हो। उनसे कहो आप ध्यान कीजिये, यह काम हम करेगे। ऐसे व्यक्तिको घर घर दौड़ाना क्या शोभाकी वात है ? यह भारतवर्ष है जहाँ हरिश्चन्द्र जैसे दानी हुए। जिन्होने सत्यकी रक्षा एवं दानकी प्राणप्रतिष्ठाके लिये जो जो किया सो सवको ज्ञात है। तुम क्या करते हो ? १०, २५, ५०, १०० या १००० वीघा जमीन दे दी। वह क्या तुम्हारी है। तुम्हारे दादाकी है ? अगर दादाकी है तो ६२५ राजा चले गये एक दिनमें, क्या रह गये। हमारे दादाकी चीज है जो हम दान करें ? दान करो राग मोह द्वेषका तो संसारके वन्धनसे छूट जाओगे। तुम्हारी चीज ऐव है उसे छोड़ो। पराई चीज है तुम परोसनेको वैठ गये हम दिलानेवाले कौन ? हमारी समझमे नहीं आता। वह महापुरुष जिसने पञ्चेन्द्रिय विषयको लात मार दिया उससे ऐसा काम कराना इससे अधिक भारतकी कङ्गाली और क्या होगी ? जिनसे मोक्ष मार्ग मिलता है उन्हे संसार मार्गमे लगाओ। मै तो समझता हूं यह कोई चीज नही है। तुम्हारी यह मूर्च्छा त्याग कराते है, अरे

हमारा अगर कोई चोड़ापन मिटा दे तो इससे बड़ा उपकारी और कौन होगा ? तुम पूछो तो दिगम्बर हो जैसे माँके पेटसे पैदा हुए, कोई कपड़ा आया साथमे। तुम्हारे साथ न कोई चीज आई न आती है—

"जन्मे मरे अकेला चेतन सुख दुःख का भोगी,
कमला चलत न जाय पैंड मरघट तक परिवारा।
अपने अपने सुख के साथी पिता पुत्र दारा॥"

बताओ अनादिकाल बन्धनोपाधिवशेन स्फटिक मणिमें कोई मैल है ? पर डॉक लग जाय तो ? आत्मा स्वभावसे स्वच्छ है पर मोहकी डॉक लग गई। 'नाहं देही न मे जीवो' चौरासी लाख योनि दिख रही। यह भी नहीं यह तो कर्मकृत विकार है। आज तुम्हारी जो लावण्यता है दो चार वर्ष बाद फोटो लिवाओ। मेरी जीवन गाथामे देखो और अब देखो तो कहोगे कहाँका खब्बीस आ गया ?

'नाहं देहो न मे जीवो' न मेरा देह है न मेरा जीव है, फिर फँसा क्यों है ? 'अयमेव हि मे बन्धः यः स्याज्जीविते स्पृहा।' इसे अपना मान रहे हो उसे छोड़ो। भारत सब सुखी हो जाय पर तुम तो उसे प्राणोंसे चिपटाए हो। अच्छे लोगोंसे ऐसे काम लेते हो सो तुम्हारी वही गति होगी।

हुमायूँ बादशाह था सो जब वह हार गया तो गुजरात पहुँचा। वहाँके राजाने स्वागत किया। उसके मंत्रीने एक कुर्सी भेज दी। उसपर कौन बैठे ? तब उसके मंत्रीने तीन तलवारें लगा उसपर कपड़ा डाल दिया, कहा बैठिये। उसकी करामात देख राजा बहुत प्रसन्न हुआ। बोला तुम्हारे साथ ऐसा बुद्धिमान मंत्री है तब तुम्हारा राज्य क्यों गया ?

उसने उत्तर दिया—'जो राजकार्य करने योग्य थे उन्हे घोड़े खुजानेको रख दिया और जो घोड़े खुजाने योग्य थे उन्हे राजकार्य-मे लगा दिया।' हम लोग भी इतना नहीं जानते कौन क्या कर सकता है ? भारतमे एक ऋषि हो तो सैकड़ो कोशमें सुभिक्ष हो जाय। भारत जो अहिंसक था आज मांसभक्षण पोषक हो गया। जहाँ दूधकी नदियाँ वहती थीं आज वहाँ खूनकी नदियाँ वहती हैं। अरे एक आदमी निर्मल हो जाय तो संसार उलट जाय। संसारमे एक आदमी शूर होता है। 'एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति' एक ही चन्द्रमा अन्धकारको नष्ट कर देता है। गांधीजी अकेले एक ही तो थे, दो गांधी होते न जाने क्या करते ? तुम क्यो नही वनते गांधीजी, या विनोवाजी ? कौन रोकता है ? एक दिन निर्मल परिणाम कर लो तो तुम भी गाधी वन सकते हो, विनोवा वन सकते हो। क्या विद्याके अधीन है ? धर्मके अधीन है ? नही, वह तो परिणामके अधीन है। ज्ञानकी कोई आवश्यकता नही। हम कुछ नही जानते पर यह तो जानते हैं कि यह पर है। किसने सिखला दिया ? हमारा आत्मा कहता है कि ये हमसे पर हैं। आज हम निर्मल परिणामी वन जॉय तो गांधी हो जॉय, विनोवा हो जॉय।

हे माँ !

क्या है वेटा ?

तैरना आजाय, पर एक शर्त है, वह यह कि पानी न छूना पड़े।

हम महात्मा हो जॉय पर कुछ त्याग न करना पड़े।

वावा कैसे महात्मा हो जाओगे विना त्याग के ? हमारी समझमे नही आता।

विनोवाजीसे कहो कि वावाजी ! अव आप वृद्ध हो गये, धर्म-ध्यान करो। जान तो गये भूदान करना है तब सबके सब एक ही दिनमे कर डालो। एक वात और अगर हमारी कोई माने, मगर

हमारी कोई मानता तो है नहीं, मत मानो। हम कहते किसान तो दान करते सो ठीक ही है. हम सबके लायक दान बताते हैं, जो भीख माँगकर खाते हैं वे भी दान दे सकते है। ऐसा करनेसे अनेक यूनिवर्सिटी हो जॉय, विद्यालय हो जॉय। खाने पहिननेमे जो खर्च हो प्रति रुपया एक पैसा दान दो, सब भारतवर्षमे गरीबी मिट जाय। एक पैसा प्रति रुपया ही दो अधिक नहीं। उसमें कोई व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये। भीख माँगकर लायगा वह भी खायगा तो पेट भर, तो वह भी एक रोटी दे सकता है।

अहिंसा तो आत्मामे है। किसी पहाड़मे रखी है भारतवर्षकी अहिंसा? गिरनारजी चले जाव, शिखरजी चले जाव, मुसलमानोके मक्काजी चले जाव, पर क्या वहाँ रखी है अहिंसा? अरे अहिंसा आपकी आत्माके अन्दर है और कहीं नहीं। आज राग द्वेष छोड़दो अहिंसामय हो जाओ। बड़े बड़े पण्डित धर्मकी व्याख्या करते हैं, जन्म भर सुना रागद्वेप छोड़ दो, धर्म समाजमे आजाय। धर्म और है क्या चीज? पढ़ो नहीं, लिखो नहीं, सिर्फ रागद्वेप छोड़ दो, जप नहीं करो, संयम भी नहीं करो, एक क्षमा बड़ी चीज है। संसारमे क्षमा बड़ी चीज है, क्या बड़ी चीज है भैया? हमे तो गप्पें (झूठी बातें) लगतीं, क्योंकि अगर क्षमा होती तो एकमे तो होती? पुस्तकें क्या क्षीरसागरमे फैंक दे? जितने व्याख्यान देनेवाले हैं उन्हे क्या सत्याग्रहवालोकी तरह जेलमे भेज दें? क्रोधको छोड दो क्षमा आ जाय, किसीसे पूछनेकी जरूरत नहीं। क्रोध छोड़ दो क्षमा हो जाय। धर्म आत्माकी चीज है, आत्माकी परिणतिमे जो रागद्वेप और क्रोध मिले हुए हैं, वे छूट जॉय तो क्षमा हो जाय।

"इतो न किञ्चित् परतो न किञ्चित्,
यतो यतो यामि ततो न किञ्चित्।

विचार्य पश्यामि जगन्न किञ्चित्,
स्वात्मावबोधादधिकं न किञ्चित् ॥"

यहाँ कुछ नही, वहाँ कुछ नही, जहाँ जहाँ जाता हूँ वहाँ भी कुछ नही। विचार कर देखता हूं, संसार भी कुछ नहीं, आत्माके अवबोधसे अधिक और कुछ नहीं है।

क्या गांधीजीके समान कार्य इतनोंमे किसीने न किया होगा? तो क्यो नहीं हुए गांधी? अगर ऐसे प्रतापी थे तो क्यो नही हुए? गांधी जी अगर तुम्हे अपना गांधीत्व दे देते तो उनमे क्या रहता? इससे मालूम पड़ता है कि गांधीजीका जो गुण है वह गाधीजीमे ही था! अगर उनकी आराधनासे लोग गांधी वन जाते तो कौन न वनता? भगवानके गुण भगवानमे हैं उससे तो......... कोई शिवालय जाता, कोई जिनालय जाता, तो यदि उसका गुण हममें आ जाय तो मिल न जायँ? प्रतीत होता है यह किसीमे मिल नहीं सकता है। अपने ऐव छोड़नेसे ही भगवान वन सकता है। ऐब छोड़ दो फिर देखो भगवान वनते कि नहीं। जन्म भर जपो—'सूर्याय नमः, सूर्याय नमः' पर घरसे चलो नहीं, फिर पहुंच तो जाओ दूकान कैसे पहुँचते हो? सूर्यने मार्ग भर दिखला दिया, अगर चलते नहीं तो जपो—"सूर्याय नमः' पुत्रसे कहो वेटा तुम भी जपो, माँसे कहो तुम भी जपो, और चलो नही तो विना चले पहुँच जाओगे? पढ़नेसे कुछ नही होता, उसपर अमल करो तो कल्याण हो जाय। कहने मात्रसे कुछ नही होता? उनकी जीवनी पढ़ो, उसमें तो लिखा है उसपर अमल करो तो तुम भी वैसे वन जाओगे। हमारा तो यही कहना है कि तुम सब विनोवाजीके गुणोका कुछ न कुछ अंश लेकर जाओ। जैसा उन्होने त्याग किया वैसा करो। दान करो, चाहे न करो, पर लोभ छोड़कर जाओ। लोभ

उस मनुष्यके पास नहीं है अतः छोड़कर जाओ। परन्तु करें क्या ? अनादि कालीन मोहकी भावना तो लगी है। जैसे एक आदमी था, वह परदेश चला गया। उसे वहाँ कामला रोग हो गया। घर आनेपर उसे सारी वस्तुएँ दूसरे रूपमें दिखने लगीं। स्त्रीको देखकर कहने लगा—'अरे यह चुडैल कहाँसे आ गई ? मेरी स्त्री तो बहुत सुन्दर थी।' लोगोंने बहुत समझाया कि 'यही तो है, तुम्हीं भूलते हो।' पर वह काहेको मानने चला। पिताने वैद्यको बुलाया उसने देखा अरे! इसे तो कामला रोग हो गया। उसने दवा दी, कामला रोग दूर हो गया। सारी चीजें उसे ज्योंकी त्यों दिखने लगीं। वही स्त्री फिर सुन्दर लगने लगी। इसी तरह हमें मोहका रोग हो गया है। अतः भीतरके रोग रागद्वेषको मिटा दो। वस्तु-तत्त्व—वस्तुका स्वरूप ज्योंका त्यों समझमें आने लगे।

यह जीव अनादि कालसे संसार रूपी चक्रके ऊपर बैठा है और भ्रमण कर रहा है। भ्रमण करानेवाला कौन है ? मोहरूपी पिशाच, वही हमको भ्रमण करा रहा है। उससे हमारी आत्मामें नाना प्रकारकी चिन्ताएँ होती हैं। वैसे हमारे पास कोई कारण नहीं है सिवाय पञ्चेन्द्रिय विषय ग्रामको देख लो, चाहे स्पर्श कर लो, इसके सिवाय और कोई स्वाद हो तो बताओ। पर वह है कैसा ? 'मृगतृष्णायमानं' मृगतृष्णाको आचरण करनेवाला। कहते हैं बढ़ियासे बढ़िया सिनेमा। भारतवर्ष दुःखी है। क्यो दुःखी है ? खानेको नहीं। हम पूछते हैं तब कहाँसे आते हैं इतने पैसे जो सिनेमा देखनेमें लुटाते हो ? अपने में ही नाना प्रकारके भावोंके सिनेमा देखो न ? रात दिन काम भोगकी कथा सुन इसीमें उलझा रहता है।

कषायचक्रके कारण मोह मदिरासे उन्मत्त पागलकी तरह दुःखी होता है। सो न किसीकी सुनता है, न अपने आप ही

समझता है। एक मनुष्य था जो भाषण दे रहा था। वह कह रहा था भारतवर्षमे दो कलाएँ और आ गई। मैंने कहा देखे तो क्या कहता है? तो वह कहरहा था वे दो कलाएँ यह कि **'आप जानना नहीं दूसरेकी मानना नहीं'** इस तरह ७२ की जगह ७४ कलाएँ हो गई।' इसलिये हमारा तो यही कहना है कि प्रपञ्चोको छोड़ो। हम कहते है हमारे ऊपर दया न करो, परके ऊपर भी न करो, क्योकि मेरा तो यह विश्वास है कि कोई किसी पर नहीं अपने ऊपर ही दया करता है। मै अपने अनुभवसे कहता हूं कि भिक्षुक मार्गपर जाते हुए रोटी माँगता है। मै आपसे पूछता हूं कि आपने उसका दुःख दूर करनेको रोटी दी क्या? नहीं, उसके कातर वचनो को सुनकर अपना ही दुःख दूर करनेको रोटी आपने दी। आपके हृदयमे इतनी आकुलता हो गई कि अगर रोटी न देते तो कितने दुःखी होते? अतः अपने ही दुःखके निवारणार्थ तो रोटी दी। विनोवाजी दूसरोके दुःखसे दुःखी होकर कि यह भारतके किसान है, गरीव है, दुःखी है, इसीसे वे अपना दुःख दूर करनेको प्रयत्न-शील हैं। दो रोटी देनेका यह प्रयत्न करे तो जो ४० हजार वीघा जमीन दे दी सो हायरे इतना वड़ा आदमी मांगे। करुणा उत्पन्न हुई उसीके दूरीकरणार्थ यह भूमिदान प्रथा है। हम तो चाहते है ऐसा महापुरुष जो है वह आनन्दसे जीवे और भारतवर्षका उद्धार करे। साथ ही हमारा आप सबसे कहना है कि विनोवाजीके गुणोका थोड़ा थोड़ा अंश लेकर जाओ।

भैया! हमारा सन्देश भेज देना कि वह आपके जीवनको बहुत चाहते हैं। (११।९।१९५३)

विनोवा जयन्ती उत्सव, गया

टाउनहालकी आम सभामे दिया गया भाषण।

संसार चक्र

संसार—

संसारमें बहुत विचित्रता है, यह अकारणिका नहीं। इसपर बड़े बड़े महानुभावोंने गम्भीर विचार किये किन्तु यह सभीने स्वीकार किया कि संसार दो पदार्थोंके मेलसे निष्पन्न एक तृतीय अवस्थाको धारण करनेवाला है। जहाँ दो पदार्थोंका विलक्षण संयोग होता है वहीं अवस्था बन्धभावको धारण करती है। जैसे चार आने भर सुवर्ण और चार आने भर चाँदी दोनोको गलाकर एक पिंड बना दीजिये उस पिण्डमें दोनो पदार्थ उतने ही हैं जितने पहिले थे परन्तु जब वह एक पिण्ड हो गये तब न तो वह शुद्ध सोना है और न शुद्ध चाँदी है। एक तृतीय अवस्था हो गई और उसे खोटे सोनेके नामसे लोग व्यवहार करते हैं। इसी प्रकार आत्मा और पुद्गलका अनादि कालसे सम्बन्ध चला आ रहा है। उसे लोग मनुष्य, तिर्यञ्च, देव, नारकी शब्दसे व्यवहार करते है। सुवर्ण चाँदी दोनो सजातीय द्रव्य हैं। यहाँ विजातीय दो द्रव्योका सम्बन्ध है। एक चेतन द्रव्य है दूसरा अचेतन। इनके विलक्षण सम्बन्ध हीका नाम संसार है। यहाँपर जो पर्याय पाता है उसीको यह जीव अपना मानने लगता है। मनुष्य पर्यायमें अपनेको मनुष्य और इतर पर्यायमें अपनेको देवादि मानने लगता है। जिस पर्यायमें जाता है उसी पर्यायके अनुकूल अपनी परिणति बना लेता है।[1]

---

(१) १।१०।५१।

संसार एक विचित्र जाल है, इस जालमे प्रायः सभी फँसे है। जो इससे निकल जावे प्रशंसा उसीकी है।[१]

यह संसार वास्तवमे आत्माकी विभाव परिणतिका है। यह जो दृश्यमान जगत है वह तो विभाव परिणतिका कार्य है। इसको जो जगत कहते हैं वह उपचारसे जगत कहलाता है। आत्मामे जब तक विभाव परिणति है तब तक सर्व जगत है। जब आत्मा-से विभावपरिणति चली जाती है तब नूतन कर्मबन्ध नहीं होता। नूतन कर्मबन्धके अभावमे कर्मका अभाव हो जाता है।[१]

संसार एक विशाल कारागृह है। इसका संरक्षक कौन है? यह दृष्टिगोचर तो नही फिर भी अन्तरङ्गसे सहज ही इसका पता चल जाता है। संसार पर्याय दृष्टिसे तो अनित्य है और इसका संरक्षक मोह है। इसके दो मन्त्री हैं जो इसकी रक्षा करते हैं। उनका नाम राग और द्वेष है। इनके द्वारा आत्मामें क्रोध, मान, माया तथा लोभका प्रकोप होता है। क्रोधादिकोके आवेगमे यह नाना प्रकार-के अनर्थ करता है।[२]

क्रोध—

जब क्रोधका आवेग आता है तब नानाप्रकारके कष्ट देना अनिष्ट करना, तथा परसे कराना। उसका स्वयमेव अनिष्ट होता हो तब आनन्दमे मग्न हो जाना। यद्यपि उसके अनिष्ट होनेसे कुछ भी लाभ नही परन्तु क्या करें? लाचार हैं। यदि उसका पुण्योदय हो और इसके अभिप्रायके अनुकूल उसका कुछ भी बाँका न हो तो दाहमे दुखी होता रहता है। यहाँ तक देखा गया है कि अभिप्रायके अनुरूप कार्य न होनेपर मरण तक कर लेता है।

---

(१) ११।१०।५१। (२) १६।१२।५१।

मान—

मानके उदयमें यह इच्छा होती है कि पर मेरी प्रतिष्ठा करे, उच्च माने, जैसे उच्चता लोकमें हो उसके अर्थ परकी निन्दा अपनी प्रशंसा करे, परमें जो गुण विद्यमान हों उनका लोप करे, अपनेमें जो गुण नहीं उन्हें अपनेमें बतलानेकी चेष्टा करे, मानके लिये बहुत कष्टसे उपार्जन किये धनको व्यय करनेमें संकोच न करे। यदि मानकी रक्षा न हो तब बहुत दुःखी होता है। अपघात तक करनेमें संकोच नहीं करता। यदि किसीने जैसी अपनी इच्छा थी वैसा मान लिया तब फूलकर कुप्पा हो जाता है कि हमारा मान रह गया। मूर्ख यह विचार नहीं करता कि हमारा मान नष्ट हो गया। यदि नष्ट न होता तो वह भाव बना रहता। उसके जानेहीसे तो आनन्द आया।

माया—

माया कषाय भी जीवको इतने प्रपञ्चोंमें फँसा देती है कि मनमें तो और है, वचनसे कुछ कहता है, कार्य अन्य ही करता है। मायाचारी आदमीके द्वारा महान् महान् अनर्थ होते हैं। ऊपरसे तो सरल दीखता है परन्तु भीतर अत्यन्त वक्र परिणति है। जैसे बगुला ऊपरसे शनैः शनैः पैरो द्वारा गमन करता है और भीतरसे जहां मछलीकी आहट सुनी कि उसे चोंचसे पकड़ लेता है। मायाचारके वशीभूत होकर जो न करे सो अल्प है।

लोभ—

लोभके वशीभूत होकर जो जो अनर्थ संसारमें होते हैं वह किसीसे अविदित नहीं। आज जो सहस्रावधि मनुष्योंका संहार हो रहा है लोभहीकी बदौलत तो है। आज एक राज्य दूसरेको हड़पना चाहता है, वर्षोंसे शान्ति परिषद् हो रही है, लाखों रुपये

बरवाद हो गये परन्तु मामला टससे मस न हुआ। शतशः नीतिके विद्वानोने गंभीर विचार किये, अन्तमे परिग्रही मनुष्योने एक भी विपय निर्णीत न होने दिया। लाभ कपायकी प्रबलता कुछ नहीं होने देती, सभी मिल जावें परन्तु जबतक अन्तरङ्गमे लोभ है एक भी बात तय न होगी। राजाओंसे प्रजाका पिण्ड छुड़ाया परन्तु अधिकारी वर्ग ऐसा मिला कि उनसे बदतर दशा मनुष्योकी हो गई। यह सब लोभकी महिमा है। अतः जहाँ तक बने लोभको कृश करो।

चार संज्ञाएँ और मिथ्यात्व—

जिस शिक्षासे पारमार्थिक हित होता है उस ओर ध्यान नही और न हो भी सकता है। प्रत्यक्ष सुखके साधनकी प्राप्ति जिससे हो उसे छोड लोग अपनेको अन्य साधनोमे नही लगाना चाहते। इसका कारण अनादि कालसे आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञाके जालमे इतने उलझे हैं कि वहाँसे निकलना कफमे उलझी मक्खी के सदृश कठिन है। जिसका महाभाग्य हो वही इस जालसे अपनी रक्षा कर सकता है। यह जाल अन्य द्वारा नही बनाया गया है, हमने स्वयं इसका सृजन किया है। आहारादि संज्ञा मुनिकेभी होती हैं, प्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त मुनि भी तो आहार ग्रहण करते हैं। प्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त असाताकी उदीरणा है। तथा जिसे कवलाहार कहते हैं उसे प्रमत्तगुणस्थान तक ही लेते है। इसके बाद अप्रमत्त गुणस्थानमे कर्म नोकर्म वर्गणाहीका ग्रहण होता है। कवलाहार छूट जाता है, भय, वेद परिग्रह नवम गुण-स्थान पर्यन्त होता है, लोभ परिग्रह दशम गुणस्थान पर्यन्त होता है किन्तु जब इस जीवके मिथ्याभाव छूट जाता है फिर होते हुए भी परिग्रहादि दोप आत्माको 'अनन्त 'संसारका बन्धन' नही करा-

सकते। अतः संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्यको सबसे पहिले अनन्त संसारका पितामह मिथ्यात्व त्यागना चहिये।[1]

बहुतसे मनुष्य हिंसादि पञ्च पापोंको ही पाप समझते हैं, सबसे प्रबलतम पाप जो मिथ्यादर्शन है उसको पाप नहीं समझते। सब पापोंका जनक अनादिसे आता हुआ स्वपरभेदका बाधक यह मिथ्यात्व है। हिंसादिक तो चारित्रमोहसे होते हैं। जब मिथ्या पाप गया परमार्थसे तो उसी समय इसके कर्तृत्व निकल गया। केवल उदयसे औदयिक भाव होता है, यह इसका कर्ता नहीं बनता। कर्ता न बननेसे आगामी कर्मबन्ध बहुत ही अल्प होता है। कुछ कालमें ऐसी परिणति इसकी हो जाती है कि सब कर्मोंकी जड़ जो मोह है उसका बन्ध नहीं होता। जैसे जब मिथ्यादर्शन चला जाता है मिथ्यात्वादि सोलह प्रकृतिका बन्ध नहीं होता। इस तरह क्रमसे गुणस्थान आरोहण करता है। जिस समय दशम गुणस्थान होता है उस कालमें मोहनीय कर्म तथा आयुको छोड़कर ६ कर्मका ही बन्ध होता है। उसके अभावमें ज्ञानावरणादि अस्वामिक रहकर बारहवें गुणस्थानमें अन्तर्मुहूर्तमें स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं।[2]

अनादिसे यह जीव शरीरको निज मान रहा है तथा आहार, भय मैथुन, परिग्रह यह ४ संज्ञाएँ साथ हैं। निरन्तर इसी परिपाटीसे निकलना कठिन है। प्रथम तो आहारके अर्थ अनेक उपाय करता है। भय होनेपर भागनेकी इच्छा करता है। वेदके उदयमें गुण-दोष देखनेकी इच्छा होती है। विषयकी लिप्सासे जो जो अनर्थ होते हैं वह किसीसे गुप्त नहीं। यह लिप्सा इतनी भयंकर है कि यदि इसकी पूर्ति न हो तब मृत्यु तकका पात्र हो जाता है। इनका लोभी

---

(१) २७,२८।६।५१। (२) १।७।५१।

जिनको लोकमे निन्द्यकर्म कहते है उन कर्मोंको करनेमें भी संकोच नहीं करता। यहाँ तक देखा गया है कि पिताका सम्बन्ध साक्षात् पुत्रीसे हो गया! उत्तमसे उत्तम राजपत्नी नीचोंके साथ संसर्ग करनेमें संकोच नहीं करती। जिसने इस काम पर विजय प्राप्त कर ली वही महापुरुष है, यों तो सभी उत्पन्न होते और मरते हैं।[1]

स्वार्थी कुटुम्ब—

पुत्रको मनुष्य बहुत ही प्रेमदृष्टिसे देखता है किन्तु बात उसके विपरीत ही है। मनुष्यका सबसे अधिक प्रेम स्त्रीसे रहता है, इसीसे उसका नाम 'प्राणप्रिया' रक्खा। 'मेरी आँखोंका तारा' आदि नामसे उसे सम्बोधित करता है। वह इसकी आज्ञाकारिणी रहती है। पहिले पतिको भोजन कराती है तब आप भोजन करती है। उसको शयन कराके शयन करती है। उसकी वैयावृत्य करनेमें किसी प्रकारका संकोच नहीं करती। पुत्रके होते ही वह बात नहीं रहती। यदि भोजनमे विलम्ब हो गया तब पति कहता है 'विलम्ब क्यो हुआ?' तब यही उत्तर तो मिलता है कि 'पुत्रका काम करूँ या आपका?' इत्यादि। तथा जब पुत्र वृद्धिको प्राप्त होता है और ह्रासको प्राप्त होता है तब समर्थ होनेपर पुत्र अर्थका स्वामी बन जाता है। वह स्वामित्व स्वयं सौंपता है, 'लो सँभालो अबतक हमने रक्षा की।' यहाँ तक देखा गया कि यदि दान देनेका प्रकरण आजावे तब लोगोसे कहता है कि भाई! हम तो दूसरेकी धरोहरकी रक्षा कर रहे है। हमें इसके व्यय करनेका अधिकार नही।[2] अब आप लोग स्वयं निर्णय कर लो पुत्र मित्र है या शत्रु? कहाँतक कहूं, मोही जीवको मोहके नशेमे अपने आपका बोध नही होता।

(१) १०-७-५१। (२) २०-७-५१

मोहजन्य अज्ञानता—

"आचक्ष्व शृणु वा तात! नानाशास्त्राण्यनेकशः।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते॥"

चाहे तो आजन्म शास्त्र श्रवण करो, चाहे आजन्म शास्त्रोंका व्याख्यान करो तथापि जबतक सबको न भूल जाओगे तबतक तुम्हारा कल्याण नहीं, क्योंकि आत्मा सब पदार्थोंसे भिन्न है। इसका एक भी अंश न तो अन्यत्र जाता है और न अन्यका अंश इसमें आता है। हम अपनी ही अज्ञानतासे परको अपना मानते हैं। पर पदार्थोंमें किसीको तो दुःखका कारण मान लेते हैं। जैसे विष, कंटक, शत्रु पदार्थों को दुःखका कारण मान उनमें अप्रीति करते हैं और किन्हीं स्त्री पुत्रादिको को सुखका कारण मान उनसे प्रेम करने लगते हैं। किन्हीं पदार्थोंको परलोकमें सुखका कारण जान उनमें रुचिपूर्वक भक्ति करने लगते हैं किन्तु प्रयोजन केवल लौकिक सुखका ही रहता है। इस तरहसे अनादि संसारसे इस संसारमें चतुर्गति नारक, तिर्यक्, मनुष्य तथा देवगतिमें भ्रमणकर संसार बन्धनमें मुक्त नहीं होते। बन्धनसे मुक्त होनेका कारण तो तब मिले जब कि इस संसारके कारणोंसे विरक्त हो। संसारके कारणोंसे कब विरक्त हो? जब कि इसे हेय समझें, सो तो समझते नहीं।

"नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्।
अयमेव हि मे बन्धः आसीद्या जीविते स्पृहा॥"

न तो मैं देह हूं और न मेरे देह है। और न मैं जीव हूं, मैं तो चित् स्वरूप हूं, यदि मेरे जीनेमें स्पृहा है तो यही बन्ध है।

"एको द्रष्टासि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा ।
अयमेव हि ते बन्धो द्रष्टारं पश्यसितराम् ॥"

यद्यपि आत्मा एक है, स्वतन्त्र है, तथा प्रायः मुक्त ही है, किन्तु भ्रमसे परको अपना मान रहा है। यही तेरे बन्धका कारण है कि आत्मासे अतिरिक्त पदार्थोंको द्रष्टा मान लेता है। आत्मासे भिन्न यह जो पदार्थ हैं वह तेरे नहीं, और न तू उनका है। उन्हें अपने मानकर स्वयं अपनी भूलसे बँधा हुआ है, कोई अन्य बंधानेवाला नहीं। जैसे कुत्ता दर्पणमें अपना मुख देख अपनेसे भिन्न प्रतिबिम्बको दूसरा कुत्ता मानकर भौंकता है, और उस दर्पणमें मुखकी ठोकर दे आप स्वयं चोटसे दुखी होता है, कोई अन्य चोट देनेवाला नहीं, अपना ही आत्मीय बोध न होनेसे स्वयमेव दुःखका पात्र होता है। इसी तरह यह आत्मा अपने स्वरूपको भूल स्वयं पर पदार्थोंमें निजत्व कल्पना कर दुःखका पात्र होता है[1]—

"अपनी सुध भूल आप आप दुःख उपायो।
जैसे शुक नभ चाल विसर नलिनी लटकायो॥"

सत्य यह है कि—

"उदेति भवतो विश्वं वारिधेरिव बुद्बुदः ।
इति ज्ञात्वैकमात्मानमेवमेव लयं व्रज ॥"

यह जो विश्व उदयको प्राप्त होता है सो आत्मासे ही होता है। अर्थात् जो जगत दृश्यमान है यह आत्माके रागादि परिणामसे ही तो होता है। जैसे वारिधिसे बुद्बुद् होते, वह यद्यपि वारिधिका

(१) ७-८-५१।

स्वभाव नहीं है फिर भी उस समुद्रमें परिणमनकी शक्ति है। वायुके निमित्तको पाकर लहरें उत्पन्न होती हैं तथा बुद्‌बुद् आदि अनेक प्रकारके विकार भाव उसमें उत्पन्न होते हैं। अन्तमें उसी समुद्रमें लय हो जाते हैं। ऐसा जानकर यह जो दृश्यमान जगत है वह तेरा ही परिणमन विशेष है। अन्तमें तुम्हींमें लीन हो जाना है।

यहाँ यह शंका होती है कि आत्मा तो अमूर्त्तीक द्रव्य है, उसका यह जगत् विकार है, यह समझमें नहीं आता? आपका कहना ठीक है, वास्तवमें परमार्थ दृष्टिसे तो आत्मा अमूर्त्तीक है परन्तु अनादिकालसे इसका सम्पर्क पुद्‌गलके साथ हो रहा है। इन असमान जातीय द्रव्योंका ऐसा विलक्षण सम्बन्ध है कि पुद्‌गल कर्मके विपाकसे आत्मामें रागादिक परिणाम होते हैं और वे परिणाम मोह रागद्वेष रूप हैं। इन्हींके विशेष मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन कषाय, प्रत्येक कषायमें क्रोध, मान, माया, लोभ चार चार ४×४ भेद होकर १६ प्रकार कषायके भेद हो जाते है। तथा ९ प्रकारके ईषत् कषाय होते हैं जिनके हास्य-रति-अरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्रीवेद-पुंवेद-नपुंसक वेद नाम हैं। इस तरहसे २६ भेद मोहके होते हैं। इसीका परिवार सकल संसार है। संसारमें इन भावोंको छोड़ और कुछ नहीं। जिन महापुरुषोंने इनपर विजय प्राप्त कर ली वे इस संसारसे उत्तीर्ण हो गये। सबसे प्रबल शत्रु मोह है जिसके सद्भावमें यह जीव आप और परको नहीं जानता। जहाँपर आत्मा और पर विवेक नहीं वहाँ अन्यकी क्या कथा? जबतक हमें आपका ही विवेक नहीं वहाँ हिंसादिक पापोंसे मुक्तिका उपाय कौन करे[1]?

---

(१) ११, १०, १२, १४-९-५१।

भेदज्ञानकी आवश्यकता—

"न हिंसा नैव कारुण्यं नौद्धत्यं न च हीनता।
नाश्चर्यं नैव क्षोभः क्षीणसंसरणेतेरे॥"

लेकिन् जिस महापुरुषका संसार क्षीण हो गया है उससे न तो किसीकी हिंसा होती है, न करुणा होती है, न उद्धत्ता होती है, न हीनता होती है, न क्षोभ होता है, और न आश्चर्य ही होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब मनुष्यके भेदज्ञान हो जाता है उस समय यह परको पर और अपनेको भिन्न जानता है। जब परको पर जाना तब उसमे निजत्वकी कल्पना विलीन हो जाती है। जब निजकी कल्पना मिट गई तब उसमे राग व द्वेष दोनो विलय जाते हैं। उनके जानेपर सुतरां दया और हिंसाके भाव विलय जाते हैं। आत्माका स्वभाव ज्ञाता दृष्टा है, जाननेवाला और देखनेवाला है, शेप जो भाव होते हैं वह उपाधिजन्य एवं विकारज है, इसके स्वभाव नही अतः स्वयमेव विलीन हो जाते हैं। जो धर्म आगन्तुक होता है वह मर्यादाके वाद नही रहता, पर्यायें स्वाभाविक एवं वैभाविक दो प्रकारकी होती है। वैकारिक पर्याय कारणके अभावमे नही रहती।

"सर्वत्र दृश्यते स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः।
समस्तवासनामुक्तो मुक्तः सर्वत्र राजते॥"

सब अवस्थाओंमे जिसका आशय निर्मल हो गया है, स्वस्थ रहता है, समस्त वासनाओसे जो मुक्त है वही मुक्त है। वही आत्मा सर्वत्र शोभायमान होता है। रज्जुका ज्ञान हो जाता है उस समय सर्पका ज्ञान नहीं होता। इस जगत्मे अनादिकालसे जीवका कर्मोंके साथ सम्बन्ध चला आया है जिससे आत्मा मलिन हो रहा

है। परन्तु जब भेदज्ञान हो जायगा कर्म बन्धनके कारणोंका अभाव होनेसे सुतरां उस निर्मलताको प्राप्त होगा जिससे संसार परिभ्रमणका यह चक्र सदाको नष्ट हो जायगा [1]।

शान्ति कहाँ

शान्तिके बाधक कारण

हमारी अज्ञानता—

शान्तिका मूल कारण चित्तकी निश्चलता है परन्तु निश्चलता होती नहीं। इसका मूल कारण यह कि हमारी बुद्धि परको अपना मानती है और जब परको अपना माना तब उसके रक्षणका भाव निरन्तर रहता है। उसका रक्षण हमारे अधीन नहीं, क्योंकि उस पर पदार्थकी अनेक अवस्थाएँ होती हैं। उनमें किसी अवस्थाको हम इष्ट और किसीको अनिष्ट होनेकी कल्पना करते हैं। हमारे अनुकूल जो परिणमन हो गया उसको हम चाहते हैं, उसके रखने-का सतत प्रयत्न करते हैं किन्तु वह परिणमन समय पाकर अन्य रूप हो जाता है। तब हम अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं और उसके आनेकी सतत चेष्टा करते हैं। यही हमारी महती अज्ञानता है। हमने यह प्रयत्न नहीं किया कि जो पर पदार्थ न कभी अपना हुआ न था और न भविष्यमें होगा ही यह निश्चित है फिर भी मोहके आवेशमें निरन्तर विपरीत परिणमन करनेकी प्रकृति बना रखी है। अन्यकी कथा छोड़ो जो लावण्यता बाल्यकालमें मनुष्यके विद्यमान है कुछ काल उपरान्त वह चली जाती है। तब इसे युवक कहने लगते हैं। अनन्तर वृद्ध हो जाता है, दन्त भग्न हो

(१) १५, १६-९-५१।

जाते है, नेत्र मन्द ज्योति हो जाते हैं, पग चलनेसे इन्कार कर देते हैं, हाथ कोई कार्य करनेमें अग्रसर नहीं होते। जो बालक प्रेमसे गोदमें खेलते हैं, वे स्पर्श करनेकी कथा छोड़ो देखना भी नहीं चाहते। यह सब प्रपञ्च देखकर भी हम आत्महितसे वञ्चित रहते हैं, इसका मूल कारण मोह है।

मोह मदिरा—

मोह मदिराके नशामें विह्वल मनुष्यकी दशा मद्यपानवालेके सदृश रहती है। एक बार मै गिरिराज (सम्मेदशिखर) जी क्षेत्रके पार्श्वभाग ईसरीमें निवास करता था। एक दिन सायंकाल भ्रमणार्थ गया। एक नलसे आधा फर्लाङ्ग पर ही एक मद्यकी दूकान थी उसके पास चला गया। वहाँ जाकर देखा कि बहुतसे मनुष्य मद्यके नशामे उन्मत्त होकर नाना अवाच्य शब्द तथा नाना प्रकारकी कुचेष्टा कर रहे हैं। यहाँ तक कि मुँहमें मक्खियाँ जा रही है, कूकर शरीर पर मूत्र कर रहे है। परन्तु वे इसकी कुछ भी परवा नहीं करते और न इनके निवारणका कुछ प्रयास ही करते हैं। इतनेमें नवीन शराब पीनेवाले आये और मद्य विक्रेतासे कहने लगे कि 'बढ़िया शराब देना।' विक्रेताने उत्तर दिया कि 'देखते नहीं, तुम्हारे दादा सामने ही तो लोट रहे हैं ?

मदिराके नशामे आदमीकी दशा उन्मत्त हो जाती है। यही अवस्था मोही जीवोकी जाननी चाहिये।

स्वार्थी संसार—

जीव एकाकी माँके गर्भमे आता है और नव मास पर्यन्त अधोमुख होकर बिताता है। वहाँसे जब निर्गत होता है उन दुःखोका अनुभव वही जानता है, अन्य कोई तो जान ही क्या सकेगा ? जो माता उसे अपने उदरमे धारण करती है उसे भी उस बालकके दुःखोंका पता नहीं।

जब निर्गत हुआ तब बाल्यावस्थामें शक्ति व्यक्त न होनेसे, इच्छाके अनुकूल कार्य न होनेसे जो कष्ट उसे होते हैं उनके वर्णन करनेमें अन्य किसीकी सामर्थ्य नहीं। उसे तो भूख लगी है, दुग्ध पान करना चाहता है परन्तु माँ अफीम पान कराकर सुलानेकी चेष्टा करती है। वह सोना चाहता है माँ कहती है बेटा! दुग्ध पान करलो। कहनेका तात्पर्य यह कि सब तरहसे प्रतिकूल कार्योंमें ही बाल्यावस्थाके कालको पूर्ण करना चाहता है। जहाँ ५ वर्षका हुआ माता पिता बालकको पढ़ानेका प्रयत्न करते हैं। ऐसी विद्या अर्जन कराते है जिससे लौकिक उन्नति हो, यद्यपि लौकिक उन्नतिमें शांति नही मिलती तथापि माता-पिताको जैसी परम्परासे पद्धति चली आ रही है तदनुकूल ही उनका बालकके प्रति भाव रहेगा। जिस शिक्षासे आत्माको शान्ति मिले उस ओर लक्ष्य ही नहीं। गुरुसे कहेंगे जिसमें बालक खान-पानके योग्य द्रव्यार्जन कर सके ऐसी ही शिक्षा देना।

जहाँ १५, १६ वर्षका हो गया माता पिताने दृष्टि बदली और यह संकल्प करने लगे कि 'कब बालकका विवाह हो जावे?' इसी चिन्तामें मग्न रहने लगे। कहाँतक कहा जावे विवाहके लिये लड़कीकी खोज करने लगे। अन्ततो गत्वा अपने तुल्य ही बालकको बनाकर संसार वृद्धिका ही उपदेश देते हैं। इस तरह यह संसार चक्र चल रहा है, इसमें कोई विरला ही महानुभाव होगा जो अपने बालकको ब्रह्मचारी बनाकर स्वपरके उपकारमें आयु पूर्ण करे। आजके २००० वर्ष पहले श्रमण संस्कृति थी तब बालक गण मुनियोंके पास रहकर विद्याध्ययन करते थे। कोई तो मुनिवेषमें अध्ययन करते थे; कोई ब्रह्मचारी वेषमें ही अध्ययन करते थे, कोई साधारण वेषमें अध्ययन करते थे। स्नातक होनेके अनन्तर कोई तो गृहस्थावस्थाको त्यागकर मुनि हो जाते थे, कोइ आजन्म

ब्रह्मचारी रहते थे, कोई गृहस्थ बनकर ही अपना जीवन निर्वाह करते थे परन्तु अब तो गृहस्थावस्था छोड़कर कोई भी त्याग करना नहीं चाहता। सतत गृहस्थ धर्ममे रहकर जन्म गमाते हैं।

निरीहवृत्तिका अभाव—

कल्याणका मार्ग तो निरीहवृत्तिमे है। निरीहता तभी आवे जब परपदार्थोंसे ममता छूटे। यहाँ तो परको अपना मानना ही ध्येय बना रक्खा है। सारा संसार देखा, जिसने संतोप न पाया उसे संतोप मिलनेका मार्ग भी कठिन है, क्योंकि समता हृदयमें नहीं। समतासे तात्पर्य यह है कि इन परपदार्थोमे रागद्वेष कल्पना त्यागो। जहाँ जाओ, जिससे बात करो, केवल फँसानेका ही व्यापार है। व्यर्थके जल्पवादमें और मानसिक अफल विकल्पोमें कायके अनर्थक व्यापारो द्वारा यह जीवन चला जाता है। कल्याणके लिये न तो विशिष्ट तपकी आवश्यकता है और न विशिष्ट ज्ञानकी ही आवश्यकता है। आवश्यकता है तो केवल निरीहवृत्ति की। निरीहवृत्ति उसीकी हो सकती है जो इन परपदार्थोंको अपनाना त्याग देवे।

परमें निजकी मान्यता—

परको निज मानना ही अनर्थकी जड़ है। जैसे कोई रज्जुमें सर्प मान लेवे तब सिवाय मनके और क्या लाभ? परकी परिणति कभी आपरूप नहीं होती। संसारमे जितने पदार्थ हैं वह चाहे चेतन हो, चाहे अचेतन हो। चेतन पदार्थ चेतन द्रव्य और चेतन गुणोंमे व्याप्त होकर रहेगे। अचेतन पदार्थ अचेतन द्रव्य और गुणोमे व्याप्त होकर स्वभावसे रहेगे। जैसे कुम्भकारके द्वारा घट बनाया जाता है किन्तु न तो घटमें कुम्भकारका द्रव्य जाता है और न गुण जाता है क्योकि वस्तुकी मर्यादा अनादिनिधन है,

इसका परिवर्तन नहीं हो सकता। द्रव्यान्तरके संक्रमणके विना एक पदार्थ अन्यका परिणमन करनेवाला नहीं हो सकता। इसी तरह पुद्गलमय जो ज्ञानावरणादि कर्म हैं उनमें न तो जीवका द्रव्य है और न गुण है, क्योंकि द्रव्यान्तर संक्रमण वस्तुकी मर्यादासे ही निषिद्ध है। अतः परमार्थसे आत्मा ज्ञानावरणादि-का कर्त्ता नहीं फिर भी ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध अनादि से चला आ रहा है कि जिस समय आत्मा रागादि रूप परिणमता है उस कालमें जो वर्गणा कार्मणरूप आत्माके प्रत्येक प्रदेशमें सम्बन्धित हैं वह ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमनको प्राप्त हो जाती हैं तथा जो रागादि परिणाम इस परिणमनमें कारण हैं उनके निमित्तसे बंधे कर्म कालान्तरमें उदयमें आकर आत्माको रागादि रूप परिणमनमें निमित्त कारण हो जावे हैं। कर्मका उदय जिस प्रकारके फलदानमें समर्थ होता है वही अनु-भागबन्ध है। उस समय आत्मामें उदयानुकूल परिणमन होता है। उसी समय जो कार्मणवर्गणाएँ हैं वे यथायोग्य ज्ञानावरणादिरूप परिणमनको प्राप्त हो जाती हैं। इस रीतिसे अनादि संसारकी यह परिपाटी चल रही है। अनुभवमें यह आता है कि ये रागादि परिणाम होते हैं इनका कोई न कोई कारण होना चाहिये। वह क्या है? सो दीखता नहीं। किन्तु ऐसा नियम है कि जो कार्य होता है वह उपादान और निमित्तसे होता है। उपादान तो हम ही हैं, निमित्त कारण जो हैं वे रागादि उत्पादक कोई होना चाहिये स्त्री आदि तो नियामक नहीं।

आत्मज्ञानका अभाव—

जबतक मोह रहता है तबतक तो आत्मदृष्टिका उदय ही नहीं, अपने अस्तित्वहीका परिचय नहीं। काहेकी शान्ति? यह जीव अनादिकालसे अपनेको नहीं जानता, क्योंकि जो अपनी सत्ता है

यह यद्यपि प्रतिसमय ज्ञानमे आती है परन्तु उस ओर लक्ष्य नही। जब भूख लगती है, पियास सताती है, शीघ्र ही हमे वोध होता है कि हम भूखे हैं, प्यासे है। यही वोध तो हमारा परिचायक हैं। इससे अधिक ज्ञान आत्माका और कौन करा देगा? परन्तु हम उस ओर दृष्टि नही देते; क्योंकि यह प्रक्रिया प्रतिदिन की हैं। यही परिचय अवज्ञाका कारण हो जाता है। आत्माका परिचय प्राणीमात्रको है परन्तु उस ओर लक्ष्य नहीं। आत्मज्ञान न हो तो कुछ भी कार्य नहीं हो सकता। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये जो चार संज्ञाएँ जिसके होती है वही तो आत्मा है। यद्यपि आत्मा अमूर्त पदार्थ है मूर्त पदार्थका परसे सम्बन्ध नहीं हो सकता परन्तु अनादिकालसे इस जीवके मोहका सम्बन्ध है इससे परको निज मानता है और जब परको निज माना तब परकी रक्षाके अर्थ नाना प्रकारके प्रयास करने पड़ते हैं। शरीर जिन पुद्गल द्रव्योसे वना है, उनकी जव त्रुटि होने लगती है तब यह जीव उनकी पूर्तिका प्रयास करता है। उसी तरह जब क्रोधादि कषायोका उदय होता है तव किसीके अनिष्ट करनेका भाव होता है, किसीसे अपनी प्रशंसा चाहता है, किसी पदार्थको इष्ट मान ग्रहण करना चाहता है, मायाचारीके वशीभूत होकर अन्यथा परिणमन करता है। इसी तरह जब हास्यादि कषायका उदय होता है तब हास्यादि रूप परिणमन करता है। इसी तरह इस जीवकी नाना दशा होती है। यह सब जंजाल परको निज माननेमे है। जिस कालमे यह परको पर आपको आप मानकर केवल ज्ञाता दृष्टा वना रहे अनायास यह सब परिणमन शान्त हो जावेगा।

परसम्पर्क—

दो पदार्थोंका सम्पर्क जबतक है तबतक यह दुरवस्था है। जहाँ सम्बन्ध छूटा कि सब गया। जितना अधिक जनसम्पर्क होगा

उतना ही संसार बन्धन वृद्धिको प्राप्त होगा। जितने मनुष्य मिलते हैं अपनी रामकथाको अलापकर चक्रमें डालनेकी चेष्टा करते हैं। परन्तु आवश्यक यह है कि निज उपयोगको स्वच्छ रक्खो। उपयोगका स्वभाव है कि जो पदार्थ उसमें आवेगा जान लेवेगा। प्रथम तो इन्द्रियजन्य ही तुम्हारे ज्ञान है। इसके द्वारा रूप-रस-गन्ध-स्पर्श ही तो तुम्हारे ज्ञानके विषय हैं। इससे अधिक इन्द्रिय ज्ञानकी शक्ति नहीं। तुम निज कषायके अनुसार किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट होनेकी कल्पना करते हो। इष्टके संग्रह और अनिष्टके त्यागमें प्रयत्नशील रहते हो। इसमें भी कोई नियम नहीं कि इष्ट पदार्थ सर्वदा इष्ट रहे। जो वस्तु पहिले इष्ट है वही वस्तु कालान्तरमें अनिष्ट देखी जाती है। शीतस्पर्श शिशिर ऋतुमें इष्ट नहीं और वही शीतल स्पर्श ग्रीष्म कालमें इष्ट देखा जाता है। जो ऊनी वस्त्र शीतकालमें सुखद देखा जाता है वही वस्त्र गर्मीके दिनोंमें असुखद देखा जाता है। जो रस शीतकालमें इष्ट होता है वही गर्मीके दिनोंमें अनिष्ट देखा जाता है। जो गाली अपने ग्राममें अनिष्ट होती है वही गाली ससुरालमें इष्ट मालूम होती है। अतः उचित है कि परका सम्पर्क त्यागो।

(१९ से २७।११।५१)

त्यागियों और विद्वानों से

श्रुतपञ्चमीका यह पर्व हमको यह शिक्षा देता है कि यदि कल्याण करनेकी इच्छा है तब ज्ञानार्जन करो। ज्ञानार्जनके विना मनुष्य जन्मकी सार्थकता नहीं। देव और नारकियोंमें तीन ज्ञान

होते हैं। जो ज्ञान होते है उनमे वे विशेष वृद्धि नही कर सकते हैं। जैसे देवोके देशावधि है वे उसे परमावधि सर्वावधि नहीं कर सकते। हॉ, यह अवश्य है जैसे उनके मिथ्यादर्शनका उदय हो तव उनका ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलावेगा। सम्यग्दर्शनके हो जानेपर सम्यग्ज्ञान हो जावेगा। परन्तु देव पर्यायमे संयमका उदय नहीं। अतः आपर्याय वही अविरत अवस्था रहेगी।

मनुष्य पर्याय ही की विलक्षण महिमा है जो सकलसंयम धारण कर वह संसार वन्धन विनाश कर सकता है। यदि संसारका नाश होता है तव इसी पर्यायमें होता है अतः इस पर्यायकी महत्ता संयमसे ही है। हम निरन्तर संसारको यह उपदेश देते हैं कि मनुष्य जन्म पाकर इसकी सार्थकता इसीमे है कि ऐसा उपाय करो जिससे फिर संसार वन्धनमे न वॅधना पड़े। इस उपदेशका तात्पर्य केवल सम्यग्दर्शनसे नहीं; क्योकि सम्यग्दर्शन तो चारो गतियोंमे होता है। केवल इस को प्राप्त किया तब क्या विशेपता हुई। अतः इससे उत्तर संयम धारण करना ही इस पर्यायकी सफलता है।

आजकल वड़े वड़े विद्वान् यह उपदेश देते हैं कि स्वाध्याय करो। यही आत्मकल्याणका मार्ग है। उनसे यह प्रश्न करना चाहिये महानुभाव! भगवन्!! विद्वच्छिरोमणि!!! आपने आजन्म विद्याभ्यास किया, सहस्रोको उपदेश दिया, स्वाध्याय तो आपका जीवन ही है, हम जो चलेंगे सो आपके उपदेश पर चलेंगे। परन्तु देखते हैं आप स्वयं स्वाध्यायके करनेका कुछ लाभ नही लेते। अतः हमको तो यही श्रद्धा है कि स्वाध्यायके करनेसे यही लाभ होगा कि अन्यको उपदेश देनेमे पटु हो जावेंगे। सो प्रायः जितनी बातोका उपदेश आप करते हैं हम भी कर देते हैं। प्रत्युत एक वात हम लोगोमे विशेप है कि हम आपके उपदेशसे दान करते हैं। अपने बालकोको यथाशक्ति जैनधर्मका ज्ञान करानेका प्रयत्न

करते हैं। परन्तु आपमे वह बात नहीं देखी जाती। आपके पास चाहे पचासो हजार रुपया हो जावे परन्तु आप उसमेंसे दान न करेंगे। अन्यकी कथा छोड़िये आप जिन विद्यालयो द्वारा विद्वान् हुए, उनके अर्थ कभी १००) नहीं भेजे होगे। निजकी बात छोड़ो अन्यसे यह न कहा होगा कि भाई। हम तो अमुक विद्यालयसे विद्वान् हुए उसकी सहायता करनी चाहिये। तथा जगतको उपदेश धर्म जाननेका देवेंगे परन्तु अपने बालकोको एम० ए० ही बनाया होगा। धर्म शिक्षाका मिडिल भी न कराया होगा। अन्यको मद्य मास मधुके त्यागका उपदेश देते हैं। आपसे कोई पूछे कि आपके अष्टमूल गुण हैं तो हँस देवेंगे। व्याख्यान देते देते पानीका गिलास कई बार आ जावे तो कोई बड़ी बात नहीं। हमारे श्रोता-गण भी इसीमे प्रसन्न हैं कि पं० जीने सभीको प्रसन्न कर लिया।

यदि यह पण्डित वर्ग चाहे तब समाजका, बहुत कुछ हित कर सकता है। जो पण्डित हैं वे नियम कर लेवें कि जिस विद्यालय से हमने प्रारम्भसे विद्यार्जन किया है और जिसमे अन्तमें स्नातक हुए, अपनेको कृतज्ञ बननेके लिये २) प्रतिशत देवेंगे। १) प्रतिशत प्रारम्भके विद्यालयके लिये तथा १) प्रतिशत अन्तिम विद्यालयको प्रतिमास भिजवावेंगे। यदि २००) मास उपार्जन होता होगा तब २॥) २॥) प्रतिमास भिजवावेंगे। तथा १ वर्षमे ७० दिन दोनो विद्यालयोके अर्थ देवेंगे। अथवा यह न दे सके तब कमसे कम जहाँ जावें उन विद्यालयोका परिचय तो करा देवें। जिनको १००) से कम आय हो वह प्रतिवर्ष ५) ५) तो अपनी संस्था मातेश्वरीको पहुँचा देवे। तथा यह भी न बने तब संसारमे एक वर्षमें कमसे कम जिस ग्रामके हो वहाँ रहकर लोगोमे धर्म प्रचार तो कर देवें।

त्यागियोकी बात कौन कहे? वह तो त्यागी हैं। किसके

त्यागी है ? सो दृष्टि डालिये तो पता चलेगा। त्यागी वर्गको यह उचित है जहाँ जावें वहाँ पर यदि विद्यालय हो तब ज्ञानार्जन करें। केवल हल्दी, धनियाँ, जीरेके त्यागमे ही अपना समय न बितावें। गृहस्थोके बालक जहाँ अध्ययन करते है वहाँ अध्ययन करें तथा शास्त्र सभामे यदि अच्छा विद्वान् हो तो उसके द्वारा शास्त्र प्रवचन प्रणालीकी शिक्षा लेवें। केवल शिक्षा प्रणाली ही तक न रहे किन्तु संसारके उपकारमे अपनेको लगा देवें। यह तो व्यवहार है। अपने उपकारमे इतने लीन हो जावें कि अन्य बात ही उपयोगमें न आवे।

कल्याणका मार्ग पर पदार्थोंसे भिन्न जो निज द्रव्य है उसीमें रत हो जाना है। इसका अर्थ यह है जो परमे रागद्वेष विकल्प होते है। उसका मूल कारण मोह है। यदि मोह न हो तब यह वस्तु मेरी है यह भाव भी न हो तब उसमे राग हो यह सर्वथा नही हो सकता। प्रेम तभी होता है जब उसमे अपने अस्तित्वकी कल्पना की जावे। देखो! प्रायः मनुष्य कहते हैं हमारा विश्वास अमुक धर्ममे है। हमारी तो प्रीति इसी धर्ममे है। विचार कर देखो प्रथम उस धर्मको निजका मानना भी तो उसमे प्रेम हुआ। और यदि धर्मको निजका न माने तब उसमें अनुराग होना असम्भव है। यही कारण है कि एक धर्मवाला अन्य धर्मसे प्रेम नही करता। अतः जिनको आत्मकल्याण करना है वे आत्मासे राग करें, जो आत्मा नहीं उनसे राग न करें और न द्वेष करे। आत्मा एक द्रव्य है, ज्ञानदर्शनवाला है, बल्कि यह भी व्यवहार है। ज्ञान-दर्शनके विकल्प क्षयोपशम ज्ञानमे होते हैं।

श्रुत पञ्चमी
वि० सं० २००८

द्रव्य और उसके परिणामका कारण

' अहंप्रत्ययवेद्यत्वाज्जीवस्यास्तित्वमन्वयात् ।

एको दरिद्रः एकः श्रीमानिति च कर्म्मणः ॥"

मै सुखी हूँ, दुःखी हूँ, इत्यादि प्रत्ययसे जीवके अस्तित्वका साक्षात्कार होता है तथा अन्वयमे भी इसका प्रत्यय होता है कि यह वही देवदत्त है जिसे मैंने मथुरामें देखा था। अब यहाँ देख रहा हूँ इस प्रत्ययसे भी आत्माके अस्तित्वका निर्णय होता है तथा कोई तो श्रीमान देखा जाता है, कोई दरिद्र देखा जाता है, इस विभिन्नतामें कोई कारण होना चाहिये। यह विषमता निर्हेतुक नहीं, जो हेतु है उसीको कर्मनामसे कहा जाता है। नाममे विवाद नहीं–चाहे कर्म कहो, अदृष्ट कहो, ईश्वर कहो, खुदा कहो, विधाता कहो, जो आपको रुचिकर हो परन्तु यह अवश्य मानना कि यह विभिन्नता निर्मूल नहीं। तथा यह भी मानना पड़ेगा कि जो यह दृश्यमान जगत है वह केवल एक जीवका परिणाम नहीं। यदि केवल एक पदार्थका हो तब उसमें नानात्व कहाँसे आया? नानात्व का नियामक द्रव्यान्तर होना चाहिये। केवल पुद्गलमें यह शब्दादि पर्यायें नहीं होती। जब पुद्गल परमाणुओंकी बन्धावस्था हो जाती है तभी यह पर्यायें होती हैं। उस अवस्थामे पुद्गल परमाणुओंकी सत्ता द्रव्यरूपसे अबाधित रहती है। शब्दादि पर्यायें केवल परमाणुओंकी नहीं किन्तु स्कन्ध पर्यायान्त परमाणुओं की हैं। इसी तरह जो रागादि पर्यायें हैं वह उदयावस्थापन्न जो कर्म उसके सद्भावमे ही रागादि पर्यायें जीवमे होती हैं। यदि ऐसा

न माना जावे तब रागादि परिणाम जीवका पारिणामिक भाव हो जावे। ऐसा होनेसे संसारका अभाव हो जावे। यह किसीको इष्ट नहीं। किन्तु प्रत्यक्षसे रागादि भावोका सद्भाव देखा जाता है। इससे यही तत्त्व निर्गत होता है कि रागादि भाव औपाधिक है। जैसे स्फटिक मणि स्वच्छ है किन्तु जब स्फटिक मणिके साथ जपापुष्पका सम्बन्ध होता है तब उसमे लालिमा प्रतीत होती है। यद्यपि स्फटिक मणि स्वयं रक्त नहीं किन्तु निमित्तको पाकर रक्तिमामय प्रत्ययका विषय होती है। इससे यह समझमे आता है कि स्फटिक मणिके निमित्तको पाकर लाल जान पड़ती है, वह लालिमा सर्वथा असत्य नहीं। ऐसा सिद्धान्त है कि जो द्रव्य जिस कालमे जिस रूप परिणमती है उस कालमे तन्मय हो जाती है। श्री कुन्दकुन्द महाराजने स्वयं प्रवचनसारमे लिखा है—

"पणादि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदं आदा धम्मो मुणेदव्वो ॥"

इस सिद्धान्तसे यह निष्कर्ष निकला कि आत्मा जिस समय रागादिमय परिणमेगा उस कालमे नियमसे उस रूप ही है तथा पर्याय दृष्टिसे उन्ही रागादिका उस कालमे भोक्ता होगा, जो भाव करेगा वर्तमानमे उसीका अनुभव होगा जल शीत है। परन्तु अग्निके सम्बन्धसे उष्ण पर्यायको प्राप्त करता है। यद्यपि उसमे शक्ति अपेक्षा शीत होनेकी योग्यता है परन्तु वर्तमानमे शीत नहीं। यदि कोई उसे शीत मानकर पान करे तब दग्ध ही होगा। इसी प्रकार यदि आत्मा वर्तमानमे रागरूप है तब रागी ही है। इस अवस्था मे वीतरागताका अनुभव होना असम्भव ही है। उस कालमे आत्माको रागादि रहित मानना मिथ्या है। यद्यपि रागादि परिणाम परनिमित्तक हैं अतएव औपाधिक हैं, नाशशील है

परन्तु वर्तमानमें तो औष्ण परिणत अयःपिण्डवत् आत्मा तन्मय हो रहा है। अर्थात् उन परिणामोंके साथ आत्माका तादात्म्य हो रहा है। इसीका नाम अनित्य तादात्म्य है। यह अलीक कथन नहीं। जिस कालमें एक मनुष्यने मद्यपान किया वर्तमानमें जब वह मनुष्य मद्यपानके नशासे उन्मत्त होगा तब क्या वर्तमानमें वह मनुष्य उन्मत्त नहीं? अवश्य उन्मत्त है। किन्तु किसीसे आप प्रश्न करें कि मनुष्यका लक्षण क्या है? तब क्या वह उत्तर देनेवाला यह कह सकता है कि मनुष्यका लक्षण उन्मत्तता है? नहीं। उससे आप क्या यह कहेंगे कि उत्तर ठीक नहीं? नहीं कह सकते; क्योंकि मनुष्यकी सभी अवस्थाओंमें उन्मत्तताकी व्याप्ति नहीं। इसी तरह आत्मामें रागादि भाव होने पर भी आत्माका लक्षण रागादि नहीं हो सकता क्योंकि आत्माकी अनेक अवस्थाएँ होती है। उन सबमें यह रागादि भाव व्यापक रूपसे नहीं रहता, अतः यह आत्माका लक्षण नहीं हो सकता। लक्षण वह होता है जो सभी अवस्थाओंमें पाया जावे। ऐसा लक्षण चेतना ही है। यद्यपि रागादि परिणाम तथा केवलज्ञानादि भी आत्मा हीमें होते है परन्तु उन्हे लक्षण नहीं माना जाता; क्योंकि वे पर्याय विशेष हैं। व्यापक रूपसे नहीं रहतीं। चेतना ही आत्माका एक ऐसा गुण है जो आत्माकी सभी दशाओंमें व्यापक रूपसे रहता है। आत्माकी दो अवस्थाएँ हैं—संसारी और मुक्त। इन दोनोंमें चेतना रहती है। इसीसे अमृतचन्द्र स्वामीने लिखा है—

"अनाद्यनन्तमचलं स्वसम्वेद्यमिदं स्फुटम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते॥"

जीव नामक जो पदार्थ है वह स्वयं सिद्ध है तथा पर निरपेक्ष अपने आप अतिशय कर चकचकायमान—प्रकाशमान हो रहा है।

कैसा है ? अनादि है, कोई इसका उत्पादक नहीं, अतएव अनादि है, अतएव अकारण है, जो वस्तु अनादि अकारण है वह अनन्त भी होती है तथा अचल है । ऐसे अनादि अनन्त तथा अचल अजीव द्रव्य भी है। इससे इसका लक्षण स्वसंवेद्य भी है यह स्पष्ट है। जीव नामक पदार्थमें अन्य अजीवोकी अपेक्षा चेतना गुण ही भेद करनेवाला है। वही गुण इसमें विशद है। जो सब पदार्थोंकी और निजकी व्यवस्था कर रहा है। इस गुणको सभी मानते हैं परन्तु कोई उस गुणको उससे सर्वथा भिन्न मानते हैं, और कोई गुणसे अतिरिक्त अन्य द्रव्य नहीं, गुणगुणी सर्वथा एक है ऐसा मानते हैं। कोई चेतना तो जीवमें मानते हैं परन्तु वह ज्ञेयाकार परिच्छेदसे पराङ्मुख रहता है। प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धसे जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसमें चेतनाके संसर्गसे ज्ञानपना आता है ऐसा मानते है। कोई कहता है कि पदार्थ नाना नहीं एक ही अद्वैत तत्त्व है, वह जब मायावच्छिन्न होता है तब यह संसार होता है। किसीका कहना है कि जीव नामक स्वतन्त्र जीवकी सत्ता नही। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इनकी विलक्षण अवस्था होती है। उसी समय यह जीव रूप अवस्था हो जाती है। यह जितने मत है सर्वथा मिथ्या नहीं। जैनदर्शनमें अनन्त गुणोका जो अविष्वग्भाव सम्बन्ध है वही तो द्रव्य है। वह गुण आत्मीय आत्मीय स्वरूपकी अपेक्षा भिन्न भिन्न है परन्तु कोई ऐसा उपाय नही जो उनमेंसे एक भी गुण पृथक् हो सके। जैसे पुद्गल द्रव्यमें रूप-रस-गन्ध-स्पर्श गुण हैं, चक्षुरादि इन्द्रियोंसे पृथक् पृथक् ज्ञानमे आते हैं, परन्तु उनमे कोई पृथक् करना चाहे तो नहीं कर सकता। वे सब अखण्डरूप से विद्यमान है। उन सब गुणोंकी जो अभिन्न प्रदेशता है उसीका नाम द्रव्य है। अतएव प्रवचनसारमें श्री कुन्दकुन्ददेवने लिखा है—

"णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो ।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थित्तणिप्पणो......"

परिणामके विना अर्थकी सत्ता नहीं तथा अर्थके विना परिणाम नहीं। जैसे दुग्ध, दधि, घी, छांछ इनके विना गोरस कुछ भी सत्ता नहीं रखता। इसी तरह गोरस न हो तब इन दुग्धादिकी सत्ता भी नहीं। एवं यदि आत्माके विना ज्ञानादि गुणोंका कोई अस्तित्व नहीं। विना परिणामीके परिणामका नियामक कोई नहीं। हाँ यह अवश्य है कि ये गुण सर्वदा परिणामशील हैं किन्तु अनादिसे आत्मा कर्मोंसे सम्बन्धित है इससे इसके ज्ञानादि गुणोंका विकाश निमित्त करणोंके सहकारसे होता है। होता उसीमें है परन्तु जैसे घटोत्पत्तिकी योग्यता मृत्तिकामें ही होती है। परन्तु कुम्भकारके व्यापारके विना घट नहीं बनता, कलशकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यापार कुम्भकारमें ही होगा फिर भी मिट्टी अपने व्यापारसे घट-रूप होगी। कुम्भकार घटरूप न होगा। उपादानको मुख्य मानने-वालोंका कहना है कि कुम्भकारकी उपस्थिति वहाँपर जब मिट्टीमें घट पर्यायकी उत्पत्ति होती है, स्वयमेव हो जाती। यहाँपर यह कहना है कि घटोत्पत्ति स्वयमेव मिट्टीमें होती है इसका क्या अर्थ है? जिस समय मिट्टीमें घट होता है उस कालमें क्या कुम्भकारादि निरपेक्ष घट होता है या सापेक्ष ? यदि निरपेक्ष घटोत्पत्ति होती है तब तो एक भी उदाहरण बताओ जो मृत्तिकामें कुम्भकारके व्यापार विना घट हुआ हो, सो तो देखा नहीं जाता। सापेक्ष पक्षको अङ्गीकार करोगे तब स्वयमेव आ गया कि कुम्भकारके व्यापार विना घटकी उत्पत्ति नहीं होती। इसका अर्थ यह है कि कुम्भकार घटोत्पत्तिमें सहकारी निमित्त है। जैसे आत्मामें रागादि परिणाम होते हैं, आत्मा ही इनका उपादानकर्ता है परन्तु चारित्रमोहके

"णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थित्तणिप्पणो......"

परिणामके विना अर्थकी सत्ता नहीं तथा अर्थके विना परिणाम नहीं। जैसे दुग्ध, दधि, घी, छांछ इनके विना गोरस कुछ भी सत्ता नही रखता। इसी तरह गोरस न हो तब इन दुग्धादिकी सत्ता भी नहीं। एवं यदि आत्माके विना ज्ञानादि गुणोका कोई अस्तित्व नहीं। विना परिणामीके परिणामका नियामक कोई नहीं। हॉ यह अवश्य है कि ये गुण सर्वदा परिणामशील हैं किन्तु अनादिसे आत्मा कर्मोंसे सम्बन्धित है इससे इसके ज्ञानादि गुणोंका विकाश निमित्त करणोके सहकारसे होता है। होता उसीमें है परन्तु जैसे घटोत्पत्तिकी योग्यता मृत्तिकामें ही होती है। परन्तु कुम्भकारके व्यापारके विना घट नही बनता, कलशकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यापार कुम्भकारमें ही होगा फिर भी मिट्टी अपने व्यापारसे घट-रूप होगी। कुम्भकार घटरूप न होगा। उपादानको मुख्य माननेवालोका कहना है कि कुम्भकारकी उपस्थिति वहॉपर जब मिट्टीमें घट पर्यायकी उत्पत्ति होती है, स्वयमेव हो जाती। यहॉपर यह कहना है कि घटोत्पत्ति स्वयमेव मिट्टीमें होती है इसका क्या अर्थ है? जिस समय मिट्टीमें घट होता है उस कालमे क्या कुम्भकारादि निरपेक्ष घट होता है या सापेक्ष? यदि निरपेक्ष घटोत्पत्ति होती है तब तो एक भी उदाहरण बताओ जो मृत्तिकामे कुम्भकारके व्यापार विना घट हुआ हो, सो तो देखा नहीं जाता। सापेक्ष पक्षको अङ्गीकार करोगे तब स्वयमेव आ गया कि कुम्भकारके व्यापार विना घटकी उत्पत्ति नहीं होती। इसका अर्थ यह है कि कुम्भकार घटोत्पत्तिमें सहकारी निमित्त है। जैसे आत्मामें रागादि परिणाम होते हैं, आत्मा ही इनका उपादानकर्ता है परन्तु चारित्रमोहके

विना रागादि नहीं होते। होते आत्मा मे ही हैं परन्तु विना कर्मोदयके ये भाव नही होते। यदि निमित्तके विना ये हों तव आत्माके त्रिकाल अवाधित स्वभाव हो जावे सो ऐसे ये भाव नहीं, इनका विनाश हो जाता हैं अतः यह मानना पड़ेगा कि वे आत्माका निज भाव नहीं। इसका यह अर्थ नही कि ये भाव आत्माके होते ही नही, होते तो हैं परन्तु निमित्त कारणकी अपेक्षासे नहीं होते यदि ऐसा कहोगे तव आत्मामें मतिज्ञानादि जो चार ज्ञान उत्पन्न होते है वे भी तो नैमित्तिक हैं, उनको भी आत्माके मत मानो। यह भी हमे इष्ट है, हम तो यहाँ तक मानने-को प्रस्तुत है कि क्षायोपशमिक, औदायिक, औपशमिक जितने भी भाव है वे आत्माके अस्तित्वमे सर्वदा नही होते। उनकी कथा छोड़ो, क्षायिक भाव भी तो क्षयसे होते हैं वे भी अवाधित रूपसे त्रिकालमे नही रहते अतः वे भी आत्माके लक्षण नहीं। केवल चेतना ही आत्माका लक्षण है। यही अवस्थित त्रिकालमे रहता है। इसी भावको पृथक्क करनेवाला एक श्लोक अष्टावक्र गीतामें अष्टावक्र ऋषिने लिखा है—

"नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्।
अयमेव हि मे बन्धो मा स्याज्जीविते स्पृहा ॥'

मै देह नहीं हूँ, और न मेरा देह है, और न मैं जीव हूँ, मैं तो चित् हूँ, अर्थात् चैतन्य गुणवाला हूं, यदि ऐसा वस्तुका निज स्वरूप है तव आत्माको वन्ध क्यो होता है ? इसका कारण हमारी इस जीवमे स्पृहा है। यह जो इन्द्रिय, मन, वचन, काय, श्वासोच्छ्वास और आयु प्राणवाले पुतलेमें हमारी स्पृहा है यही तो बन्धका मूलकारण है। हम जिस पर्यायमे जाते हैं उसीको निज मान वैठते हैं। उसके अस्तित्वसे अपना अस्तित्व मानकर पर्यायबुद्धि होकर सब व्यव–

द्वार पर्यायके अनुरूप प्रवृत्ति करते करते एक पर्यायको पूर्णकर पर्यायान्तरको प्राप्त करते हैं। इससे यही तो निकला कि हम पर्याय बुद्धिसे ही अपनी जीवन लीला पूर्ण करते हैं। श्रीपञ्चास्तिकायमें भी श्री कुन्दकुन्ददेवने लिखा है—

गदिमधिगदस्स देहो देहादिंदियाणि जायंते।
जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो॥
परिणामादो कम्मं कम्मादो गदिसु होदि गदी।
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते॥
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो दोसो वा॥
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।

जो संसारमें रहनेवाले जीव हैं उनके स्निग्ध परिणाम होता है, परिणामोंसे कर्मका बन्ध होता है, कर्मसे एक गतिसे अन्य गतिमें जीव जाता है। जहाँ जाता है वहाँ देहका ग्रहण करता है, विषय ग्रहणसे रागादि परिणामोंकी उत्पत्ति होती है। फिर रागादिसे कर्म और कर्मसे गति, गत्यन्तर गमन फिर गत्यन्तर गमनसे देह, देहसे इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंसे विषय ग्रहण, विषयोंसे स्निग्ध परिणाम, परिणामोंसे कर्म, कर्मसे वही प्रक्रिया इस तरह यह संसार चक्र बराबर चला जाता है। यदि इसको मिटाना है तब यह जो प्रक्रिया है उसका अन्त करना पड़ेगा। इस प्रक्रियाका मूल कारण स्निग्ध परिणाम है उसका अन्त करना ही इस भव-चक्रके विध्वंसका मूल हेतु है। इसको दूर करनेके उपाय बड़े बड़े महात्माओंने बतलाए हैं। आज संसारमें जितने आयतन धर्मके दिखते हैं। इसी चक्रसे बचानेके हैं। किन्तु अन्तरङ्ग दृष्टि डालो तब

यह सभी उपाय पराश्रित है। केवल स्वाश्रित उपाय ही स्वार्जित संसारके विध्वंशका कारण हो सकता है। जैसे शरीरमे यदि अन्न खाकर अजीर्ण हो गया है तो उसके दूर करनेका सर्वोत्तम उपाय यह है कि उदरमे पर द्रव्यका जो सम्बन्ध हो गया है उसे पृथक कर दिया जावे तो अनायास ही नीरोगताका लाभ हो सकता है। मोक्षमार्गमे भी यही प्रक्रिया है। अपितु जितने कार्य है उन सबकी यही पद्धति है। यदि हमे संसार वन्धनसे मुक्त होनेकी अभिलाषा है तो सबसे प्रथम हम कौन है? हमारा क्या स्वरूप है? वर्तमान क्या है? संसार क्यो अनिष्ट है? जब तक यह निर्णय न हो जावे तव तक उसके अभावका प्रयत्न करना हो ही नही सकता। अतः यह आत्मा क्या है? यह हम प्रारम्भमे ही वर्णन कर चुके है उसकी जो अवस्था हमे संसारी वना रही है उससे मुक्त होनेकी हमारी इच्छा है तव केवल इच्छा करनेसे मुक्तिके पात्र हम नही हो सकते। जैसे अग्निके निमित्तसे जल उष्ण हो गया है अव हम माला लेकर जपने लगें 'शीत स्पर्शवज्जलाय नमः' तव अनल्प कालमे भी जल शीत न होगा। उष्ण स्पर्शको दूर करनेसे ही जलका शीत स्पर्श होगा। इसी तरह हमारी आत्मामे जो रागादि विभाव परिणाम है उनके दूर करनेके अर्थ 'श्री वीतरागाय नमः' यह जाप असंख्य कल्प भी जपा जावे तो भी आत्मामे वीतरागता न आवेगी किन्तु रागादि निवृत्तिसे अनायास वीतरागता आ जावेगी। वीतरागता नवीन पदार्थ नहीं यह आत्मा परपदार्थोंसे मोह करता है। मोह क्या वस्तु है? जिसके उदयसे परमे निजत्व बुद्धि होती है वही मोह है। परको निज मानना यह अज्ञान भाव है। अर्थात् मिथ्याज्ञान है इसका मूल कारण मोहका उदय है। ज्ञानावरणका क्षयोपशम ज्ञानसे होता है परन्तु विपर्यय होता है जैसे शुक्तिकामे रजतका विभ्रम होता है। यद्यपि शुक्ति रजत नहीं हो

गई परन्तु दूरत्व चाकचिक्यादि कारणोंसे भ्रान्ति हो जाती है, भ्रान्तिका कारण दूरत्वादि दोष हैं जैसे कामला रोगी जब शङ्खको देखता है तब 'पीतः शङ्खः' ऐसी प्रतीति करता है। यद्यपि शङ्खमें पीतता नहीं यह तो नेत्रमें कामला रोग होनेसे शङ्खमें पीतत्व भासमान है। यह पीतता कहाँसे आयी ? तब यही कहना पड़ेगा कि नेत्रमें कामला रोग है वही इस पीतत्व ज्ञानका कारण हुआ। इसी प्रकार आत्मामें जो रागादि होते हैं उनका मूल कारण मोहनीय कर्म है। उसके दो भेद हैं—एक दर्शनमोह दूसरा चारित्रमोह। उसमें दर्शनमोहके उदयसे मिथ्यात्व और चारित्रमोहके उदयसे रागद्वेष होते है। उपयोग आत्माका ऐसा है कि उसके सामने जो भी आवे उसका प्रतिभास होता है। जैसे नेत्रके समक्ष जो वस्तु आती है उसका ज्ञान करा देता है यहाँ तक तो कोई आपत्ति नहीं परन्तु जो ज्ञानमें आवे उस पदार्थको आत्मीय मान लेना ही मिथ्या अभिप्राय है। संसारमें देखा जाता है कि जो पर वस्तुको निज मानता है उसे लोग ठग कहते हैं परन्तु यह चोट्टापन छूटना सहज नहीं। अच्छे अच्छे जीव परको निज मानते हैं और उन पदार्थोंकी रक्षा भी करते हैं किन्तु अभिप्रायमें यह है कि यह हमारे नहीं अतएव उन्हें सम्यग्ज्ञानी कहते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव उन्हें निज मान अनन्त संसारके पात्र होते हैं। समझमें नहीं आता यह विषमता क्यों ? विषमताका मिटना सहज नहीं स्वयमेव मिटती है या कारण कूटसे। यदि स्वयमेव मिटती है तब उसके मिटानेका जो प्रयास है वह व्यर्थ है। पुरुषार्थ तो प्रायः सभी करते हैं परन्तु सभी सफल मनोरथ क्यों नहीं होते ? तब यही उत्तर होगा कि जिसने यथार्थ प्रयास नहीं किया उसका कार्य सफल नहीं हुआ। फिर कोई प्रश्न करे कि अन्तरङ्गसे तो चाहता हूँ परन्तु प्रयास अनुकूल नहीं बनते, इनमें कारण क्या है कुछ बुद्धिमें नहीं आता।

अन्ततोगत्वा यही उत्तर मिलता है कि जब जीवका कल्याण होनेका समय आता है अनायास कारण कूट जुड़ जाते हैं। कौन चाहता कि हमें आकुलता हो और हम दुःखके पात्र बनें फिर भी जो नहीं चाहता वह होता है और जो चाहता है वह नही होता। यह प्रश्न हरएक करता है, उत्तर भी लोग देते हैं किन्तु अन्तमे अकाट्य उत्तर नहीं मिलता। अतः इन झंझटोंके चक्रमें न पड़कर जितनी चेष्टा करो निवृत्तिके ऊपर दृष्टिपात कर करो। अन्यकी कथा छोड़ो यदि तीव्रोदयमे मिथ्यात्व रूपमे कार्य किये गये उनमें भी यही भावना करो कि अब न करने पड़ें। मेरी तो यह श्रद्धा है कि कोई भी कार्य करो चाहे वह शुभ हो, चाहे अशुभ हो, यही भावना मानो कि अब फिर न करना पड़े। जैसे मन्द कषायोके उदयमे पूजनादि कार्य करने पड़ते हैं उनमे यह भावना रक्खो कि हे भगवान्! अब कालान्तरमे यह न करना पड़े। मिथ्याज्ञानी और सम्यग्ज्ञानीमे यही तो अन्तर है कि मिथ्याज्ञानी जीव शुभ कार्योंको उपादेय मानता है, सम्यग्ज्ञानी ऋण जान अदा करता है, यही विषमता दोनोंमे है। इस विषमताका वारण होना कठिन है। यही कारण है कि अनन्त जन्म तप करते करते द्रव्यलिंगसे मोक्ष नहीं होता। इसका मूल अभिप्रायकी ही मलिनता तो है। इस अभिप्रायकी मलिनताको मिटानेवाला यह आत्मा स्वयं प्रयत्नशील हो मिट सकती है। यदि यह न होता तो मोक्षमार्ग ही न होता। जब आत्मामें अचिन्त्य शक्ति है तब उसका उपयोग आत्मीय यथार्थ परिणतिके लिए क्यों न किया जाय? जो आत्मा जगतकी व्यवस्था करनेमे समर्थ है वह आत्मीय व्यवस्था न कर सके, समझमे नहीं आता किन्तु हम उस ओर लक्ष्य नहीं देते। यहाँपर इस शङ्काको अवकाश नहीं कि नेत्र पदार्थान्तरोंको जानता है परन्तु अपनेको नहीं जानता। इसका उत्तर यह है कि जब नेत्र अपनेको देखना चाहे तब एक दर्पणको

समक्ष रक्खे उसमें जब मुखका प्रतिबिम्ब पड़ता है तब नेत्रकी आकृतिका बोध हो जाता है। यह भी तो नेत्रने दिखाया। जब ज्ञान घटादि पदार्थोंको देखता है तब उनकी व्यवस्था करता है और जब स्वोन्मुख होता है तब यही तो विकल्प होता है कि जो घटादि देखनेवाला है वही तो मै हूँ। परमार्थसे ज्ञान बाह्य घटादिकोकी व्यवस्था नहीं करता किन्तु ज्ञानमें जो विकल्प हुआ उसको जानता है और उसीकी व्यवस्था करता है अर्थात् ज्ञानमे जो अर्थाकार विकल्प हुआ ज्ञान उसी ज्ञानकी पर्यायका संवेदन करता है तब इसका यही तो अर्थ हुआ कि ज्ञानने अपने स्वरूप ही का वेदन किया। इस तरह ज्ञेय और ज्ञानकी व्यवस्था है और यह व्यवस्था अनादिसे चली आई है। अनन्तकाल पर्यन्त रहेगी। किन्तु इस व्यवस्थामें जो हमारी परको निज माननेकी पद्धति है वही पद्धति रागद्वेषकी उत्पादक है अतः जिन्हे अपनेको संसार बन्धनमें रखना इष्ट है उन्हे इस मान्यताको अपनाना चाहिये। यद्यपि किसीको यह इष्ट नहीं कि इस जालमे हम रहे परन्तु अनादिसे हमारी मान्यता इतनी दूषित है जिससे निजको जानना ही असम्भव है। जैसे जिस मनुष्यने खिचडीका भोजन किया है उससे केवल चावलका स्वाद पूछो तो नहीं बता सकता। इसी तरह मोहके उदयमे जो ज्ञान होता है उसमे परको निज माननेकी ही मुख्यता रहती है। यद्यपि पर निज नहीं परन्तु क्या किया जावे। जो निर्मल दृष्टि है वह मोहके सम्बन्धसे इतनी मलिन हो गई है कि निजकी ओर जाती ही नही। इसीके सद्भावमें यह दशा जीवकी हो रही है कि उन्मत्त पान करनेवालेकी तरह अन्यथा प्रवृत्ति करता है। अतः इस चक्रसे बचनेके अर्थ परमे ममता त्यागो। केवल वचनोसे व्यवहार करनेसे ही सन्तोष मत कर लो। जो मोहके साधक हैं उन्हे त्यागो। जैसे पञ्चेन्द्रियोंके विषय त्यागनेसे ही इन्द्रिय विजयी

होगा। कथा करनेसे कुछ तत्त्व नहीं निकलता। बात असलमे यह है कि हमारे इन्द्रियजन्य ज्ञान है, इस ज्ञानमे जो पदार्थ भासमान होगा उसी ओर तो हमारा लक्ष्य जावेगा। उसीकी सिद्धिके लिये हम प्रयास करेंगे चाहे वह अनर्थकी जड़ हो। अनर्थकी जड़ बाह्य वस्तु नही। बाह्य वस्तु तो अध्यवसानमे विषय पड़ती है। बाह्य वस्तु बन्धका जनक नहीं। श्री कुन्दकुन्द देवने लिखा है—

"वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं दु होदि जीवाणं।
ण हि वत्थुदो बंधो अज्झवसाणेण बंधो दु॥"

वस्तु को निमित्तकर अध्यवसानभाव जीवोके होता है किन्तु पदार्थ वन्धका कारण नहीं। वन्धका कारण तो अध्यवसानभाव है। यदि ऐसा सिद्धान्त है तब बाह्य वस्तुका परित्याग क्यो कराया जाता है? अध्यवसानके न होनेके अर्थ ही बाह्य वस्तुका निषेध कराया जाता है। बाह्य वस्तुके विना अध्यवसानभाव नहीं होता। यदि बाह्य पदार्थके आश्रय विना अध्यवसानभाव होने लगे तब जैसे यह अध्यवसानभाव होता है कि मै रणमे जाकर वीरसू माताके पुत्रको मारूँगा, यह भी अध्यवसान होने लगे कि वन्ध्या पुत्रको मारूँगा, नही होता क्योकि मारण क्रियाका आश्रयभूत वन्ध्या सुत नहीं है अतः जिन्हे वन्ध न करना हो बाह्य वस्तुका परित्याग कर देवें। परमार्थसे अन्तरङ्ग मूर्च्छाका त्याग ही वन्धकी निवृत्तिका कारण है। परपदार्थके जीवन-मरण सुख-दुःखका अध्यवसान तो सर्वथा ही त्याज्य है, क्योकि हमारे अध्यवसानके अनुरूप कार्य नही होता। कल्पना करो हमने यह अध्यवसान किया कि अमुक व्यक्ति वन्धनको प्राप्त हो और अमुक व्यक्ति संसारसे मुक्त हो जावे। हमने तो वन्धन और मोचनका अध्यवसान किया और जिनको वन्धन और मुक्त होना था उन्होने वह भाव नही किया

जिससे वह बन्धन और मोचन अवस्थाको प्राप्त हो जाते। तब यहाँपर कारण जो आपने माना था वह तो रह गया परन्तु कार्य नहीं हुआ। यह अन्वय व्यभिचार हुआ तथा तुमने बन्धन और मोचनका अध्यवसानभाव नहीं किया और उन जीवोंने उन अध्यवसानभावोंके करनेसे बन्धन और मोचनका कार्य सम्पन्न कर लिया इससे व्यतिरेक व्यभिचार भी हो गया। इससे यह सिद्धान्त निकला कि इन मिथ्या विकल्पोंको त्यागकर यथार्थ वस्तु स्वरूपके निर्णयमें अपनेको तन्मय करो। अन्यथा इसी भवचक्रके पात्र रहोगे। तुम विश्वको अपनाते हो. इसमें मूल जड़ मोह है जिनके वह नहीं वही मुनि हैं। यह अध्यवसान आदि भाव जिनके नहीं हैं वही महा मुनि हैं। वही शुभ और अशुभ कर्मसे लिप्त नहीं होते। ये मिथ्यात्व अज्ञान तथा अविरत रूप जो त्रिविध भाव हैं वही शुभाशुभ कर्मबन्धके निमित्त हैं, क्योंकि यह स्वयं अज्ञानादिरूप हैं। वही दिखाते हैं। जैसे जब यह अध्यवसानभाव होता है 'इदं हिनस्मि' यह जो अध्यवसानभाव है वह अज्ञानमयभाव है और आत्मा सत है, अहेतुक है, ज्ञप्तिरूप एक क्रियावाला है ऐसा जो आत्मा है उसका और रागद्वेषके विपाकसे जायमान हननादि क्रियाओंका विशेष भेद ज्ञान न होनेसे, भिन्न आत्माका ज्ञान न होनेसे अज्ञान ही रहता है, भिन्न आत्मदर्शन न होनेसे मिथ्यादर्शन रहता है। भिन्न आत्माका चारित्र न होनेसे मिथ्याचारित्र ही का सद्भाव रहता है। इस तरहसे मोहकर्मके निमित्तसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रका सद्भाव आत्मामें है तथा इसी मोहके उदयके साथ जब ज्ञानावरणका क्षयोपशम रहता है 'धर्मो ज्ञायते' जब यह अध्यवसान होता है. यह जो ज्ञेयभाव ज्ञानमें आते हैं, इनका और सहेतुक ज्ञानमय आत्माका भेदज्ञान न होनेसे, अज्ञान विशेष दर्शन न होनेसे अदर्शन, इसी तरह विशेष स्वरूपमें चर्या

न होनेसे अचारित्रका सद्भाव रहता है। यदि परमार्थसे विचारा जावे तब आत्मा स्वतन्त्र है और यह जो स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण वाला पुद्गल द्रव्य है वह स्वतन्त्र है। इन दोनोंके परिणमन भी अनादि कालसे स्वतन्त्र हैं परन्तु इन दोनोंमे जीव द्रव्य चेतन गुणवाला है और उसमे यह शक्ति है कि जो पदार्थ उसके सामने आता है उसमे झलकता है, प्रतिभासित होता है। पुद्गलमें भी एक परिणमन इस तरहका है कि उसमे भी रूपी पदार्थ झलकता है परन्तु वह मेरेमे प्रतिभासित होता है यह उसे ज्ञात नहीं। आत्मामे जो पदार्थ प्रतिभासमान होता है उसे यह भाव होता है कि यह पदार्थ मेरे ज्ञानमे आये। यही आपत्तिका मूल है। उन पदार्थोंको अपनानेकी प्रकृति मोहके सम्बन्धसे हो जाती है यही अनन्त संसारका कारण होता है। प्रत्येक मनुष्य यह मानता है कि पर पदार्थका एक अंश भी ज्ञानमे नहीं आता है फिर न जाने उन्हे क्यो अपनाता है? यही महती अज्ञानता है। अतः जहाँ तक आत्म द्रव्यको आत्मा ही रहने देनेकी अपेक्षा जो अन्य रूप करनेका प्रयास है यही अनन्त संसारका कारण है। ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो यह पर द्रव्य है, यह मेरा है नहीं कह सकता? ऐसा सिद्धान्त है कि जो जिसका भाव होता है वह उसका स्व है। जिसका जो स्व होता है वह उसका स्वामी है अतः यह निष्कर्ष निकला कि अन्य द्रव्य अन्यका स्व नही तब अन्य द्रव्य अन्यका स्वामी नहीं तब अन्य द्रव्य आपका स्वामी नहीं। यही कारण है जो ज्ञानी जीव परको ग्रहण नहीं करता। मैं भी ज्ञानी हूं अतः मैं भी परको ग्रहण नहीं करूँगा। यदि मै पर द्रव्यको ग्रहण करूँ तब यह अजीव मेरा स्व हो जावे और मैं अजीवका स्वामी हो जाऊँगा। अजीवका स्वामी अजीव ही होगा, उसे अजीव होना पड़ेगा, ऐसा नहीं, मैं तो ज्ञाता दृष्टा हूं

अतः पर द्रव्यको ग्रहण नहीं करूँगा। जब पर द्रव्य मेरा नहीं तब वह चाहे छिद जावो, भिद जावो, चाहे कोई ले जाओ अथवा जिस तिस अवस्थाको प्राप्त हो जाओ तथापि पर द्रव्यको ग्रहण नहीं करूँगा। यही कारण है कि सम्यग्ज्ञानी धर्म, अधर्म असतद्दान इनको नहीं चाहता। धर्म पदार्थ पुण्यको कहते हैं अर्थात् जब इस जीवके प्रशस्त राग अनुकम्पा परिणाम और चित्तमें अकलुषता रूप परिणाम होता है उसी समय इस जीवके पुण्य बन्ध होता है अर्थात् तिसकालमें अर्हंत, सिद्ध, साधुके गुणोंमें अनुराग होता है इसीका नाम भक्ति है। अर्थात् उनके गुणोंकी प्राप्ति हो यही तो भक्ति है। श्री गृद्धपिच्छने यही तो लिखा कि—

"मोक्षमार्गस्य नेत्तारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥"

इसमें यही तो दिखाया है कि तद्गुणका लाभ हमें हो। ऐसा सिद्धान्त है कि जो जिस गुणका अनुरागी है वह उसको नमस्कार करता है। जैसे शस्त्र विद्याका इच्छुक शस्त्र विद्या वेत्ताको नमस्कार करता है। इसी तरह धर्ममें जो चेष्टा अर्थात् धर्म लाभका अनुराग यही तो हुआ तथा गुरुओंके पीछे रसिक होकर गमन करना। इत्यादि वाक्योंसे यही तो निकलता है कि इन सब वाक्योंमें इच्छा ही की प्रधानता है। इच्छा परिग्रह है क्योंकि इच्छाका जनक मोह कर्म है। मोहकर्मके उदयसे जो भाव होते हैं सामान्यसे वह इच्छा रूप पड़ते हैं। मिथ्यात्वके उदयमें विपरीत अभिप्राय ही तो होता है। वह इच्छा रूप ही है। क्रोध कषायके उदयमें, परको अनिष्ट करनेकी ही तो इच्छा होती है। तथा मानके उदयमें अन्यको तुच्छ दिखाना अपनेको महान् माननेकी ही तो इच्छा रहती है। मायाके उदयकालमें अन्तरङ्गमें तो अन्य है, बाह्यसे उसके विरुद्ध

कार्यमें प्रवृत्ति होती है। लोभ कषायका जब उदय आता है तब परपदार्थको अपहरण करनेकी ही तो इच्छा होती है। इसी प्रकार हास्य कषायके उदयमें हास्यका भाव होता है, रतिके उदयमें पर पदार्थके निमित्तको पाकर प्रसन्न होता है, अरतिके उदयमें पदार्थों के निमित्तसे शोकातुर रहता है, भयके उदयमें भयभीत परिणाम होते हैं, जुगुप्साके उदयमें पदार्थोंके निमित्तसे ग्लानि रूप परिणपति हो जाती है। जब स्त्री वेदका विपाक आता है तब पुरुषसे रमण करनेकी चेष्टा होती है, दैवात् पुरुषका सम्बन्ध न मिले तब भावोंसे पुरुषकी कल्पना कर अपनी इच्छा शान्त करनेकी चेष्टा यह जीव करता है। पुरुष वेदके उदयमें स्त्रीसे रमण करनेकी इच्छा होती है निमित्त न मिलनेसे कल्पना द्वारा यह प्राणी जो जो अनर्थ करता है वह प्रायः सर्व विदित हैं। इस तरह नपुंसक वेदके उदयमें उभयके रमणके भाव होते है। इनकी इच्छा प्रथम दो वेदवालोंकी अपेक्षा प्रबल है। इस विषयमें यदि कोई लिखना चाहे तब बहुत लिख सकता है। इन इच्छाओंसे संसार दुःखी है। इसीसे भग-वानने इच्छाको परिग्रह माना है। जिसके इच्छा नहीं है उसके परिग्रह नहीं है। इच्छा जो है सो अज्ञानमय भाव है। अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नही है, ज्ञानीके तो ज्ञानमय भाव ही होता है। यही कारण है कि अज्ञानमय भाव रूप इच्छाके अभावसे ज्ञानी जीव धर्मकी इच्छा नहीं करता। ज्ञानमय ज्ञायक भावके सद्भावसे धर्म-का केवल ज्ञाता दृष्टा है, जब ज्ञानी जीवके धर्मका ही परिग्रह नहीं तब अधर्मका परिग्रह तो सर्वथा ही असम्भव है। इसी तरहसे न अशनका परिग्रह है, और न पानका परिग्रह, क्योकि इच्छा परिग्रह है। ज्ञानी जीवके इच्छाका परिग्रह नहीं, इनको आदि देकर जितने प्रकारके पर द्रव्यके भाव हैं तथा पर द्रव्यके निमित्तसे आत्मामें जो भाव होते हैं उन सबको ज्ञानी जीव नही चाहता। इस पद्धति

से जिसने सब अज्ञान भावोंको वमन कर दिया तथा सब पर पदार्थोंके आलम्बनको त्याग दिया केवल टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावको अनुभवन करता है। पूर्व कर्मके विपाकसे ज्ञानीके उपभोग होता है, होओ, किन्तु उसमें राग न होनेसे वह उपभोग परिग्रह भावको प्राप्त नहीं होता। रागादि परिणामके विना मन, वचन और कायके व्यापार अकिञ्चित्कर हैं। जैसे यदि चूना आदिका श्लेष न हो तब ईंटोंके समुदायसे महल नहीं बनता। परमार्थसे विचार किया जावे तब वेद्य-वेदक भावका एक कालमें समागम ही नहीं, कौन किसको वेदन करे तथा कौन वेद्य हो। जिस कालमें वेद्यभाव है उसको वेदन करनेवाला भाव तो उस समय है नहीं, वेद्यभावके अनन्तर ही होगा। जब वेदकभाव होगा उस समय वेद्यभावका अभाव हो जावेगा। उसके अभाव होनेपर वेदकभाव किसको वेदन करेगा? कदाचित् यह कहो कि वेद्यभावके अनन्तर जो अन्य वेद्यभाव होगा उसे वेदन करेगा तावत् वेदन करनेवाला जो वेदकभाव है वह नाश हो जावेगा। कौन वेद्यभावको वेदन करेगा। यह कहना भी अच्छा नहीं कि वेदकभावके अनन्तर होनेवाला जो वेदकभाव है वह उसे वेदन करेगा। तब उस कालमें वेद्यभाव नहीं करेगा। इस प्रकारकी अनवस्था कार्यसम्पादिका नहीं हो सकती। अतः इस वेद्य-वेदकभावके चक्रको त्याग आत्मा को निज ज्ञायक भावके ऊपर ही निर्भर रहना चाहिये। परमार्थसे विचार किया जावे सब पदार्थ नियमसे परिणमनशील हैं। सब पदार्थोंका परिणमन अपने अपनेमें हो रहा है, किसी पदार्थका अंश भी किसी दूसरे पदार्थमें नहीं जाता। यह जीव उनका ज्ञाता द्रष्टा बनता है, इतना ही नहीं किसीको अपनाता है, किसीको रागका विषय करता है, किसीको द्वेषका विषय करता है इस तरह पर पदार्थोंकी व्यवस्था कर ईश्वर बननेका दावा करता है, कोई

अपनेको अकिञ्चित्कर मानकर अन्यको इसका कर्ता बनाता है, कोई कहता है यह सब भ्रम है, भ्रमसे ही यह अवस्था बन रही है। भ्रमके अभावमें संसारका अभाव है अतः इन जालोसे बचनेके लिये अपनेको जानना परमावश्यक है। आत्मा द्रव्य चैतन्य गुणका आश्रय है यद्यपि आत्मा अनन्त गुणोंका पिण्ड है किन्तु उन गुणोंमें चैतन्य गुण ऐसा है जो सबकी व्यवस्था करता है। इसीलिये कहा है—

"नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्।
अयमेव हि मे बन्धो या स्याज्जीविते स्पृहा॥"

मै न तो देह हूं, और न मेरा देह है, जीव भी नहीं हूं, किन्तु चैतन्य हूँ। मेरी जो जीवमें स्पृहा है वही बन्धका कारण है। परमार्थ दृष्टिसे सभी द्रव्य अपने अपने स्वरूपमे लीन है। इनमे जीव द्रव्य तो चैतन्य स्वरूपवाला है, पुद्गल चेतना गुणसे शून्य है किन्तु उन दोनोंका अनादिकालसे सम्बन्ध हो रहा है, इससे दोनो अपने अपने स्वरूपसे च्युत होकर अन्य अवस्थाको धारण कर विकृत हो जाते है। संसारमे जो विकृत परिणाम होते हैं वह परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धसे होते हैं। यह परिणमन अनादिकालसे धारावाही रूपमे चला आ रहा है और जब तक इसकी सत्ता रहेगी आत्मा दुःखी रहेगा। जिन जीवोंको भेदज्ञान हो जाता है वे इन पर पदार्थोंको अपनाना छोड़ देते हैं। अर्थात् परमे निजत्व कल्पना नहीं होती। यही कल्पना संसारकी मूल जननी है। जिन्होंने इसका ध्वंश कर दिया वही जगतके प्रपञ्चोसे छूट जाते हैं। तत्त्व चर्चाको तो सभी शूर हैं परन्तु निजमे रहनेवाले विरले ही है। महती कथा करनेको भी सभी वक्ता हैं परन्तु यदि कोई प्रकृति विरुद्ध बोले तब उसको निज शत्रु समझते हैं। शत्रु

पर नहीं, आत्माका विभाव परिणाम ही शत्रु है। विभाव परिणामका जनक उपादानसे आत्मा और निमित्तसे आत्मातिरिक्त पर द्रव्य है, वह तो जबरन रागादि नहीं करता। यदि यह रागादि विभाव रूप परिणमे तब अन्य द्रव्य निमित्त होता है। हाँ, यह नियम है कि जब अध्यवसान भावकी उत्पत्ति होगी तब उसमें कोई न कोई पर द्रव्य विषय होगा। सर्वथा न मानना कुछ बुद्धिमें नहीं आता। यदि पर द्रव्य निमित्त न हो और यह रागादि भाव आत्माके पारिणामिक भाव हो जावें तब जैसे पारिणामिक भाव अबाधित त्रिकाल सत्तावाला है ऐसे यह भी हो जावें। यदि शुभोपयोगमें परमेष्ठीको निमित्त न मानो तब अन्य जो कलत्र आदि पदार्थ भी ज्ञानमें आ जावें उन्हें त्यागकर वनमें जानेकी आवश्यकता नहीं अतः यही कहना पड़ेगा कि शुभोपयोगमें निमित्त होनेसे स्वर्गका कारण और अशुभोपयोगमें स्त्री आदि नरकका कारण हैं। परमार्थसे न तो अर्हत् स्वर्गके कारण हैं और न कलत्रादि नरकके कारण हैं। अपने शुभ अशुभ कषाय स्वर्ग नरकादिके कारण हैं। अतः सर्वथा एकान्त मत पकड़ो। पदार्थका स्वरूप ही अनेकान्तमय है। अकलङ्क स्वामीने परमात्माकी जहाँ भक्ति की है वहाँ लिखा है कि प्रमेयत्वादि धर्मोंके द्वारा आत्मा अचेतन है और चैतन्य धर्मके द्वारा चिदात्मा है। इस तरहसे परमात्मा चिदात्मा भी है, और अचिदात्मा भी है। परमार्थसे देखा जावे तब वस्तु अनिर्वचनीय है। अन्यकी कथा छोड़ो जब हम घटका निरूपण करते हैं उस समय रूपादिका जो बोध होता है, उस बोधमें जो विषय आता है वही घट है। अब यहाँ पर पूछनेवाला हमसे यह प्रश्न कर सकता है कि जब यह सिद्धान्त है कि एक द्रव्यमें पर द्रव्यका अणुमात्र भी नहीं आया तब ज्ञानने घटका क्या निरूपण किया? ज्ञानमें जो विकल्प आया वही तो कहा। परन्तु वह विकल्प घटके

निमित्तसे हुआ इससे कहते है यह घट है, वास्तवमे घट क्या है। मृत्तिकाकी पर्याय विशेष है, यह भी कहना व्यवहार है। परमार्थसे न तो कोई पदार्थ कही जाता है और न आता है, सभी पदार्थ निज निज चतुष्टयमे परिणमन कर रहे है। यह जो व्यवहार है सो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धसे बन रहा है। देखो कुम्भकार जब मिट्टी लाता है तब जहाँ मृत्तिका थी कुम्भकारके द्वारा कुदालसे खोदी जाती है। कुम्भकारका व्यापार कुम्भकारमे होता है, उसके हाथके निमित्तको पाकर कुदालमे व्यापार होता है, कुदालके व्यापारसे मिट्टी अपने स्थानसे च्युत होती है, उसे कुम्भकार अपने गर्दभ द्वारा अपने गृहमे लाता है। पश्चात् उसमे पानी डाला जाता है, हाथोके द्वारा उसे आर्द्र बनाता है पश्चात् मृत्तिका पिण्डको चाक पर रखकर दण्ड द्वारा व्यापार होनेसे चक्र भ्रमण करता है, पश्चात् घट बनता है। वास्तवमे जितने व्यापार यहाँपर हुए सब पृथक् पृथक् हुए परन्तु एक दूसरेमें निमित्त हुआ। इस तरह यह प्रक्रिया अनादिसे चली आ रही है। जिस कालमे आत्माका मोह चला जाता है उस समय यह ज्ञानावरणादि कर्म आत्मासे सम्बन्धित नही होते। इन कर्मोके सम्बन्ध न होनेसे आत्मा गत्यादि भ्रमण नही करता तब अनायास ही शरीरादिके अभावमे आत्माका जो स्वरूप है उसमें रह जाता है। अब उसे जो आपके ज्ञानमे आवे कहिये। कोई कहता है वह अनन्तज्ञानी है—'सर्व द्रव्यपर्यायेषु केवलस्य' अर्थात् केवलज्ञानका विषय सर्व द्रव्य पर्याय हैं। कोई कहता है अनन्त सुखवाला है, अनन्त शक्तिवाला है, कोई यही कह देता है कि उसकी महिमा अचिन्त्य है। नाना विकल्पोसे उसका निरूपण करनेकी सर्वज्ञकी पद्धति है। वस्तुतः विचार किया जावे तब उसके भावेन्द्रियके अभाव होनेसे न तो उनके ज्ञानमे जैसे हमारे इन्द्रिय जन्य ज्ञान द्वारा पदार्थोका विकल्प

होता है—वह विकल्प उसके ज्ञानमें नहीं होता। हमारा तो यह विश्वास है कि हमारे मतिज्ञानमें जो पदार्थ आता है तथा रूपादि का विकल्प भी होता है परन्तु जिनके इन्द्रिय ही नहीं उनके पदार्थ तो आवेगा, कल्पना रूपादिको की न होगी। तथा हमारे ज्ञानमें रूपादिक आते हैं कुछ हानि नहीं परन्तु हमारे मोहादिक कर्मका सद्भाव होनेसे उन पदार्थोंमें इष्टानिष्ट कल्पना होती है यही कारण है कि हम इष्टसे राग और अनिष्टसे द्वेष कर इष्टका सद्भाव और अनिष्टका अभाव चाहते हैं। इस विवेचनसे सर्वज्ञमें जो ज्ञान है इससे उन्हें शान्ति है सो नहीं अपितु उनके इष्टानिष्ट करनेवाला मोह चला गया यही उनके महत्त्वका कारण है। ज्ञानसे न तो सुख ही होता है और न दुःख ही होता है, ज्ञान तो केवल जाननेमें सहायक होता है। व्यवहारमें हमारा उपकारी श्रुतज्ञान है। इसीके द्वारा हम केवलज्ञानका निर्णय करते हैं। यदि श्रुतज्ञान न होता तब मोक्षमार्गका निरूपण होना असम्भव हो जाता। संसारमें जितनी प्रक्रियाएँ धर्म और अधर्मकी दृष्टिगोचर हो रही हैं वह श्रुतज्ञान ही का माहात्म्य है। भगवानकी दिव्यध्वनिको दर्शानेवाला श्रुतज्ञान ही तो है। आज संसारसे श्रुतज्ञान उठ जावे तो मोक्ष मार्गका लोप ही हो जावे। जब पञ्चम कालका अभाव होकर छट्ठम काल आवेगा उस कालमें श्रुतज्ञान ही का लोप हो जावेगा, सभी व्यवहार लुप्त हो जावेंगे, मनुष्योंके व्यवहार पशुवत् हो जावेंगे। अतः जिन्हें इन पदार्थोंकी प्रतीति करना है उन्हें श्रुतज्ञानका अच्छा अध्ययन करना चाहिये। जितने मत संसारमें प्रचलित हैं श्रुतज्ञान के बलसे ही चल रहे हैं। कुन्दकुन्द स्वामीने तो यहाँ तक लिखा है कि—

"आगमचक्खू साहू इंदियचंक्खूसि सव्वभूदाणि।
देवादि ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू॥"

अर्थात् आगमचक्षु साधु लोग होते हैं और संसारी मनुष्य इन्द्रियचक्षु होते है तथा देवलोग अवधिचक्षु होते हैं, सिद्ध भगवान् सर्वचक्षु होते हैं। अर्थात् वह सभी पदार्थोंको इन्द्रियके बिना ही देखते हैं परन्तु विचार कर देखो तव यह बात आगम ही तो कहता है। इसीसे देवागममे समन्तभद्र स्वामीने लिखा है कि—

"स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥"

शुक्लध्यानके वास्ते श्रुतज्ञानकी आवश्यकता है, मति, अवधि मनःपर्ययकी नहीं। कहनेका तात्पर्य यह है कि जिन्हे आत्मकल्याण करनेकी लालसा है वे सभी विकल्पोको त्यागकर अहर्निश आगमाभ्यास करें और उससे अनादि कालकी जो पर पदार्थोंमे आत्मीय वासना है उसका त्याग करें। केवलज्ञानके अर्जनसे कोई लाभ नहीं। जिस ज्ञानार्जनसे आत्मलाभ न हो उस ज्ञानकी परिग्रहमे गणना की जावे तब कोई क्षति नहीं। वाह्य परिग्रहका त्याग इसीलिये कराया जाता है कि वह मूर्च्छामे कारण होता है। इसी प्रकार यह ज्ञानका अर्जन है उससे भी तो यह अभिमान होता है कि 'हम वहुज्ञानी हैं, हमारे सदृश कोई नही'। यह वेचारे पदार्थके मर्मको क्या समझें? हम चाहे तव अच्छे अच्छे विद्वानों को परास्त कर सकते है।' इन कल्पनाओंका कारण वह ज्ञान ही तो हुआ यदि उसे परिग्रह कह दिया जावे तव कौन-सी क्षति है। ज्ञानकी कथा त्यागो, तप इत्यादि जो अहङ्कारसे किये जावें— 'लोकमे हमारी प्रतिष्ठा हो, मै महान् तपस्वी हूँ, मेरे समक्ष ये बेचारे क्या तप कर सकते हैं?' इत्यादि दुर्भावोके उदयमे यह तप हुआ तव इसे परिग्रहका कारण होनेसे यदि परिग्रह कह दिया जावे तव कौन सी क्षति है? यही कारण है कि समन्तभद्र स्वामीने इन सवको मदोमे गिनाया है—

"ज्ञानं पूजां कुलं जातिं, बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः॥"

तात्पर्य यह कि यह सब भाव कषायोत्पादक होनेसे यदि इन्हे परिग्रहमे गिना जावे तब कोई क्षति नहीं। धनादिक तो विचारसे देखो बाह्य पदार्थ हैं ही। वे उतने बाधक नही जितने ये हैं। उनके द्वारा आत्मा ठगाया नहीं जाता; जितना इन तप ज्ञान आदिकसे जगत ठगाया जाता है। धर्म कार्य जितनी जगतकी वञ्चना करते है उतनी चोर आदि नही करते। चोर तो केवल बाह्य धनका ही हरण करते हैं यदि उन्हें निर्व्याज धन दे दो तो अन्य हानि नहीं करते। ये लोग धन ही का तो हरण करते हैं किन्तु ये द्रव्य तपस्वी आपकी धर्म सम्पत्तिका अपहरण कर अनन्त संसारका पात्र बना देते हैं। अतः आवश्यकता श्रुतज्ञानकी है जिससे पदार्थ तत्त्वका निर्णय हो जावे और हम किसीके द्वारा ठगाये न जावें। आज सहस्रो मत संसारमे चल रहे हैं इन सबका मूल कारण हमने श्रुतज्ञानका सम्यक् अध्ययन नहीं किया यही है। अतः जिन जीवोको इन उलझनोंसे अपनी रक्षा करना है उन्हे भेदज्ञान पूर्वक अपनी ज्ञान परिणतिको निर्मल करना चाहिये। आज संसारका जो पतन हो रहा है उसका मूल कारण यथार्थ पदार्थोंके कहनेवाले पुरुषोका अभाव है। यहाँ तक शास्त्रोका दुरुपयोग किया कि बकरोकी बलि करके भी स्वर्गका मार्ग खोल दिया, किसीने खुदाके नाम पर दुम्बाओकी कुर्बानी कर स्वर्गका मार्ग खोल दिया। वास्तवमे कुर्बानी तो राग-द्वेष मोहकी करनी चाहिये यही आत्माके शत्रु हैं। इस ओर लक्ष्य देना चाहिये परन्तु इस ओर लक्ष्य नही। केवल पञ्चेन्द्रियोंके विषयमे अनादि कालसे संलग्न हैं, इनके होनेमे हम अपने प्राणो तकको विसर्जन कर देते हैं। जैसे स्पर्शन इन्द्रिय

के वशीभूत होकर हाथी अपनेको गर्तमे गिरा देता है, रसनेन्द्रियके वशीभूत होकर मत्स्य अपने कण्ठको छिदा देता है, घ्राण इन्द्रियके वशीभूत होकर भ्रमर अपने प्राण गमा देता है चक्षु इन्द्रियके वशीभूत होकर पतङ्ग निज प्राणोका प्रलय कर देता है, श्रोत्र इन्द्रिय के वशीभूत होकर मृगगण वहेलियाके पल्ले पड़ जाते है। यह तो कुछ भी नही इन विषयोके वशीभूत होकर प्राणोका ही घात होता है परन्तु कपायोके वशीभूत होकर वड़े वड़े महापुरुप संसारके चक्रमे पड़ जाते हैं। आत्माके अहित विपय कपाय है इनमे विपय तो उपचारसे अहित करता है, कपाय ही मुख्यतया अहित करने वाला है अतः जिन्हे आत्महित करना है उन्हे अपनेको स्वतन्त्र वनानेका प्रयत्न करना चाहिये। स्वतन्त्रता ही मूल सुखकी जननी है। सुख कहीं अन्यत्रसे नही आता, सुख आत्माका स्वभाव है, उसका वाधक कारण पर है। पर क्या? हम ही तो हैं। हमने अपने स्वरूपको नही समझा। हम ज्ञान-दर्शनके पिण्ड हैं। ज्ञानका काम अपने और परको जानना है। ज्ञानकी स्वच्छतामे पदार्थ प्रतिभासित होता है उसे हम अपना मान लेते हैं। ज्ञानके विकल्प को अपना मानना यहाँ तक तो कुछ हानि नहीं जो पदार्थ उसमें झलकता है किन्तु उसे अपना मानना सर्वथा अनुचित है। हमारी तो यह श्रद्धा है कि ज्ञानमे ज्ञेय आया यह भी नैमित्तिक है अतः उसे भी निज मानना न्याय सङ्गत नही। रागादिक भावोका उत्पाद आत्मामें होता है। वह राग प्रकृतिके उदयसे होता है, उसे आत्मा का न मानना सर्वथा अनुचित है। यदि वह भाव आत्माका न माना जावे तव आत्मा केवल ज्ञान स्वरूप ही हुआ फिर यह जो संसार है इसका सर्वथा अभाव हो जावेगा; क्योकि रागादिकके अभावमे कार्मण-वर्गणाओमे जो मोहादि रूप परिणमन होता है वह न होगा। ज्ञानावरणादि कर्मोके अभावमे जो आत्माके गुण है

वह सदा विकाश रूप ही रहेंगे। तव संसारमें जो तरतमता देखी जाती है उस सबका विलोप हो जावेगा, संसार ही न होगा। संसारके अभावमे मोक्षका अभाव हो जावेगा क्योंकि मोक्ष वन्ध पूर्वक होता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि आत्मा द्रव्य स्वतन्त्र है और परिणमनमे भी स्वतन्त्र है। किन्तु यह निर्विवाद सिद्धान्त है कि जो रागादि कार्य होते हैं केवल एक द्रव्यसे नहीं होते, उनके होनेमे दो द्रव्य ही कारण हैं। उनमें जहाँ रागादिक होते हैं वह उपादान और जिसके सहकारितासे होते हैं उसे निमित्त कारण कहते हैं। वहुतसे मनुष्य यह कहते हैं कि रागादि रूप परिणमन तो जीवमे हुआ, इसमे पुद्गलका कौन-सा अंश आया? जैसे कुम्भकारके निमित्तसे मृत्तिकामे घट उत्पन्न हुआ उसमे कुम्भकार-का कौन-सा अंश आया? कौन कहता है कुम्भकारादिका अंश घटमे आया? नहीं आया, परन्तु इतना वड़ा घट क्या कुम्भकारकी उपस्थितिके विना ही होगा? नहीं हुआ तव यह मानो कुम्भकार ही घट पर्यायके उत्पादमे सहकारी होनेसे निमित्त हुआ। यह व्यवस्था कार्यमात्रमे जान लेनी। संसार रूप कार्य इन्हीं कारणोंके ऊपर निर्भर है। जहाँ पर जीव और पुद्गलका निमित्तनैमित्तिक सम्वन्ध नहीं रहता संसार नहीं रहता। संसार कोई भिन्न पदार्थ नहीं। जहाँ जीव और पुद्गल इन दोनोका अन्योन्य निमित्त नैमित्तिक सम्वन्धसे जीव रागादि रूप तथा पुद्गल ज्ञाना-वरणादि रूप परिणमता है इसीका नाम संसार है। केवल जीव और केवल पुद्गल इसका नाम संसार नहीं। केवल जीवके स्वरूप पर परामर्श किया जावे तव यह 'अस्ति' आदि तत्त्व नहीं वनते, यह सवकी अपेक्षा रखते हैं। इन दोनोके सम्वन्धसे यह सप्त तत्त्व वनते हैं। जव जीव रागादि भावोंसे रहित हो जाता है तव पुद्गल मे ज्ञानावरणादि नहीं होते। वद्ध ज्ञानावरणादि कर्म अन्तर्मुहूर्तमे

क्षय हो जाते है। उस समयमे आत्मा केवलज्ञानादि गुणोंका आश्रय होकर सर्वज्ञ पदसे व्यपदेश होने लगता है। पश्चात् पूर्व बद्ध जो अघातिया कर्म है वे या तो स्वयमेव खिर जाते हैं या आयुसे अधिक स्थितिवाले हुए तब समुद्घात विधानसे आयु समान स्थिति होकर स्वयमेव खिर जाते हैं और आत्मा केवल शुद्ध पर्यायका पात्र हो जाता है। यद्यपि यह पर्याय केवल आत्मा मे होती है परन्तु अनादिसे लगा हुआ जो मोह है वह इसे व्यक्त नहीं होने देता।

जैन धर्ममे दो प्रकारके पदार्थ माने जाते हैं एक चेतन और दूसरा अचेतन। चेतन किसको कहते हैं? जिसमे चेतना पाई जावे। उसका स्वरूप आगममे इस प्रकार कहा है—

"चेतनालक्षणो जीवोऽजीवस्तद्विपर्ययः।"

चेतना नामकी एक शक्ति है, जिसका काम पदार्थोंको जानना है। चेतना ही ऐसी शक्ति है जो स्व-परको संवेदन करती है। परमार्थसे तो ज्ञान स्वपर्याय ही को वेदन करता है। ज्ञानकी निर्मलतामे पदार्थके निमित्तको पाकर पदार्थका जो आकार है, उस रूप आकार ज्ञानमें आता है, न कि वह वस्तु ज्ञानमें आती हो। ज्ञानमें तो ज्ञानकी ही पर्याय आती है। मोही जीव जो ज्ञानमे आता है उसे ही निज मान लेता है। ज्ञानमे जो आया वह ज्ञानका परिणमन है, इसमें तो कोई विवाद नहीं किन्तु ज्ञानके परिणमनसे भिन्न जो वस्तु है उसे निज मानना मिथ्या है। ज्ञानमे जैसे वाह्य पदार्थ आते है वैसे सुखादिक गुण भी आते हैं किन्तु वे अभ्यन्तर है। वे भी ज्ञान गुणको तरह आत्माके है परन्तु स्वरूप सभीके पृथक् पृथक् है। अपने अपने स्वरूपको लिये आत्म-तत्त्वके साधक हैं। अर्थात् इन सब गुणोंका जो अविष्वग्भाव

सम्बन्ध है इसीका नाम द्रव्य है। द्रव्य अनन्त गुणोका पिण्ड है। इसीसे आत्मा ज्ञान भी है, दर्शन भी है, सुख भी है, वीर्य भी है। ज्ञान दर्शन भिन्न हैं, यह दोनों ही भिन्न भिन्न स्वरूप हैं। इसी तरह सभी गुण पृथक् पृथक् जानने। यथा पुद्गलमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण गुण भिन्न हैं। इस भिन्नताका द्योतक भिन्न इन्द्रियों द्वारा इनका ज्ञान होता है। भिन्न होने पर भी इनका अस्तित्व पृथक् नहीं हो सकता, इससे कथञ्चित् एक क्षेत्रावगाही होनेसे एक हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसे आत्मा अखण्ड एक द्रव्य है वैसे पुद्गल भी अखण्ड एक द्रव्य है। जैसे अनन्त गुणोंका पिण्ड आत्मा है वैसे ही अनन्त गुणोका पिण्ड पुद्गल है। जैसे आत्मामें अनन्त शक्ति है वैसे पुद्गलमें भी अनन्त शक्ति है। जैसे आत्मामें अनन्त पदार्थोंके जाननेकी सामर्थ्य है वैसे पुद्गलमे भी अनन्त ज्ञानको प्रगट न होने देनेकी शक्ति है। अन्तर केवल इतना ही है कि आत्मा चेतन है, पुद्गल अचेतन है। केवल द्रव्यका विचार किया जावे तो न तो बन्ध है और न मोक्ष ही है। और न ये शब्द, बन्ध, इत्यादि जो पर्याय पुद्गल द्रव्यमें देखे जाते हैं नहीं हैं। पुद्गल और जीवके सम्बन्धसे ही यह संसार देखा जाता है। इस विकृतावस्था ही का नाम संसार है। संसारमें जीवकी नाना प्रकारकी नाना अवस्थाएँ होती हैं। इन्हींसे जीवमे नाना प्रकारके दुःखोंका व अनेक प्रकारके वैषयिक सुखोंका अनुभव होता है। परमार्थसे कभी भी इस जीवको एक क्षणमात्र भी सुख नहीं। यद्यपि सर्व द्रव्य स्वयंसिद्ध हैं किन्तु अनादिसे जीव और पुद्गलका अनादि सम्बन्ध चला आ रहा है इससे जीवकी जो स्वाभाविक अवस्था है उससे च्युत है तथा पुद्गल भी अपने स्वाभाविक परिणमनसे च्युत हो रहा है। यद्यपि जीव द्रव्यका एक अंश न तो पुद्गल द्रव्य रूप हुआ है और न पुद्गलका एक

परमाणु भी जीव रूप हुआ है फिर भी दोनों अपने अपने स्वरूपसे च्युत हो रहे हैं। जैसे ।) सुवर्णको और ।) भर चाँदीको गलाकर ।।) भर एक पिण्ड हो गया एतावता ।) भर सोनामे एक खशखश भी न्यूनता न आई और न एक खशखश वृद्धिता हुई। यही अवस्था चाँदीकी हुई फिर भी पिण्डको न शुद्ध सोना कहते हैं और न शुद्ध चाँदी ही कह सकते हैं। दोनो अपने अपने स्वरूपसे च्युत हैं। यही अवस्था जीव और पुद्गलकी है। यद्यपि बन्धावस्थामे जीव द्रव्यका एक अंश न तो पुद्गल द्रव्यरूप हुआ है और न पुद्गलका एक अंश जीवरूप हुआ है फिर भी दोनों अपने अपने स्वरूपसे च्युत हैं। इस अवस्थामे जीवकी क्या क्या दुर्दशा हो रही है सो किसीसे गुप्त नहीं। यह सम्बन्ध अनादिका है। जैसे बीज वृक्षका सम्बन्ध अनादिसे चला आ रहा है। यदि कोई बीजको दग्ध कर देवे तब वृक्ष नहीं हो सकता और वृक्षके अभावमें बीजोत्पत्ति नहीं हो सकती। इस तरह जीव और पुद्गलके सम्बन्धसे जो संसार सन्तति धारावाही रूपसे आ रही है इसका मूल कारण मोहादि परिणाम है। यदि आत्मा रागादि परिणाम त्याग देवे तो अनायास ही नवीन बन्ध न हो। जो बद्धकर्म है वे उदयमें आकर स्वयमेव खिर जावेंगे। अनायास ही आत्मा इस बन्धनसे मुक्त हो सकता है। यह सब है परन्तु न जाने यह जीव क्यों इस चक्रसे मुक्त नहीं होता। अनादि कालसे मोहके चक्रमे परिवर्तन कर रहा है। प्रतिदिन वही कथा करता है, परको निज माननेमे जो जो उपद्रव होते हैं वे किसीसे गुप्त नहीं। केवल जानता ही नहीं किन्तु तज्जन्य दुःखका वेदन भी करता है। इसके अधीन होकर क्या क्या नही करता सो किसीको अविदित नहीं।

एक सेठ सा० थे, उनका दूसरा विवाह हुआ था, सेठ क्रूर प्रकृतिके थे। एक दिन सेठ सा० का शिर दर्द करने लगा। उन्होने दासी

को आज्ञा दी कि सेठानीसे कहो चन्दन घिसकर लावे और मस्तक मे लगावे। दासीने आकर सेठानीसे कहा कि सेठ सा० के शिरमें वेदना हो रही है, शीघ्रतासे चन्दन रगड़ो और सेठके मस्तकको मालिश करो, अन्यथा लातोकी मार खानी पड़ेगी।

सेठानीने उत्तर दिया—मुझे ज्वर आ गया है, सेठ सा० से कह दो।

जैसे ही सेठ सा० ने सुना, शिर वेदनाकी चिन्ता त्याग सेठानी के पास आकर पूछने लगे—क्या हुआ ?

सेठानीने उत्तर दिया—आपकी शिर वेदना सुनकर मुझे तो ज्वर आ गया।

सेठजी ने कहा—इसके दूर करनेका उपाय क्या है ?

सेठानी ने कहा—उपाय है परन्तु यहाँ होना असम्भव है।

सेठजी ने पूछा—उपाय कौन-सा है ?

सेठानी ने कहा—मेरे घर पिताजी चन्दनके तेलको मेरे तलवेमें मर्दन करते थे या मेरा भाई पैरको मलता था। आपसे क्या कहूँ ? उपाय सुनकर सेठजी चन्दनका तेल लेकर सेठानीके पैरका मर्दन करने लगे। सेठानीने बहुत मना किया पर उन्होंने एक न मानी और तलुओंको मलकर अपनेको कृतकृत्य माना। कहने का तात्पर्य यह है कि स्नेहके वशीभूत होकर जो जो कार्य न हों वे अल्प है। अन्य सामान्य मनुष्योंकी कथा त्यागो, तीन खण्ड के अधिपति महाविवेकी, धर्मके परम अनुरागी लक्ष्मणने श्री रामचन्द्रजी के स्नेहमें आकर प्राणोका उत्सर्ग ही तो कर दिया तथा श्री रामचन्द्रजी महाराज जो तद्भवमोक्षगामी थे स्नेहके वशीभूत होकर छह मास पर्यन्त लक्ष्मणके शरीरको लिये फिरे और अन्तमें स्नेहको त्यागकर ही सुखके पात्र हुए। श्री सीताजी का जीव सोलह स्वर्गका प्रतीन्द्र था। जब श्री रामचन्द्रजी ने गृहस्था-

वस्थाको त्याग दिगम्बर पद धारण किया उस समय सीताके जीव प्रतीन्द्रने यह विचार किया कि वे एक वार देवलोकमें आवें पश्चात् यहाँसे च्युत होकर हम दोनों मनुष्य जन्म धारण कर संयम धारण करें और कर्म बन्धन काट मोक्षके पात्र होवें, ऐसा विकल्प कर जो उपद्रव किया सो पद्मपुराणसे सभीको विदित है। सबको विदित होने पर भी इस मोह पर विजयी होना अति कठिन है।

अन्यकी कथा कहाँतक लिखें? हमारी ८० वर्षकी आयु हो गई और ५० वर्षसे निरन्तर इसी प्रयत्नमें तत्पर हैं कि मोह शत्रुको परास्त करें परन्तु जितने वार प्रयास किया बराबर अनुत्तीर्ण होते रहे। वालकपनमें तो माता पिताके स्नेहमें [illegible] जाते थे, मेरी दादी मुझपर वहुत स्नेह करती थीं। प्रातःकाल ताजी रोटी और ताजा घी खिलाती थीं और मेरा पालन पोषण करती थी। उस समय हम कुछ जानते ही न थे। मोह दुखदायी पदार्थ है प्रत्युत इसीको सुख मानते थे और इसी प्रमोदमें निरन्तर अपनेको धन्य समझते थे। हमारे एक मित्र श्री हरीसिह सौरया थे जो वहुत ही कुशाग्रबुद्धि थे। उनसे हमारा हार्दिक स्नेह था, इतना स्नेह कि एक दूसरेके विना हम लोग एक मिनट भी नहीं रह सकते थे। इसी तरह रात्रि दिन काल व्यतीत करते थे। परलोकका कोई विचार न था। जव कुछ पण्डितोका समागम हुआ तव कुछ व्यवहार धर्ममें प्रवृत्ति हुई। भगवानकी पूजा और पद्मपुराणका श्रवण कर अपनेको धन्य समझने लगे। इसी पूजा आदि कार्योंमें धर्म मानने लगे और अपनेको धर्मात्मा समझने लगे। कुछ दिन वाद व्रत करने लगे, रात्रिभोजन त्याग दिया, कभी रस परित्याग करने लगे।

इतनेमें पिताजीने विवाह कर दिया। थोड़े ही दिनोंमें माँने मेरी पत्नीको ऐसे रंगमें रंग दिया कि वह हमसे कहने लगी कि

अपनी परम्परामें अपने धर्मका परित्याग कर तुमने जो धर्म अङ्गीकार किया उसमें बुद्धिमत्ता नहीं की। हमने भी उसमे बिना विचारे कह दिया कि यदि तुम्हारा आत्मा हमारे धर्मसे विमुख है तब हमारा तुम्हारा व्यवहार अच्छा नहीं। उसने भी आवेगमें आकर कहा मै भी तुमसे सम्बन्ध नही चाहती। अस्तु, हम और हमारी पत्नी मे ३६ का सा (परस्पर विरुद्ध) सम्बन्ध हो गया। फिर हम टीकमगढ़ प्रान्तमे चले गये और वहाँ एक पाठशालामें अध्यापकी करने लगे। दैवयोगसे वहींपर श्री चिरौंजीबाईजीके सिमरा गये। धर्म मूर्त्ति बाईजीने बहुत सान्त्वना दी तथा एक अपढ़ क्षुल्लकके चक्रसे रक्षा की। पढ़नेकी सम्मति दी किन्तु कहा शीघ्रता मत करो, मै सब प्रबन्ध कर भेज दूँगी परन्तु मैंने शीघ्रता की, फल अच्छा न हुआ। अन्तमे अच्छा ही हुआ। अच्छे अच्छे महापुरुषों और पण्डितोका समागम हुआ, तत्त्वज्ञानके व्याख्यान सुने, व्यवहार धर्ममें प्रवृत्ति हुई, तीर्थयात्रा आदि सब कार्य किये परन्तु शान्तिका आस्वाद न आया। मनमें यह आया कि सबसे उत्तम काम विद्या प्रचार करना, जो जातिसे च्युत हो गये हैं उन्हे पञ्चायत द्वारा जातिमे मिलाना, जो दस्से हैं उन्हे मन्दिरोंके दर्शन करनेमे जो प्रतिबन्ध हैं उन्हे हटाना तथा बाईजी द्वारा जो मिले उसे परोपकारमे दे देना आदि। सब किया भी परन्तु शान्तिका अंश भी नहीं आया। इन्हीं दिनोमे बाबा भागीरथजीका समागम हुआ, आपके निर्मल त्यागका आत्माके ऊपर बहुत ही प्रभाव पड़ा। मैं भी देखा देखी निरन्तर कुछ करने लगा परन्तु कुछ सफलता नहीं मिली।

अन्तमें यही उपाय सूझा जो सप्तम प्रतिमाके व्रत अङ्गीकार किये। यद्यपि उपवासादिककी शक्ति न थी फिर भी यद्वा तद्वा निर्वाह किया। बाईजीने बहुत विरोध किया—'बेटा! तुम्हारी शक्ति नहीं परन्तु एक न मानी, फल जो होना था नहीं हुआ। लोग न

जाने क्यो मानते रहे ? काल पाकर बाईजीका स्वर्गवास हो गया। तब मै श्री मोतीलालजी वर्णी और कमलापति सेठजीके समागममें रहने लगा। रेलकी सवारी त्याग दी। मोटरकी सवारी पहिले ही त्याग दी थी। अन्तमे यह विचार हुआ कि श्री गिरिराजकी यात्रा करना चाहिये। भाग्यसे बाबू गोविन्दरायजी गयावाले आ गये। बरुआसागरसे चार आदमियोंके साथ चल दिये। दो मील चलनेके बाद थक गये, चित्त बहुत उदास हुआ इतनेमे एक नौकर था वह बोला—

'सागर दूर सिमरिया नियरी।'

इसका अर्थ यह है कि सागरसे अभी आप दो मील आये हैं, वह तो दूर है, सिमरिया यद्यपि ७०० मील है परन्तु उसके सम्मुख हो अतः वह समीप है। कहनेका तात्पर्य यह कि गिरिराज समीप है। बरुआसागर दूर है। इस वाक्यको श्रवण किया और उस दिन १० मील मार्ग तय किया। कुछ माह बाद शिखरजीकी वन्दना की, वहाँपर कई वर्ष बिताए परन्तु जिसे शान्ति कहते हैं, नहीं पाई। प्रायः विहार में भ्रमण भी किया। श्री वीरप्रभुके निर्वाण क्षेत्रमें श्रीराजगृही ४ माह रहे, स्वाध्याय किया, वन्दनाएँ कीं, शक्तिके अनुकूल परस्पर तत्त्वचर्चा भी की परन्तु जिसको शान्ति कहते हैं अणुमात्र भी उसका स्वाद न आया। वहाँसे चलकर बनारस आये, अच्छे अच्छे विद्वानोंका समागम हुआ परन्तु शान्तिका लेश भी न आया। बनारस त्यागने पर दशमी प्रतिमाका व्रत लिया परन्तु परिणामोंकी जो दशा पहिले थी वही रही—शान्तिका आस्वाद न आया। कुछ दिनो बाद मनमे आया कि क्षुल्लक हो जाओ, नटकी तरह इन उत्तम स्वांगोंकी नकल की—अर्थात् क्षुल्लक बन गये। इस पदको धारण किये ५ वर्ष हो गये परन्तु जिस शान्तिके हेतु यह

उपाय था उसका लेश भी न आया। तब यही ध्यानमें आया अभी तुम उसके पात्र नहीं। किन्तु इतना होनेपर भी व्रतोंके त्यागनेका भाव नहीं होता। इसका कारण केवल लोकेषणा है अर्थात् जो व्रतका त्याग कर देवेंगे तो लोकमें अपवाद होगा, अतः कष्ट हो तो भले ही हो परन्तु अनिच्छा होते हुए भी व्रतको पालना। जब अन्तरङ्गमें कषाय है, बाह्यमें आचरण भी व्रतके अनुकूल नहीं तब यह आचरण केवल दम्भ है।

श्री कुन्दकुन्द स्वामीका कहना है कि यदि अन्तरङ्ग तप नहीं तब बाह्य वेष केवल दुःखके लिये है। पर यहाँ तो बाह्य भी नहीं, अन्तरङ्ग भी नहीं, तब यह वेष केवल दुर्गतिका कारण है तथा अनन्त संसारका निवारक जो सम्यग्दर्शन है उसका भी घातक है। अन्तरङ्गमें तो यह विचार आता है कि इस मिथ्या वेषको त्यागो, लौकिक प्रतिष्ठामें कोई तत्त्व नहीं परन्तु यह सब कहनेमात्रको है। अन्तरङ्गमे भय है कि लोग क्या कहेंगे? यह विचार नहीं कि अशुभ कर्मका बन्ध होगा, उसका भोक्ता तो एकाकी तुम ही को भोगना पड़ेगा। यह भी कल्पना है। परमार्थसे परामर्श किया जावे तब आगे क्या होगा? सो तो ज्ञानगम्य नहीं किन्तु इस वेषसे वर्तमानमें भी कुछ शान्ति नहीं, जहाँ शान्ति नहीं वहाँ सुख काहेका? केवल लोगोंकी दृष्टिमें मान्यता बनी रहे इतना ही लाभ है।

मेरा यह विश्वास है कि अधिकांश जनता भयसे ही सदाचारका पालन करती है। जहाँ लोगोंकी परवा नहीं वहाँ पापाचरणसे भी भय नहीं देखा गया। जहाँ लोकभय गया वहाँ परलोककी कौन गणना अतः जिन्हें आत्मकल्याण करना हो वे मनुष्य तत्त्वाभ्यास करें और यह देखें कि हम कौन हैं? हमारा स्वरूप क्या है? हमारा कर्तव्य क्या है? पुण्य पापादिका क्या स्वरूप है? पुण्य पापादि परमार्थसे हैं या केवल कल्पना है? जो वर्तमानमें विषय सुख

होता है क्या उसके अतिरिक्त कोई सुख है या कल्पनामात्र है ? आज जगतमे मतोंका प्रचार हो रहा है। उनमे तथ्यांश है या कुछ नही ? इत्यादि विचारकर निर्णय कर अपनी प्रवृत्तिको निर्मल करनेकी चेष्टा करना उचित है, केवल गल्पवादमे ही काल पूर्ण न कर देना चाहिये। अनादिकी कथाको छोड़ो, वर्तमान पर्यायपर विचार करो। जबसे पैदा हुए ५ या ६ वर्ष तो अबोधमे ही गये। जब ६ या ७ वर्षके हुए तब कुछ पर्यायके अनुकूल ज्ञानका विकाश बिना शिक्षाके ही हुआ। जैसा देखा वैसा स्वयमेव होगा। बहुभाग भाषाका ज्ञान बिना किसीके सिखाये आ गया। अनन्तर पाठशालामें जानेसे अङ्क विद्या और अक्षरका आभास गुरु द्वारा होने लगा। सात वर्षमे हिन्दी या उर्दूका इतना ज्ञान हो गया जो व्यवहारके योग्य हो गया। अनन्तर जिस धर्ममें अपने माता-पिता और कुटुम्बी जनकी प्रवृत्ति देखी उसी मतमे भी प्रवृत्ति करने लगे। यदि माता-पिता श्रीरामके उपासक हैं तब आप भी उसी धर्मको मानने लगता है। जैन धर्मानुयायी माता-पिता हुए तब जिन मन्दिरमें जाने लगा। मुसलमान हुए तब मसजिदमें जाने लगा। ईसाई हुए तब गिरजाघरमें जाने लगा इत्यादि। कहाँतक लिखें जो परम्परासे चला आया है उसीसे अपने उद्धारकी श्रद्धा प्रत्येक मतवालेको है। जो मुसलमान है वह खुदाका नाम लेनेसे ही मोक्ष मानता है इत्यादि कहाँतक लिखें अपनी श्रद्धाके अनुकूल कल्याणके मार्गको अपनानेकी सबकी प्रवृत्ति रहती है। यह सब होते हुए भी कई महानुभावोंने इस विषयमे अच्छा प्रकाश डाला है। कोई परमेश्वर हो इसमें विवाद करनेकी आवश्यकता नहीं परन्तु आत्मकल्याण मार्ग अपने ही पास है अन्यके पास नहीं। यदि नेत्रमे ज्योति नहीं, तब चश्मा चाहे हीराका हो चाहे कांचका हो, कोई लाभ नहीं हो सकता। इसी तरह यदि हमारा अन्तरङ्ग

परिणति मलिन है तब चाहे गङ्गास्नान करो, चाहे प्रयाग स्नान करो, चाहे मक्कासरीफ जाओ, चाहे मन्दिर जाओ, चाहे हिमालयकी शीतल पहाड़ियोपर भ्रमण करो, शान्ति नहीं मिल सकती। अतः परमात्माके विषयमें विवाद करना छोड़ो। केवल परिणति निर्मल बनाओ कल्याणके पात्र हो जाओगे और यदि परिणति निर्मल न बनाई तब परमात्माकी कितनी ही उपासना करो कुछ भी शान्तिके अस्वादके पात्र न होगे।

उपदेशलहरी

साधु कौन है ?

जिन्होंने बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग कर दिया वह साधु है। सचमुचमें देखा जाय तो शातिका स्रोत केवल एक निर्ग्रन्थ अवस्थामें ही है। यदि त्यागी वर्ग न हों तो आप लोगोंको ठीक राह पर कौन लगावे। कहा भी है:—

'अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥'

समस्त संसारी प्राणी अज्ञानरूपी तिमिर (अंधकार) से व्याप्त हैं। ज्ञानरूपी अंजनकी शलाकासे जिन्होंने हमारे नेत्रोंको खोल दिया है ऐसे श्री गुरुवरको नमस्कार है।

जो आत्माका साधन करता है, स्वरूपमें मग्न हो कर्ममलको जलानेकी चेष्टा करता है वह साधु है। समन्तभद्र स्वामीने बतलाया है कि वही तपस्वी प्रशंसाके योग्य है जो विषयाशासे रहित है, निरारम्भी है, अपरिग्रही है और ज्ञान-ध्यान-तपमें आसक्त है। वह

स्व समय और पर समयकी महत्तासे परिचित है। आचार्य कुन्द-कुन्दने स्वसमय और परसमयका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है-

'जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।

पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥'

जो आत्मा दर्शन, ज्ञान, तथा चारित्रमे स्थित है वही 'स्व-समय' है और जो पुद्गलादि पर पदार्थोंमें स्थित है उसको 'पर समय' कहते है। तथा **शुद्धात्माश्रितः स्वसमयो मिथ्यात्व-रागादिविभावपरिणामाश्रितः परसमय इति।**, अर्थात् जो शुद्धात्माके आश्रित है वह स्वसमय है और जो मिथ्यात्व रागादि विभाव परिणामोके आश्रित है उसे ही परसमय कहते है। परसमयसे हटकर स्वसमयमें स्थिर होना चाहिये। परन्तु हम क्या कहे आप लोगोंकी बात।

एक साधुके पास एक चूहा था। एक दिन एक बिल्ली आई और वह चूहा डरकर साधु महाराजसे बोला—भगवन्! 'मार्जाराद् बिभेमि' अर्थात् मै बिल्लीसे डरता हूँ। तब साधुने आशीर्वाद दिया 'मार्जारो भव' इससे वह चूहा बिलाव हो गया। एक दिन बड़ा कुत्ता आया, वह बिलाव डर गया और साधुसे बोला प्रभो! 'शुनो बिभेमि' अर्थात् मै कुत्तोसे डरता हूं। साधु महाराजने आशीर्वाद दिया 'श्वा भव' अब वह मार्जार कुत्ता हो गया। एक दिन वनमे महाराजके साथ कुत्ता जा रहा था। अचानक मार्गमे व्याघ्र मिल गया। कुत्ता महाराजसे बोला—'व्याघ्राद् बिभेमि' अर्थात् मै व्याघ्रसे डरता हूं। तब महाराजने आशीर्वाद दिया कि 'व्याघ्रो भव' अब वह व्याघ्र हो गया। जब व्याघ्र उस तपोवनके सब हरिण आदि पशुओको खा चुका तब एक दिन साधु महाराजके ही ऊपर झपटने लगा। साधु महाराजने पुनः आशीर्वाद दे दिया कि 'पुनरपि

मूषको भव' अर्थात् फिरसे चूहा हो जा। तात्पर्य यह कि हमारे पुण्योदयसे यह पर्याय प्राप्त हो गई, उत्तम कुल और उत्तम धर्म भी मिल गया अब चाहिये यह था कि किसी निर्जन स्थानमें जाकर अपना आत्मकल्याण करते; परन्तु यहाँ कुछ विचार नहीं है। तनिक संसारकी हवा लगी कि फिरसे विषय-वासनाओंकी कीचड़में जा फँसे। अब तो इन वासनाओंसे मनको मुक्त करके आत्महितकी ओर लगाओ। 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' आत्माकी गुणपर्यायको जानो स्याद्वाद द्वारा पदार्थोंके स्वरूपको जान लेना प्रत्येक प्राणि-मात्रका कर्तव्य है।

संसारका सापेक्ष व्यवहार

अब देखो, वक्तृत्व व्यवहार भी श्रोतृत्वकी अपेक्षासे होता है। हम वक्ता हैं आप सब श्रोताओंकी अपेक्षासे। इसी तरह श्रोतापन भी वक्तापनेकी अपेक्षा व्यवहारमें आता है। द्रव्य अनन्त धर्मात्मक है। एक पदार्थ स्वसत्तासे अस्ति और परसत्ताकी अपेक्षा नास्ति है। देखा जाय तो उस पदार्थमें अस्ति नास्ति दोनों धर्म उसी समय विद्यमान हैं। "स्वपरोपादानापोहनव्यवस्थामात्रं हि खलु वस्तुनो वस्तुत्वं" वस्तुका वस्तुत्व भी यही है कि स्वरूपका उपादान और पररूपका अपोहन हो। यह पतित पावन शब्द है। पावन व्यवहार तभी होगा जब कोई पतित हो, पतित ही न हो तब पावन कौन कहलायेगा?

इस भाँति वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है। सामान्यापेक्षासे वस्तुमें अभेद और विशेषापेक्षासे उसमें भेद सिद्ध होता है। 'सर्वे जीवाः समाः" अर्थात् सब जीव समान हैं यह कहनेका तात्पर्य जीवत्वगुणकी अपेक्षासे है। यही जीवत्व सिद्धावस्थामें भी

हैं और संसारी जीवोंके संसारावस्थामें भी है परन्तु जहाँ सब सिद्ध अनन्त सुखके धारी हैं वहाँ हम संसारी जीव तो नहीं हैं। हम दुःखी है। यह सब नय विभागका कथन है।

एक माताको आप जिस दृष्टिसे देखते हैं तो क्या अपनी स्त्रीको भी उसी दृष्टिसे देखेंगे? और कदाचित् आप मुनि हो जायें तो क्या फिर भी आप उसी तरहसे कटाक्ष करेंगे? ये महराज हैं (आचार्य सूर्यसागरजीकी ओर संकेत कर) किसी गृहस्थके यहाँ जब ये चर्याके निमित्त जाते है तो श्रावक किस बुद्धिसे इन्हें आहार दान देता है। और वही श्रावक किसी क्षुल्लक (एकादश प्रतिमा-धारी श्रावक) को किस बुद्धिसे देता है और कदाचित् वह श्रावक किसी कङ्गालको आहार देवे तो वह किस बुद्धिसे देगा। मुनिको वह श्रावक पूज्य बुद्धिसे आहारदान देवेगा और उस कङ्गालको वह करुणाबुद्धिसे। कङ्गाल यदि उससे यह कहे कि मैं इस तरहसे आहार नहीं लेता। मै तो उसी तरह नवधा भक्ति पूर्वक लूँगा, जिस तरह तुमने मुनिको दिया है तो हम आपसे पूछते हैं कि क्या हम उसी तरह आहार दे देवेंगे? नही। उससे यही कहेंगे कि भाई अगर तू भी—मुनि बन जाय और ईर्यापथ शोधकर चलने लगे तो तुझे भी दे सकते हैं।

तिलकने "गीता-रहस्य" मे लिखा है कि 'गौ-ब्राह्मणकी रक्षा करनी चाहिये।' गौ और ब्राह्मण दोनों जीव हैं तो क्या इसका मतलब यह हुआ कि गौका चारा ब्राह्मणको दे देवें और ब्राह्मणका हलुआ गायको डाल देवें? द्रव्यका सदैव अपेक्षासे कथन किया जाता है। कोई वस्तु किस अपेक्षासे कही गई यह हम समझ लेवें तो संसारमे कभी विसंवाद ही पैदा न हो।

यह लड़का किसका है? क्या यह अकेली स्त्रीका ही है? नहीं तो क्या केवल पुरुषका है? नही। दोनों (स्त्री-पुरुष) के संयोगा-

वस्थासे लड़का उत्पन्न हुआ है। जिस तरह यह सब कथन सापेक्ष है उसी तरह साधुता और असाधुताका कथन भी सापेक्ष है। क्योंकि वस्तुका स्वभाव अनन्त धर्मात्मक है। उनका सापेक्ष दृष्टिसे व्यवहार करने पर विरुद्धताका आभास नहीं होता किन्तु विरोध एकान्तदृष्टिके अपनानेसे ही होता है। एकान्तता ही असाधुता है इससे आत्मा संसारका ही पात्र बना रहता है।

जीव और पुद्गलके संसर्गसे यह संसारावस्था हुई। जीव अपने विभावरूप परिणमन कर रागी-द्वेषी हुआ और पुद्गल अपने विभावरूप और इस तरह इन दोनोंका बन्ध एक क्षेत्रावगाही हो गया है। इस अवस्थामें जब हम विचार करते हैं तब मालूम पड़ता है कि यह आत्मा बद्धस्पृष्ट भी है और अबद्धस्पृष्ट भी। कर्मसम्बन्धकी दृष्टिसे विचार करते हैं तो यह बद्धस्पृष्ट भूतार्थ है, इसमें सन्देह नहीं, और जब केवल स्वभावकी दृष्टिसे देखते हैं तो यह अभूतार्थ भी है। सरोवरमें कमलिनीके जिस पत्रको जलस्पर्श हो गया है इस दृष्टिसे विचार करते हैं तो वह पत्र जलमें लिप्त है यह भूतार्थ है परन्तु जल जलस्पर्श छू नहीं सकता है जिसको ऐसे कमलिनीके पत्रको स्वभावकी दृष्टिसे अवलोकन करते हैं तो यह अभूतार्थ है क्योंकि वह जलसे अलिप्त है। अतः अनेकांतको अपनाए बिना वस्तु-स्वरूपको समझना दुश्वार है। नानापेक्षासे आत्म-ज्ञान करना क्या बड़ी बात है 'समाधितन्त्र' में श्रीपूज्यपाद-स्वामी लिखते हैं—

'यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥'

अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा जो यह शरीरादिक पदार्थ दिखाई देते हैं वह अचेतन होनेसे जानते नहीं हैं। और जो पदार्थोंको जानने-

वाला चैतन्यरूप आत्मा है वह इन्द्रियोंके द्वारा दिखाई नहीं देता, इसलिए मैं किसके साथ बात करूँ। यह पण्डितजी हैं; इनसे हम बात करते हैं तो जिससे हम बात कर रहे हैं वह तो दिखता नहीं है और जिससे हम बात नहीं कर रहे हैं वह अचेतन होनेसे समझता नहीं है। इसलिए सब झंझटोंसे छूटकर विभाव भावोंका परित्याग कर स्वभावमे स्थिर रहनेका यह क्या ही उत्तम उपाय है। वही स्वामीजी आगे लिखते हैं—

'यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।
उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः॥'

जो प्रतिपादन करता है वह तो प्रतिपादक कहलाता है और जिसको प्रतिपादन करना चाहते हैं वह प्रतिपाद्य कहलाता है। तो कहते हैं कि यह सब मोही मनुष्योंकी पागलो जैसी चेष्टा है। यदि ऐसा ही है तो हम उन्हींसे पूछते हैं—महाराज! फिर आप ही यह उपदेश, रचना चातुरी आदि कार्य क्यों करते हैं? तो इससे मालूम पड़ता है कि मोहके सद्भावमे सब व्यवहार चलते हैं यह असत्य नहीं, सत्य है।

यह लोक षड्द्रव्यात्मक है जिसमे सब द्रव्य परस्पर मिले हुए एक दूसरेका चुम्बन करते रहते हैं। इतना होने पर भी सब अपने अपने स्वरूपमें तन्मय है। कोई द्रव्य किसी द्रव्यसे मिलता जुलता नहीं है पर फिर भी एक पर्यायके अनन्तर दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है और संसारका व्यवहार चलता रहता है।

जैन धर्ममें त्यागका क्रम—

जैनधर्ममे सदैव क्रम-क्रमसे ही कथन किया गया है। पहले उपदेश दिया जाता है कि अशुभोपयोगको छोड़ो और शुभोपयोगमे वर्तन करो और जो प्राणी शुभोपयोगमे स्थिर है उससे

कहते हैं, भाई यह भाव भी संसार बन्धनमें डालनेवाला है। अतएव इसको भी त्यागकर शुद्धोपयोगमें वर्तन कर। कुन्दकुन्दाचार्य एक जगह कहते हैं प्रतिक्रमण भी विष है। अतः जहाँ प्रतिक्रमणको ही विषरूप कह दिया वहाँ अप्रतिक्रमण—प्रतिक्रमण नहीं करनेको अमृतरूप कैसे कहा जा सकता है। शुद्धोपयोग प्राप्त करना प्राणी मात्रका ध्येय होना चाहिये। यह अवस्था जब तक प्राप्त नहीं हुई तब तक शुभोपयोगमें प्रवर्तन करना उत्तम है। अतएव क्रम क्रमसे चढ़नेका उपदेश है। तात्पर्य यही है कि यदि मनुष्य अपने भावो पर दृष्टिपात करे तो संसार बन्धनसे छूटना कोई बड़ी बात नहीं है। एक बार भी यह प्राणी अपनी अज्ञानताको मेट देवे तो वह परम सुखी हो सकता है।—अज्ञान क्या है? ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशममें जो मिथ्यात्व लगा हुआ है वही अज्ञान है। उस अज्ञानका शरीर मोहसे पुष्ट होता है। और उसके प्रसादसे ही यह विचित्र लीला देखनेमें आ रही है। अतः आत्म-ज्ञानकी बड़ी आवश्यकता है। जिसने प्राप्त कर लिया वही मनुष्य धन्य है और उसीका जीवन सार्थक एवं सफल है।

जीव और अजीवका भेद-विज्ञान

यह जीवाजीवाधिकार है। इस अधिकारमें जीव और अजीव दोनोके अलग-अलग लक्षणोंको कहकर जीवके शुद्धस्वरूपको दिखाना कर्ताको अभीष्ट है। कोई जीवको केवल रागद्वेषादिमय बतलाते हैं किन्तु ये तो पुद्गलके सम्बन्धसे उत्पन्न विभाव भाव हैं। अतः जो जो भाव परके सम्बन्धसे होंगे वे कदापि जीवके नहीं कहलाये जा सकते, क्योंकि यहाँ तो जीवके शुद्ध स्वरूपको बतलाना है न। माथे पर तेल पोत लो तो वह चिकनाई तेलकी ही कहलाई जायेगी। इसी तरह समस्त राग-द्वेष व मोहादिककी कल्लोलमालाएँ पुद्गल प्रकृतियोंसे उत्पन्न हुए विभाव भाव हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव चित्स्वरूप चिच्छक्तिमात्र धारण करता हुआ शुद्ध टंकोत्कीर्ण एक विज्ञानघनस्वभाववाला है सब प्राणियोंमें एक समान पाई जानेवाली चीज है। यहाँ किसी का भेद-भाव नहीं है। वस्तु स्थितिका ज्ञान सबके लिये परमावश्यक है।

एक पंगत हो रही थी। वहाँ दो अच्छे धनी-मानी आदमी आस-पास अगल-बगलमें बैठे हुए थे और बीचमें एक साधारण स्थितिका मनुष्य आ बैठा था अब वह परोसनेवाला व्यक्ति इधर-उधर पूड़ियोंको दिखाकर उन सेठोंसे बोला—'देखो! क्या बढ़िया पूड़ी है। बड़ी कोमल और मुलायम है। एक तो आपको अवश्य लेनी चाहियें।' परन्तु उस बीचवाले मनुष्यसे कुछ न कहा। अनिच्छासे वह कहता भी तो तुरन्त ही वहाँसे हटकर उनको फिर दिखाने लगता। वह मनुष्य देखता ही रह जाता इस तरह दो बार हुआ, तीन बार हुआ। जब चौथी बार आया तो उसने उठकर एक चाँटा रसीद किया और बोला—बेवकूफ, क्या ये तेरे बाप हैं जो बार बार इनको दिखाकर परोसता है और मुझे यों ही छोड़ जाता है? क्या मैं यहाँ खाने नही आया? मुझे क्यों नही परोसता? इतना जब उससे कहा तब कहीं उसकी अक्ल ठिकाने पर आई। तो कहनेका तात्पर्य यही है कि वह वस्तु-स्वरूप सबका है। अपने विमल स्वरूपका बोध सबको हो सकता है। उसमें किसी प्रकारका भेद-भाव नहीं है।

अब यहाँ जीव और अजीवका भेद दिखलाते है। परको ही आत्मा माननेवाले कोई मूढ़ कहते हैं 'अध्यवसान ही जीव है।' अन्य कोई तो कर्मको जीव मानते हैं। कोई कहते हैं कि साता और असाताके उदयसे जो सुख दुःख होता है वह जीव है। कोईका मत है कि जो संसारमें भ्रमण करता है उसके अतिरिक्त

और कोई जीव नहीं है। कोई कहते हैं कि आठ काठोंकी जैसे खाट होती है, इसके अलावा और खाट कोई चीज नहीं है इसी तरह आठ कर्मोंका संयोग ही जीव है और जीव कोई वस्तु नहीं है। इस प्रकारके तथा अन्य प्रकारके बहुतसे मत जीवकी मान्यता-के विषयमें हैं परन्तु इनमेंसे कोई भी मत सत्य नहीं है। सब भ्रममें हैं क्योंकि ये सब जीव नहीं हैं। जो अध्यवसानादि भावों-को ही जीव बतलाते हैं उनके प्रति आचार्य कहते हैं कि ये सभी भाव पौद्गलिक हैं। वे कदापि स्वभावमय जीव द्रव्य नहीं हो सकते, इन रागादि भावोंको जो जीव आगममें बतलाया है वह व्यवहारनयसे है किन्तु वे वस्तुतः जीव नहीं हैं। इसी प्रकार जो यह प्रलाप करते हैं कि साता और असातासे उत्पन्न सुख दुःखादि हैं वह जीव हैं उनको कहते हैं, भाई! सुख दुखादिका जिसको अनुभव होता है वह जीव है। 'जो संसारमें भ्रमण करता है वह जीव है' ऐसी जिसकी मान्यता है उनके लिए कहते हैं कि इस भ्रमणके अतिरिक्त जो सदा शाश्वता रहनेवाला है वह जीव है। जैसे आठ काठीके संयोगसे जो खाट कहलाती है वैसे ही आठ कर्मोंके संयोगसे उत्पन्न जीव नहीं है किन्तु जिस प्रकार आठ-काठीसे बनी हुई खाट उस पर शयन करनेवाला व्यक्ति भिन्न है उसी तरह आठ कर्मोंके अतिरिक्त जो कोई वस्तु है वह जीव है।

जब यह सिद्ध हो चुका कि वर्णादिक या रागादिक भाव जीव नहीं है तब सहज ही यह प्रश्न होता है कि जीव कौन है? ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य कहते हैं—

'अनाद्यनंतमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥'

यह जीव अनाद्यनन्त है और स्वसंवेद्य है, केवल अपनेसे ही

अपने द्वारा जानने योग्य है। जिसमे चैतन्यका विलास हो रहा है ऐसा स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान-दर्शन रूप जीव है जो स्वयं प्रकाशमय बोधरूप है।

अतः जीवमे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श नहीं है। शरीर 'संस्थान' संहनन आदि भी नहीं है। राग, द्वेप, मोह, एवं कर्म, नोकर्म आश्रव भी नहीं है।

जीवमे न योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान ही हैं और न मार्गणास्थान, स्थितिवन्धस्थान और संक्लेशस्थान ही हैं, क्योंकि ये सभी पुद्गलजनित क्रियाएँ हैं अतः वे कदापि जीवके नहीं हो सकते।

इस प्रकार यह जीव और अजीवका भेद सर्वथा भिन्न है इसको ज्ञानी जन स्वयं स्पष्टतया अनुभव करते हैं किन्तु तिस पर भी यह अत्यन्त वढ़ा हुआ महामोह अज्ञानियोंको व्यर्थ ही अनेक प्रकारसे नाच नचाता हुआ उन्हे शुद्धात्मानुभूतिसे वंचित रखता है। आचार्य कहते हैं कि हे भव्य! तू व्यर्थ कोलाहलसे विरक्त होकर चैतन्यमात्र वस्तुको देख, हृदय-सरोवरमे निरन्तर विहार करनेवाला ऐसा वह भगवान् आत्मा उसका यदि षण्मास पर्यन्त भी अनुभव करे तो तुझे आत्म-तत्त्वकी अवश्य उपलब्धि हुए विना न रहे। सुखके लिए तू अनन्त कालसे निरन्तर भटक रहा है पर सच्चा वास्तविक सुख तुझे अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। इसका कारण क्या है? यह खोजनेका प्रयास भी नहीं किया। काम कैसे वने? किसीने कहा अरे, तेरा कान कौआ ले गया किन्तु मूरखने अपना हाथ उठाकर कान पर नहीं रखा। कान कहाँ चला गया? इसी तरह कोई यह कहे कि हमारे तो पीठ ही नहीं है परन्तु तनिक हाथ पीछे मोड़कर देखा होता। कहीं नहीं

गई है। अपने ही पास है। केवल उस तरफ लक्ष्य करनेकी आवश्यकता है।

आत्माका प्रशान्त स्वभाव

एक 'ज्ञानसूर्योदय' नाटक है—उसमे लिखा है, भैया एक सभाभवनमे नट और नटी आये। नटने नटीसे कहा कि आज इन श्रोताओंको कोई एक अपूर्व नाटक सुनाओ। अपूर्व ऐसा जो कभी इन्होंने सुना न हो। नटी बोली आर्य—ये संसारी प्राणी रात्रि-दिवस विषयोंमें लीन परिग्रहोंकी चिन्ताओंसे भाराक्रान्त तथा चाहकी दाहसे दग्ध इनको ऐसी अवस्थामें सुख कहाँ ? तब नट कहने लगा प्रिये ? ऐसी बात नहीं है। **आत्मस्वभावोऽस्तु शान्तः केनापि कर्ममलकलङ्ककारणेन अशान्तो जातः'** अर्थात् आत्मा स्वभावसे शान्त है *किन्तु किन्हीं कर्ममल कलङ्ककारणोंसे* वह अशान्त हो गया है। अतः इन उपद्रवोंको हटाकर शान्त बन जाओ क्योंकि शान्तता (सुख) उसका सहज स्वभाव है। प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभावमें रहकर ही शोभा पाता है। किन्तु हम लोगो की प्रवृत्ति ही बाह्य विषयोंमें लीन हो रही है। विषय सुखकी प्राप्तिमे सारी शक्ति लगा रहे हैं। क्या इनमे सच्चा सुख है ? यही मोहकी महिमा है। पर वस्तुओंमे सुखकी कल्पनाकी मृगतृष्णासे अपनी पिपासा शान्त करना चाहते हैं। सचमुचमे देखा जाय तो सुख आत्माकी एक निर्मल पर्याय है। वह कहीं परमेंसे नहीं आती, क्योंकि ऐसा सिद्धान्त है कि जिसकी जो चीज होती है वह उसीके पास रहती है।

(फिरोजाबाद मेलेमे किया गया एक प्रवचन)

वर्णी-प्रवचन

[श्रीमान् पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य]

वर्णी प्रवचन

१. आज आप लोगोने उत्तम क्षमाका वर्णन सुना है, और वह भी उत्तम क्षमाको पालन करनेवाले मुनिराज के मुखसे। यदि यही चीज़ मैं कहता तो उतनी अच्छी नहीं लगती, क्योंकि मैं उत्तम क्षमाका पात्र नहीं। मेरे मुखसे इसका वर्णन तो ऐसा होता कि खाई तो नीम है और कहूँ कि मिश्री मीठी है। अरे, जिसने मिश्रीके मधुर स्वादका अनुभव नहीं किया वह कैसे कह सकता है कि वह मधुर होती है। उत्तम क्षमाका व्याख्यान सुनकर मेरा हृदय तो आनन्दसे भर गया।

अकलंक स्वामीने सर्व प्रथम गुप्तिको धर्म बतलाया है। मन वचन कायकी चेष्टाका निरोध हो गया इससे बढ़कर और क्या धर्म होता। उन्होने गुप्तिका वर्णन संवर तत्त्वके वर्णनमे किया है। गुप्तिसे परम संवर होता है और संवर ही मुक्तिका साधन है। परन्तु जो गुप्तिको पालन करनेमे समर्थ नहीं हैं उनके लिये समिति-का वर्णन किया है। (गुप्ति निवृत्तिरूप है और समिति प्रवृत्तिरूप)। समितिमे प्रवृत्ति होती है इसलिये दोष उत्पन्न होनेकी संभावना रहती है अतः उन दोषोकी निवृत्तिके लिये उत्तम क्षमा आदिका वर्णन किया गया है। आत्मामे क्रोध नामक दोष उत्पन्न हुआ तो उत्तम क्षमाके द्वारा उसकी निवृत्ति कर दी जाती है। क्रोध उप-लक्षण है अतः मान माया लोभ आदि दोषोंकी भी उद्भूति होती है यह भी समझ लेना चाहिये और उन्हे दूर करनेके लिये विनय मार्दव, आर्जव आदि धर्म आवश्यक होते हैं।

इन उत्तम क्षमा आदि धर्मोंसे ही आत्माका कल्याण हो सकता है। जब कल्याण होगा तब स्वभावसे ही होगा विभावसे कभी कल्याण होनेवाला नहीं। उत्तम क्षमा आदि आत्माके

स्वभाव है और क्रोधादि विभाव। अग्निके सम्बन्धसे पानीका शीतल स्पर्श उष्ण स्पर्श रूपसे बदल जाता है इसी प्रकार क्रोध कषायके सम्बन्धसे आत्माका क्षमा गुण क्रोध रूप बदल जाता है। क्रोधरूप परिणमन विभाव परिणमन है यह अकल्याण करनेवाला है।

टीकमगढ़मे एक दुलार झा नामक विद्वान् थे जो न्यायशास्त्रके महान् विद्वान थे। मैं भी उनके पास न्याय पढ़ा हूं। पहले ये व्याकरण नही जानते थे। एक दिन इन्होंने अपने गुरुसे कहा कि जिस प्रकार 'गां वक्ति' रूप होता है उसी प्रकार 'गां ब्रवीति' रूप क्यो नहीं होता। गुरुजी इनके मूर्खतापूर्ण प्रश्नको सुनकर बहुत कुपित हुए और उन्होंने मूर्ख पशु आदि कहकर इनका बडा तिरस्कार किया। गुरुकृत अपमानसे ये रुष्ट होकर अपने स्थानपर चले आये और अपनेसे नीचेकी कक्षामे पढ़नेवाले एक छात्रसे बोले कि चलो हम तुम्हे तुम्हारे घरपर अच्छा न्याय पढ़ा देंगे यहाँपर-देशमे क्यो पडे हो। छात्र मंजूर हो गया अतः उसे साथ लेकर उसके गॉव चले गये। उस छात्रको व्याकरण अच्छा आता था। इन्होने उसे न्याय पढ़ाया और उससे परीक्षाके रूपमे व्याकरेणके सूत्रोका अर्थ पूछ पूछकर सब व्याकरण सीख लिया। छ माहमे वे व्याकरणके विद्वान् हो गये। कोष तथा साहित्यका भी अच्छा अभ्यास कर लिया। यह कर चुकनेके बाद अपने गुरुजीके पास वापिस पहुँचे और बोले जाओ तुम्हारे बापको चुन्नी दी जहाँ पूछना हो पूछ लो। गुरुने हँसकर शिरपर हाथ फेरते हुए कहा 'बेटा! यही तो चाहता था। अज्ञानमूलक तुम्हारा भय निकल गया इससे मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। पर एक बात तुम याद कर लो—

'अपराधिनि चेत् क्रोधः क्रोधे क्रोधः कथं न हि।
धर्मार्थकाममोक्षाणां चतुर्णां परिन्थिनि॥'

यदि अपराधीपर क्रोध करना है तो क्रोधके ऊपर क्रोध क्यों नहीं करते, क्योंकि यह क्रोध भयंकर अपराधी है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंका परिपन्थी है विरोधी है। मैंने तुमसे यही तो कहा था कि तुम मूर्ख हो वच् धातुका 'वक्ति' ही रूप होता है और ब्रू धातुका 'ब्रवीति।' पर तुम व्याकरण ज्ञानसे सर्वथा शून्य थे अतः विपरीत प्रश्न करने लगे। तुम्हारे जैसे विद्वान्को भाषा विषयक ज्ञान न हो यह बात मुझे खटकती थी अतः मैंने तुम्हें मूर्ख कह दिया। किन्तु यह सुनकर तुम्हें रोष उत्पन्न हो गया। तुम्हीं विचारो मैंने तुम्हारा अपराध किया कि तुम्हारे क्रोधने। गुरुके वचन सुनकर दुलारझा नतमस्तक हो गये। क्रोध निकला कि आत्मामें शान्ति उत्पन्न हुई। अग्निका सम्बन्ध छूटते ही पानी ठंडा हो जाता है यह कौन नहीं जानता। धर्म आत्मामें ही है सिर्फ उसके बाधक कारण दूर करना है। बाधक कारण क्रोध मान माया आदिक दुर्गुण है इन्हें दूर कर दिया जाय तो आत्मामें धर्म प्रकट हो जाय।

श्री कुंदकुंद स्वामीने कहा है कि यदि आत्मासे विपरीताभिप्राय निकल जाय तो आत्मामें सब सद्गुण प्रकट हो जावें। जिस मुनिका विपरीताभिप्राय अर्थात् मिथ्यात्व रूप परिणमन दूर नहीं हुआ वह मुनि नहीं। द्रव्यलिंगकी शोभा भावलिंगके साथ है। जिस मुनिके द्रव्यलिंग के साथ भावलिंग नहीं हुआ उसके क्या हुआ? कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि हमारे शत्रुके भी द्रव्यलिंग न हो।

जिस प्रकार धनको चाहनेवाला कोई पुरुष राजाको जानकर उसकी उपासना करता है इसी प्रकार आत्मार्थी पुरुष आत्माको

जानकर उसकी श्रद्धा करता है, उसकी उपासना करता है। मोक्षार्थी पुरुषको आत्माकी श्रद्धा होना आवश्यक है। साध्य-सिद्धि कारण कूटके होनेपर ही तो होती है। 'पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्वात्' यहाँ वह्निमत्व साध्यकी सिद्धि धूमवत्त्व साधन से ही तो हुई। संसारसे छूटनेके लिये आवश्यक है कि यह प्रत्यय किया जाय कि मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है। कुन्दकुन्द स्वामीने प्रवचनसारमें कहा है—

'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥'

अर्थात् चारित्र ही धर्म है, समता परिणाम ही धर्म है। वह मोह तथा क्षोभसे रहित आत्माके परिणामरूप ही है। 'स्वरूपे चरणं चारित्तं स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेव वस्तुस्वभावत्वात् धर्मः। स्वरूप रमण होना सो चारित्र है। यही स्वसमयमें प्रवृत्ति करना है। क्रोधादि पर समय हैं क्योंकि वे परजन्य विकार हैं। क्षमा मार्दव आदि स्वसमय हैं। यही जीव द्रव्यके स्वभाव होनेसे धर्म हैं। समता भाव दुर्लभ वस्तु नहीं। मोह अर्थात् मिथ्यादर्शन और क्षोभ अर्थात् रागद्वेष इनका अभाव कर दिया जाय तो समता भावके प्रकट होनेमें विलम्ब न लगे।

आज उत्तम क्षमा है उसे ही लेकर जाओ। पर पदार्थको अपना मानना छोड़ो। पर पदार्थको अपना मानते हो तभी तो क्रोध होता है। आप परको अपना मानकर उसका परिणमन अपनी इच्छानुकूल करना चाहते हो परन्तु परका परिणमन परके अधीन है आपके अधीन नहीं आप व्यर्थ ही क्रोध करते हैं। मैं दर्शन ज्ञानमय आत्मा हू। ज्ञाता दृष्टा होना ही मेरा स्वभाव है परन्तु मैं

ज्ञाता दृष्टा न रहकर रागी द्वेषी भी हो जाता हूँ। यह कार्य ही भव-भ्रमणको वढ़ानेवाला है। इससे वचना है तो उसी एक आत्माकी उपासना करो। यद्यपि आत्मा ज्ञानमय है, ज्ञानके साथ ही उसका तादात्म्य है, परन्तु हम क्षणभर भी उसकी उपासना नहीं करते। आत्माकी ओर उपयोग न जगाकर भिन्न भिन्न पदार्थोंकी ओर उपयोग भर करते रहते हैं। कहीं ऐसी परिणतिसे कल्याण होता है ?

(सागर-२५-८-५२)

२

आपने कल क्षमाधर्मका वर्णन सुना था और आज मार्दव धर्मका। कल तत्त्वार्थसूत्रका प्रथमाध्याय सुना था और आज द्वितीयाध्याय सुनेंगे। मार्दवके विषयमे मै क्या कहूँ, महाराजके मुखारविन्दसे सव श्रवण कर चुके। प्रथमाध्यायमे आपने मोक्ष-मार्गका वर्णन सुना होगा। मै तो वारिसके कारण पहुँच नहीं सका इसका दुःख रहा। वारिस हमारे सत्कार्यमे अन्तरायरूप हो गई ? भाग्यसे ही तो सव होता है।

सर्वार्थसिद्धिकी भूमिकामें लिखा है कि सौराष्ट्र देशके एक नगरमे द्वैपायक नामका सेठ रहता था। बड़ा भद्र था। स्वाध्याय की प्रतिज्ञा उसके थी। उसने एक सूत्र बनाकर घरके खम्भेपर लिख दिया **'दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'** अर्थात् दर्शन ज्ञान और चारित्र मोक्षके मार्ग हैं। वह कहीं वाहर गया था। घर पर एक निर्ग्रन्थ आचार्य आहारके लिये आये। जब आहारकर जाने लगे तब उनकी दृष्टि खम्भापर लिखे **'दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष-मार्गः'** सूत्र पर पड़ी। उन्होने सोचा कि दर्शनपद तो सामान्यपद

है अतः मिथ्यादर्शन भी मोक्षमार्ग हो जायगा। उसकी व्यावृत्ति करनेके लिये यहाँ 'सम्यक्' पद जोड़ना चाहिये ऐसा विचारकर उन्होंने स्वम्भापर सूत्रके प्रारम्भमें सम्यक् पद और जोड़ दिया तथा तपोवनको चले गये। जब द्वैपायक घर आया तब उसने अपनी स्त्रीसे पूछा कि सूत्रमें यह परिवर्तन किसने किया है। उसने कहा कि आज निर्ग्रन्थ मुनि आये थे उनका यहाँ भोजन हुआ, उन्होंने ही यह परिवर्तन किया है। द्वैपायक पता चलाकर तपोवनमें पहुँचता है। उस द्वैपायक नामक भक्तके वर्णनमें पूज्यपाद स्वामीने लिखा है

कश्चिद् भव्यः प्रत्यासन्ननिष्ठः प्रज्ञावान् स्वहितमुपलिप्सुः आदि।

यह अत्यन्त निकट भव्य था। निकट भव्य ही तो भेदज्ञानी तथा आत्महितका इच्छुक होता है। जो दीर्घसंसारी होता है उसकी आत्महितकी ओर रुचि ही नहीं होती। द्वैपायक जाकर देखता है कि एक परम पवित्र, रमणीय एकान्त और भक्त जीवोंको विश्राम देनेवाले तपोवनमें निर्ग्रन्थाचार्य महाराज विराजमान हैं। वे इतने शान्त हैं कि उनकी मुद्रासे मोक्षमार्ग प्रकट हो रहा है। वे यद्यपि वचनसे कुछ नहीं बोल रहे है तो भी शरीरसे साक्षात् मोक्षमार्गका दिग्दर्शन करा रहे हैं। परहितका प्रतिपादन करना ही उनका कार्य है। बडे बड़े आकर उनकी उपासना कर रहे हैं। यह सब देख वह बड़ा प्रभावित हुआ और नम्रतासे बोला भगवन्! आत्माके लिये हितकारी क्या वस्तु है? उन्होंने कहा मोक्ष। अनादिकालसे यह जीव संसाररूपी कारागारमें बद्ध है, उससे छूट जाना ही इसके लिये हितकारी है। आत्माके साथ जो कर्मोंका सम्बन्ध हो रहा है उसका छूट जाना ही मोक्ष है और वह तभी संभव है जब कि बन्धके कारणोंका अभाव तथा संवर हो जावे। आस्रवका निरोध और संवरकी प्राप्ति हुए विना मोक्ष नहीं हो सकता।

मुनिराजकी उक्त वाणी सुनकर द्वैपायक बहुत प्रसन्न हुआ और

बोला कि महाराज इस ग्रन्थकी पूर्ति तो आपसे ही हो सकती है। भव्यकी प्रेरणासे मुनिराजने तत्त्वार्थसूत्रकी रचना पूर्ण की। वे मुनिराज गृद्धपिच्छ थे। यह दन्त कथा है। अकलंक स्वामी राजवार्तिकके प्रारम्भमें इसका समर्थन कर आगे कहते हैं **नात्र शिष्याचार्य-सम्बन्धो विवक्षितः**-यहाँ शिष्याचार्यके सम्बन्धकी विवक्षा नही है किन्तु संसारसागरमें निमग्न अनेक प्राणिगणकी उज्जिहीर्षासे प्रेरित हो आचार्य महाराजने स्वयं मोक्षमार्गका निरूपण किया है। आत्मासे कर्मका सम्बन्ध छूट जावे इससे वढ़कर और हित क्या हो सकता है। कर्मका सम्बन्ध छूट जानेपर संसारी और मुक्त जीवमें क्या अन्तर रह जाता है। इन दोनोके वीच जितना अन्तर है वह सव कर्मकृत है और तत्त्वदृष्टिसे विचार करो तो कर्मकृत भी नही है, क्योंकि कर्म तो जड़ पदार्थ हैं। उनमे यह इच्छा कहाँ कि मै इस आत्माका अहित करूँ। सव अपराधकी जड़ तो स्वयं है। स्वयं रागादि विकार करता है जिनसे कर्मोका वन्ध होता है इसलिये आत्माको रागादि परिणतिसे वचाओ। रागके साथ द्वेष करनेकी आवश्यकता नहीं, क्योकि वह तुम्हारे नहीं हैं परजन्य विकार है तुममे हुए हैं यह वात दूसरी है परन्तु तुम्हारे स्वभाव नहीं हैं। स्वभाव होते तो कभी नष्ट नही होते परन्तु वीतराग अवस्थामें उनका पता नहीं चलता। रागद्वेषका उदय तवतक ही रहता है जव-तक यह जीव निज और परको ठीक-ठीक नही समझ पाता है। जहाँ परपदार्थसे भिन्न स्व द्रव्यमें—अपने आत्म द्रव्यमें रुचि हुई, उसका ज्ञान हुआ और उसीमें स्थिर निवास हुआ कि मोक्षमार्ग प्रकट हो गया फिर रागद्वेष कहा रहेंगे ?

युक्त्यनुशासनके अन्तमें समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं कि हे भगवन्! यह जो मैंने आपका स्तवन किया है यह आपके रागसे

और परके विद्वेषसे नहीं किया है क्योंकि रागद्वेषसे कार्य होता है उसमें आत्मकल्याण दुर्भर है। कल्याणका मार्ग रागके त्यागमें ही है। आप आपमें स्थिर हो जाय इससे बढ़कर और कल्याणका मार्ग क्या होगा ? (सागर २६-८-५२)

३

आज आर्जव धर्म है। आर्जव धर्म वह है कि 'मनमें हो सो वचन उचारिये, वचन होय सो तन सो करिये।' अर्थात् मन वचन कायकी एकसी प्रवृत्ति होना सो आर्जव धर्म है। आर्जव धर्म का धारण करनेवाला मनुष्य सदा सुखी रहता है। मायाचारी मनुष्यके हृदयमें रात दिन संक्लेश बना रहता है।

एक बारकी बात सुनाते हैं। हम मथुरामें पढ़ते थे। गुरु गोपालदासजी उस समय उस विद्यालयके संचालक थे। गोपालदासजीको कौन नहीं जानता ? आज समाजमें सिद्धान्त ग्रन्थोंका जो विकास हुआ है वह उन्हींकी बदौलत हुआ है। पं० वंशीधरजी, पं० मक्खनलालजी, पं० देवकीनन्दनजी आदि उन्हींके तो शिष्य हैं। मथुरा रहते रहते हमारा चित्त ऊब आया तो हमने सोचा कि बाईजी के पास हो आना अच्छा है। पर छुट्टी कैसे मिले ? हमने एक कार्ड बाईजी की ओरसे अपने नाम पर लिखा कि भैया हमारी तबियत खराब है अतः १५ दिनकी छुट्टी लेकर चले आओ। मैंने यह कार्ड स्वयं लिखा और मथुराके ही लेटरबक्समें डाल दिया। दूसरे दिन वह पत्र हमारे पास आया। हमने वह पत्र तथा एक दरख्वास्त पण्डितजी को दी और १५ दिनकी छुट्टी मॉगी। पण्डितजी ने लिख दिया फौरन चले जाओ और जब लौटकर आओ तब हमसे मिलते जाओ। मैं बड़ा खुश हुआ और बाईजी

के पास चला गया। पन्द्रह दिन बाद पण्डितजी के पास गया तब पण्डितजी ने सब समाचार पूछकर प्रसन्नता प्रकट की। वे मुरेनामे रहते थे। मैंने मथुरा जानेकी आज्ञा माँगी तब बोले नहाकर दर्शन और भोजन कर लो फिर जाओ। मैं रुक गया भोजनके बाद उन्होंने वह चिट्ठी दिखलाई। उस चिट्ठी पर मथुराकी ही मुहर लगी हुई थी। चिट्ठी देखते ही मैं समझ गया कि पण्डितजी हमारे छलको समझ गये हैं। तब मैंने नम्र भावसे कहा गुरुजी यह तो मेरा छल था। बाईजी बीमार नहीं थी। मुझे घर जाना था इसलिये छुट्टी पानेके लिये यह व्याज आपके साथ किया, आप क्षमा कीजिये। उन्होंने कहा मैं बहुत खुश हूँ कि तुमने सब बात सच सच कह दी और अपने छलके प्रति पश्चात्ताप कर लिया। तुम इस श्लोकको याद कर लो श्लोकके पढ़ते ही मैंने अपनी आत्म-कहानी सुना दी।

'उपाध्याये नटे धूर्ते कुट्टिन्यां च तथैव च।
माया तत्र न कर्तव्या माया तैरेव निर्मिता॥'

पण्डितजी ने मथुराके कड़ोरीमलजी को एक पत्र ऐसा लिख दिया कि गणेशप्रसादका मस्तिष्क कुछ कमजोर है इसलिये इसे २) माह घीको और २) माह फल आदिको दे दिया करें।

मायाचार छोड़नेका फल दूसरेको मिले चाहे नहीं मुझे तो तत्काल मिल गया। मायाचारी बहुत बुरा पाप है। क्रोधी आदमी से तो वश चलता है पर मायाचारीसे नहीं। इतना बड़ा दशलक्षण पर्व है इसमे कुछ तो करो। ये धर्म कहनेके नहीं हैं करनेके हैं इन्हें लेकर जाओ।

(सागर-२७-८-५२)

४

आज सत्यधर्मका निरूपण हुआ है। जिसे आप लोगोंने महाराजके मुखसे श्रवण किया है। सत्यधर्मसे क्या क्या नहीं होता? यह जीव अनन्त संसारसे पार हो जाता है फिर अन्य सामग्रीका मिलना दुर्लभ नहीं। भेदज्ञानसे ही सत्य धर्मका पालन हो सकता है। जिसने पर पदार्थसे भिन्न रहनेवाले अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको समझ लिया वह झूठ क्यो बोलेगा?

मैं उदाहरण दूसरोंका क्या दूं स्वयं अपनी बात सुनाता हूँ। जब मै मड़ावरा में रहता था तबकी बात है। एक बार मौजीलाल और कुञ्जीलाल सौरयामे लड़ाई हुई। मौजीलाल, भतीजा था और कुञ्जीलाल चाचा। मौजीलालने कुञ्जीलालको खूब मारा और अपना अंगूठा अपने मुँहसे काट कर रिपोर्ट लिखा दी कि कुञ्जी-लालने हमें मारा है। इतना ही नही कुछ दे दिलाकर डाक्टरसे सार्टिफिकेट भी लिखवा लिया कि इसे घातक चोट पहुँचाई गई है। मुकदमा दायर हुआ। हरीसिंह मौजीलालके भाई थे। उन्होंने हमसे कहा कि तुम हमारी ओरसे गवाह दे दो कि हमने कुंजी-लालको मौजीलालका अंगूठा काटते देखा है। मैंने बहुत कहा कि भाई अदालतमे जाते हुए मुझे डर लगता है अतः मेरी गवाह न दिलाओ पर वे नहीं माने। बोले ऐसा कह देना कि हम अपने चाचाके यहाँ छुहरा जाते थे। बीचमे मौजीलाल और कुंजीलालकी लड़ाई हो रही थी तब कुंजीलालने मौजीलालका अँगूठा मुँहसे काट लिया। मेरे मना करने पर भी उन्होंने परचा लिखकर दे दिया। मुझे कचहरी जाना पड़ा। पुकार हुई मजिष्ट्रेटने पूछा सच कहोगे मैने कहा, हाँ सच कहेंगे, क्या जानते हो, मजिष्ट्रेटने पूछा, मैंने हरीसिंहके कहे अनुसार कह दिया। अन्तमें मजि-

ष्ट्रेटने पूछा कि और क्या जानते हो ? मैंने कहा और तो कुछ नही जानता। ये हरीसींग खड़े हैं इन्होने कहा था कि ऐसा कह देना, सो कह दिया। मामला गड़बड़ हो गया। हरीसींगने बहुत कहा कि दूसरेसे पूछ लिया जाय पर मजिष्ट्रेटने एक न मानी और यह कहकर मुकदमा खारिज कर दिया कि तुमने खुद अपना अंगूठा अपने मुंहसे काटकर इसपर झूठा आरोप लगाया है। भैया! मेरा तो विश्वास है कि जो सच बोलता है वह कभी दुःखी नही होता। इसलिये ज्यो की त्यो बोलना ही कार्यकारी है।

यह दशलक्षण धर्म है। धर्म आचरण करनेसे होता है और आचरणसे ही फल मिलता है। जो ज्ञान क्रियाहीन होता है उसकी क्या कीमत ? 'हतं ज्ञानं क्रियाहीनम्' यह प्रसिद्ध भी है। सत्य धर्म ही प्राणीका कल्याण करनेवाला है। एक सत्यधर्मसे ही जीवका उद्धार हो जाता है।

एक राजाका लड़का चोरी करने लगा, पिताने बहुत समझाया पर नही माना। बोला, पिताजी कोई दूसरा बलवान् राजा आ जायगा तो आपका राज्य चला जायगा और तब मुझे दुःखी होना पड़ेगा, यदि चोरी करूंगा तो अपना काम तो चला लूंगा। राजाने रुष्ट होकर उसे देशसे निकाल दिया। वह देशान्तरमे चला गया तथा जुआ चोरी शिकार वेश्यासेवन आदि पापोमे फंस गया। एक दिन वह शिकारके लिये जंगलमे गया। देखता है कि कोई मुनिराज बैठे हैं और सबको तरह तरहके व्रत दे रहे हैं। चोरसे भी नहीं रहा गया। वह भी बोल उठा महाराज कोई सरलसा नियम मुझे भी दे दीजिये। चोरी, शिकार, जुआ आदि तो मैं छोड़ नहीं सकता फिर भी कुछ ऐसा नियम बताओ जिसे मैं पालन कर सकूं। मुनिराजने कहा भाई तू यह सब नहीं छोड़ना चाहता तो नहीं छोड़ पर एक झूठ बोलना छोड़ दे। उसने महा-

पलंगपर लेटा हुआ सो रहा था। पहरेदार तथा मंत्री आदि सब वहीं पहुंच गये, राजा भी पहुँच गया पर किसी की हिम्मत नहीं हुई कि उसे चोर कह सके। वह जागकर बोला कि मै चोर ही हूँ और रातको आपके ही घर चोरी कर आया हूँ। यह सब सामान आपका ही तो है। पर वे बोले नहीं, एक समान और वस्तुएँ भी तो हुआ करती है मेरी वस्तुएँ और कोई ले गया होगा, कहीं चोर अपने मुँहसे कहता है कि मै चोर हूं। वह बोला नहीं नहीं मै वास्तवमे चोर ही हूं। उसकी बातसे राजा बड़ा प्रभावित हुआ और बोला, भाई चोर हो चाहे कुछ हो, मेरी एक लड़की है सो उसके साथ विवाह कर लो और आधा राज्य ले लो। वह बोला राज्य तो मै छोड़कर आया हूं मेरे भी राज्य था। रही लड़कीके विवाहकी बात सो जिस बाबाने मुझे सच बोलनेका नियम दिया था उससे जाकर पूछ लूं कि बाबा मुझे एक सच बोलनेसे इतना फल तो मिल रहा है कि चोरी करनेपर भी कोई मुझे चोर नहीं समझता। अब और क्या आज्ञा है? मुनिने कहा कि भाई तूने धर्मका नमूना तो देख लिया अब तुझे जैसा उचित प्रतीत हो सो कर। आत्माका भला चाहता है तो सब छोड़ और मेरे जैसा हो जा। उसे साधुकी बात जँच गई और स्वयं साधु बन गया।

सत्य आदि धर्मोंसे जिनकी आत्मा पवित्र है उनके चरण जहाँ पहुँच जाते हैं वही तीर्थस्थान हो जाते हैं। जिस प्रकार अगस्त ताराके उदयमे गंदला पानी स्वच्छ हो जाता है उसी प्रकार पवित्रात्माओंके संसर्गमें मलिन आत्माएँ भी निर्मल हो जाती हैं। कुन्दकुन्द स्वामीका कहना है कि परपदार्थोंको छोड़कर आत्माका ज्ञान करो। आत्मा दूसरे पदार्थोंमें भटकता है उसका मूल कारण रागद्वेष है। यही आत्माको मलिन करते हैं। भेद विज्ञानसे अपने आपको पृथक् करना है। जब जलकी कीचड़ मिट जाती है तब वह निर्मल हो जाता है। इसी प्रकार जब आत्मा-

के रागद्वेष मिट जाते हैं तब आत्मा निर्मल हो जाता है । पर द्रव्यकी इच्छा छोड़नेसे ही निस्पृह अवस्था प्राप्त होती है। पुस्तक आदिकी इच्छा भी परिग्रह ही है और वह दुःखका कारण है। मेरा ज्ञानार्णव हाथका लिखा हुआ सागरमें पन्नालाल जी तिलीवालोंके यहाँ रखा था, मै शाहपुरमें था। उनके यहाँ चोरी हो गई मुझे विकल्प हुआ कि कहीं मेरी पुस्तक चोरी न चली गई हो। कुछ दूसरा काम नहीं था फिर भी मैंने विद्याधरको सागर भेजा और कहा कि उन्हें सान्त्वना दे आना और हमारी पुस्तक लेते आना। निष्परिग्रह अवस्थामें किसी अन्य पदार्थकी आकांक्षा नही रहती। सबका स्नेह छूट जाता है। रामचन्द्रजी सीताके स्नेह के पीछे वन वन भटके। चढ़ाई कर रावणके वंश विध्वंसके कारण बने परन्तु जब सीताका राग छूट गया तब सीताके जीव प्रतीन्द्रने कितने उपद्रव किये पर वे रंचमात्र ही विचलित नहीं हुए। भगवान् रामचन्द्रजी शुक्लध्यानमें लीन रहकर अन्तर्मुहूर्तमें केवली बन गये। इससे पता चलता है कि ये रागद्वेष मात्र ही सकल विपत्तिके मूल हैं। इनसे भेद ज्ञान करो—अपने आपको जुदा अनुभव करो। इस भेद ज्ञानकी महिमामें अमृतचन्द्रसूरिने लिखा है कि—

'भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥'

अर्थात् आजतक जितने सिद्ध हुए हैं सब भेद विज्ञान से ही हुए हैं और जितने संसारमें बद्ध हैं वे भेदविज्ञानके अभावसे ही बद्ध हैं। इस धर्म उपदेशको कथामें न टालो, इसे सिनेमा न बनाओ। भगवानके दर्शन करो और भावना भाओ कि मैं भी आपके ही समान हो जाऊँ। जिसने वीतरागताका अनुभवकर लिया उसे विषय वासनामें आनन्द नहीं आ सकता।

'तिलतैलमेव मिष्टं येन न दृष्टं घृतं क्वापि।
अविदितपरमानन्दो वदति विषयमेव रमणीयम् ॥'

जिसने कभी घी नही खाया उसे तिलका तेल ही मीठा लगता है इसी प्रकार जिसने आत्मसुखका अनुभव नहीं किया वह विषय सुख को ही रमणीय मानता है।

'जिस नाहीं चाखी मीसरी तिसको कचरा मिट्ठ'
जिसने मिश्री नहीं खाई उसे कचरा ही मीठा लगता है

एक साधु थे। पैदल चलते चलते उनके पैर खुरदरे हो गये। एक वार एक गृहस्थको उनके पैर धोनेका अवसर आया तो वह उन्हे खुरदरा देख कुछ आश्चर्य करने लगा। साधुने कहा अरे मूर्ख तूने अब तक स्त्रियोके पैर पलोटे है साधुके पैर नही पलोटे। उनकी सेवा करनेका अवसर तुझे नहीं आया।

संसार वड़ी भयंकर चीज है इससे वड़े वड़े डर गये। देखो भगवान् आदिनाथ भी इस संसारसे डर गये। दो ही स्त्रियाँ तो उनके थी पर उन्हे छोड़कर जंगलमे जा छिपे। अस्तु कहनेका सार यह है कि मोह एक ऐसी चीज है कि अच्छो अच्छों के छक्के छुड़ा देता है। अतः और कुछ न छोड़ो तो मोहको छोड़कर जाओ।

५

आज शौचधर्मका व्याख्यान आपने सुना। शौचधर्म आत्माकी पवित्रताको कहते हैं। यह पवित्रता लोभ कषायके अभावमे प्रकट होती है। लोभ वुद्धि समस्त अनर्थोंका मूल कारण है। लोभ विचित्र प्रकारका होता है। किसीको धनका लोभ है, किसीको पदका लोभ है, किसीको यशका लोभ है, पर दर असल विचार करो तो सभी लोभ छोड़ने योग्य है। मै तो एक वात आपको सुनाता हूँ और अधिक जानता भी नहीं। व्याख्यान विद्वान् लोग देते है पदार्थमे मैं कुछ जानता नहीं सिर्फ आप लोगोंकी अवस्था मुझे वड़ा वना रही है।

टीकमगढ़में वड़गेनी रहती थी। उसका पति था। संतान कुछ नहीं थी। और सम्पत्ति डेड दो लाखकी थी। जब उसका पति बीमार पड़ा तो सब लोग खबरके लिये आये। बीमारीकी हालत देख यह निश्चय हो गया कि यह बचनेवाले नहीं हैं तब रातके प्रारम्भमें ही वड़गेनीने सबसे कह दिया कि आप लोग अपने अपने घर जाइये अब रात का समय है। इन्होंने औषधि वगैरहका त्याग कर दिया है जब सवेरा होगा तब देखा जायगा। मैं रातभर इनकी सेवा करूँगी। यह कह गाँवके सब लोगोंको विदा कर दिया और किवाड़ अन्दरसे बन्द कर लिए। रातके नौ बजे पतिका मरण हो गया पर वह घबड़ाई नहीं और न रोई ही। राज्यका कायदा था कि जिसके सन्तान नहीं होती थी उसकी सम्पत्तिपर राजा कब्जा कर लेता था सिर्फ स्त्रीकी परवरिशके लिये कुछ देता था। वड़गेनीने विचार किया कि हमारी सम्पत्तिका भी यही हाल होगा इसलिए दान करा दिया जाय तो अच्छा है। ऐसा सोच उसने अपनी सम्पत्ति निकालकर आँगणमें इकट्ठी की। सोना चाँदी आदि जो भी था सब इकट्ठा कर लिया। लगभग लाख डेड़ लाखकी सम्पत्ति होगी। सबके ऊपर उसने चावल हल्दी मिलाकर छिड़क दी तथा एक वस्त्र सबपर ढांक दिया। रात्रि शान्तिसे बिताई। प्रातःकाल सबको खबर लग गई। राज्यमें भी खबर हो गई, थानेदार तथा पुलिस आदि आ गई। वड़गेनीने अपने कोठोंपर पुलिसके ताले लगवा दिये। जब पतिका दाह संस्कार हो चुका तब उसने कहा कि मेरी सम्पत्ति अधिक है अतः दीवान साहबको बुला लीजिये। दीवान साहब पहुँच गये। मकानके कोठो तथा तिजोरियोंके ताले जब खोले गये तब कुछ नहीं निकला। पुलिसने कहा कि तुम्हारे तो अधिक सम्पत्ति थी क्या हुआ? उसने कहा कि हुआ कुछ नहीं। आप लोगोंको कष्ट न हो इसलिये मैंने निकालकर स्वयं इकट्ठी कर दी है इसे आप ले जाइये। जब वस्त्र उघाड़कर देखा

गया तो उसपर चावल और हल्दी छिड़की हुई थी। दीवानने यह देखकर पूछा कि यह सब क्या है ? तब उसने कहा कुछ नही मरनेके पहले हमारे पति इस सम्पत्तिका दान कर गये हैं। संकल्पके लिये हल्दी चावल छिड़के गये हैं। आप लेना चाहे ले जावें। मेरे घरसे तो जाना ही है। दीवानने राजाके पास खबर भेजी तो उत्तर आया कि दान की हुई सम्पत्ति लेकर राजा क्या करेगा। उसकी व्यवस्था बड़गेनीकी इच्छानुसार कर दी जावे।

देखिये दानकी भावनासे उसकी सब सम्पत्ति बच गई। उसने पपौरामे वड़ा भारी मन्दिर वनवाया। आप सबने देखा होगा। उसके हृदयकी विशुद्धता इतनी ही नहीं थी। जब पंच कल्याणक प्रतिष्ठा हुई तो पपौरामे इतनी भीड़ हुई कि सब कुओंका पानी समाप्त हो गया। तमाम मेलामें पानीके विना त्राहि त्राहि मच गई। प्रतिष्ठाचार्य मंत्र जपनेकी बात कहने लगे। बड़गेनीने कहा कि मंत्र तो मैं जपूँगी। आप क्या जपेंगे ? मुझे कुएमे उतार दिया जाय, लोगोने उसका आग्रह देख पैंड़ा पर बैठाकर उसे कुएमे उतार दिया। वहाँ जाकर उसने अच्छे हृदयसे परमात्माका स्मरण किया और कहा कि जब तक मेलाके सब कुए लबालब नही भर जाते हैं तब तक मैं यहाँसे उठनेकी नही। भैया ! उसकी विशुद्धताके प्रभावसे कुँआ भर गया और उसका पानी ऊपर आ गया। वही एक कुँआ नहीं मेलाके सब कुए भर गये। बात अधिक पुरानी नहीं है। बात कहनेकी यह है कि शौच नाम पवित्रताका है और पवित्रतासे जो न हो जाय सब थोड़ा है।

आशा मात्र दुःखदाई है। जबतक योगी जगत्से कुछ पानेकी आशा रखता है यहाँ तक कि मान सम्मान पानेकी भी इच्छा रखता है तब तक वह योगी नहीं—

'जब तक जोगी जगद् गुरु, जगसे रहे उदास।
जब जग से आशा करे, जग गुरु जोगी दास ॥'

रूव योगी जगत्से कुछ पानेकी इच्छा रखता है तो वह दास हो जाता है और जगत् गुरु हो जाता है।

लोग विद्वानोकी आलोचना करते हैं पर जबसे बड़े आदमियोने विद्वानोका आदर करना छोड़ दिया तबसे समाज नष्ट भ्रष्ट हो गया। एक अक्षरका देनेवाला गुरु कहलाता है। फिर जो रात दिन तुम्हे ज्ञानदान देते हैं उनके प्रति तुम्हारा अनादर रहे यह बड़े दुःखकी बात है। टीकमगढ़मे रामबक्स सेठके यहाँ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा थी। प्रतिष्ठाके लिये पं० भागचन्द्र जी बुलाये गये। जब वे टीकमगढ़ पहुँचे तो सेठ रामबक्सने पूछा कि महाराज कैसी रसोई बनवाई जावे कच्ची, पक्की या कच्ची पक्की? पण्डित जीने कहा न कच्ची न पक्की न कच्ची-पक्की। तब सेठने कहा फिर आपकी रसोई कैसी बनती है? पण्डित जीने कहा, भाई बात यह है कि हम जिसके यहाँ पञ्चकल्याणक होते हैं उसके यहाँ भोजन नहीं करते। पण्डितजीका उत्तर सुनकर सेठने अपने मुनीमसे कहा कि जहाँ जहाँ प्रतिष्ठाकी चिट्ठियाँ दी गई हैं वहाँ वहाँ दूसरी चिट्ठियाँ लिखकर भेजो कि अब प्रतिष्ठा नही होगी। जो घास इकट्ठी की गई है वह गायोको खिला दो और जो भोजन सामग्री तैयार की गई है वह भी गरीबोको बॉट दो। पण्डितजी ने कहा—ऐसा क्यो? तब सेठने कहा कि जब आप गुरुजन ही हमारे यहाँ भोजन नहीं करते तब दूसरे गरीब लोगोने क्या बिगाड़ा है? उनका प्रायश्चित कौन करेगा? इससे अच्छा तो यही है कि मैं प्रतिष्ठा ही नहीं कराऊँ। सेठकी बात सुनकर पण्डितजी चुप रह गये और बोले अच्छा रसोई बनवाओ। सेठने फिर पूछा कच्ची, पक्की या कच्ची पक्की? तब पण्डितजीने कहा भाई यह कुछ न पूछो, चाहे जैसी बनवाओ। पण्डितजीने बड़ी प्रसन्नतासे भोजन किया। प्रतिष्ठाका कार्य पूरा हुआ तब सेठ पण्डितजीकी विदाई करने लगे। पण्डितजी बोले यह क्या कर रहे हो? मेरे तो कुछ

लेनेका त्याग है। सेठने कहा यदि आपके त्याग है तो इन प्रतिष्ठा ग्रन्थोमें क्यों लिखा कि प्रतिष्ठाचार्यका सत्कार करना चाहिये। आप इन्हे बदल दीजिये। फिर लेनेका त्याग है दानका त्याग तो नही है? आप अपने घरकी सम्पत्तिका दानकर दीजिये पर इसे तो आपको लेना ही पड़ेगा। पण्डित जी चुप रह गये और सेठने तथा गाँववालोने उनका अच्छा सम्मान किया। आप लोग तो सम्मान करना दूर रहा उन्हे उल्टा परेशानीमें डालते हैं। समयकी बलिहारी है।

तत्त्वदृष्टिसे धर्म क्या है? इस ओर हम लोग विचार नहीं करते। वास्तवमे राग द्वेषकी निवृत्ति ही धर्म है। उसीसे आत्माकी पवित्रता होती है। शौच मुनियोका धर्म है। उन्हें स्नान-से क्या प्रयोजन? गृहस्थको प्रयोजन अवश्य है पर वह भी स्नानसे आत्मशुद्धि नही मानता। बनारसके मणिकर्णिका घाट-पर एक बार लोकमान्य तिलकका व्याख्यान हो रहा था। व्याख्यानमे उनसे कह आया '**गङ्गास्नानान्मुक्तिः**' अर्थात् गङ्गा स्नानसे मुक्ति होती है। पास ही में एक पंडा बैठा था। बोला, महाराज इसका क्या अर्थ है। तब तिलकजीने कहा '**गङ्गास्नाना-च्छारीरिकमलमुक्तिः**' अर्थात् गङ्गाजीमें नहानेसे शरीरका मल छूट जाता है न कि आत्माका। पंडा उनकी व्याख्या सुनकर बहुत खुश हुआ। उसी सभामे एक शास्त्री विद्वान् था वह बोला इस तरह तो आप शास्त्र विरुद्ध अर्थ कर रहे हैं। पंडा बीचमे ही बोल उठा शास्त्रीजी पहले हमसे निपट लो बादमे तिलकजी से। इन्होने जो अर्थ किया है बिलकुल ठीक किया है। मेरी तीन पेढ़ी गङ्गा स्नान कर चुकी और मैं भी कर रहा हूँ पर आज तक मेरे मनका पाप नही गया। यात्रियोसे नाजायज पैसा लेनेका लोभ नहीं गया फिर मुक्ति होना दूर रहा, अतः गङ्गास्नानसे शरीरका ही मल दूर होता है न कि आत्माका। विद्वान् चुप रह गया।

जैनधर्म तो कहता है 'सम्यग्दर्शनज्ञानप्रधानाच्चारित्रान्मुक्तिः' अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त सम्यक्चारित्रसे ही मुक्ति होती है। जब तक प्रतिपक्षी राग बैठा रहता है तब तक मुक्तिकी प्राप्ति असंभव है। देखो, छठवें गुणस्थानमें जो संज्वलनके तीव्रोदयमें होनेवाला राग मौजूद रहता है वही तो उसे प्रमत्त बनाये है और प्रमत्त होनेका फल ही शास्त्रादिकी रचना है। मैं तो भावना करता हूँ कि हे भगवन्! मेरा आपके दर्शन-विषयका राग भी नष्ट हो जाय तो मेरा भला हो जाय। मैत्री प्रमोद कारुण्यादि भावनाएँ भी तो इसी रागका फल हैं। 'दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री' दुःखकी उत्पत्ति नहीं होना मैत्री है। यहाँ अभिलाषा कषायकी मन्दतासे होती है जो कि संवरका मार्ग न होकर आस्रवका मार्ग है। खाली निर्जरा संसारके यावन्मात्र जीवोंके होती है परन्तु संवर पूर्वक नहीं होनेके कारण उससे लाभ नहीं। 'आस्रवनिरोधः संवरः' आस्रवका निरोध हो जाना संवर है। मनुष्यका कल्याण मनुष्यकी आत्मासे ही होता है, ये तो उसमें निमित्तमात्र होते हैं। मनुष्य पर्याय पा लेना दुर्लभ नहीं परन्तु उससे मनुष्योचित काम ले लेना दुर्लभ है अतः ऐसे कार्य करो जिससे जीवन सफल हो सके।

(सागर २१–८–५२)

६

संयम धर्मका वर्णन महाराजने कर दिया और आप लोगोंने शान्तिसे सुन लिया। यथार्थमें संयम ही आत्मकल्याण करनेवाला है। सब तरफसे चित्तवृत्ति खींचकर अपनेमें लगना सो संयम है। संयमका लक्षण लिखते हुए गोम्मटसारमें कहा है—

'वदसमिदिकसायाणं दंडाण तहिंदियाण पंचण्हं।
धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणिओ॥'

अर्थात् अहिंसादि व्रतोंका धारण करना, समितियोंका पालन

करना, कषायोंका निग्रह करना, मन वचन कायकी प्रवृत्तिका त्याग करना और पॉच इन्द्रियोंका जय करना संयम है।

छहढालामें भी लिखा है—

'षटकाय जीव न हनन ते सबविधि दरबहिंसा टरी'
रागादि भाव निवारतें हिंसा न भावित अवतरी।'

षट्कायिक जीवकी रक्षा करना सो द्रव्य अहिंसा है और रागादि परिणामोंका अभाव होना सो भाव अहिंसा है। जैनधर्ममें अहिंसाका बड़ा विशद लक्षण कहा गया है।

'अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥'

अर्थात् रागादि भावोका उत्पन्न नहीं होना सो अहिंसा है। आज लोकमें जो अहिंसा प्रचलित है। वह तो दया है अहिंसा नहीं है। जहॉ रागादिकी निवृत्ति है वहीं धर्म है, दान देनेसे लोभका त्याग होता है इसलिये उसके साथ चारित्र है और चारित्र ही धर्म है। सम्यग्दृष्टि जीव जितनी प्रवृत्ति करता है उतनी अशुभोपयोगकी निवृत्तिके लिये करता है। आप लोग, अधिक नहीं तो इतना ही नियम कर लो कि जितनी देर यहॉ बैठे है उतनी देरके लिये हिंसा परिणाम नही करेंगे।

'जिनके न लेश मृषा न' अर्थात् जो रंचमात्र भी असत्य भाषण नही करते हैं उनके सत्यमहाव्रत होता है। यथार्थमे झूठ ही क्यो संसारके समस्त पापोंका मूल कारण रागांश ही है। एक मनुष्य स्त्रीको छोड़कर साधु हो गया। स्त्रीने मनमे विचारा कि इनकी परीक्षा तो करूॅ कि ये सचमुच ही साधु हुए हैं या बनावटी। ऐसा विचारकर स्त्री उसके पास पहुॅची और तरह तरहके हावभाव दिखलाने लगी। भरसक प्रयत्न किया उसे विचलित करनेका पर वह विचलित नहीं हुआ। अब उसकी समाधि पूर्ण हुई तो बोला

देवि। वह चीज तो खतम हो चुकी है जिसपर तुम्हारे हावभाव का असर होता था।

'न जल मृण हू विना दीयो गहें' जो जल और मिट्टी भी विना दिये ग्रहण नहीं करते हैं उनके अचौर्य महाव्रत होता है। जब तक मनुष्य पर पदार्थको अपना मानता रहता है तब तक उसका चोट्टापन कहाँ जाता है? वह तो उसीके पास रहता है इसलिये चोरी पापसे बचना है तो परको अपना मानना छोड दो।

'अठदश सहसविधि शीलधर चिद्ब्रह्ममें नित रम रहें' अठारह हजार शीलके भेद हैं उन्हें जो धारण करते हैं उनके ब्रह्म-चर्य महाव्रत होता है। प्रेममात्र ब्रह्मचर्यका विघातक है। मनकी चंचलता रोकनेसे ब्रह्मचर्य व्रतकी रक्षा होती है। जिसने मनको छुट्टी दे रखी है वह ब्रह्मचर्यका क्या पालन करेगा? एकने लिखा है—

'मनो नपुंसकं ज्ञात्वा भार्यासु प्रेषितं मया।
तत्तु तत्रैव रमते हताः पाणिनिना वयम्॥'

संस्कृत व्याकरणमें मनको नपुंसक लिङ्ग कहा है सो मैंने मनको नपुंसक समझ स्त्रियोंमें भेजा परन्तु वह स्वयं ही रमण करने लगा। महर्षि पाणिनीने मुझे बड़ा धोखा दिया। यदि वे अपनी व्याकरणमें उसे नपुंसक न लिखते तो मैं कैसे भेजता। मनको स्थिर रक्खो और कुसंगतिसे बचो। फिर ब्रह्मचर्य धारण करो सरलतासे उसका पालन हो जावेगा। ब्रह्मचर्यकी महिमा अपरम्पार है। आत्माका आत्मामें लीन होना सो ब्रह्मचर्य है। मनको यदि स्त्रियोंमें भेजते हो तो मन नपुंसक है और स्त्री शब्द स्त्रीलिङ्ग। उनका मेल कैसे खावेगा? यदि पुरुषोंमें भेजते हो तो पुरुष शब्द पुलिंग है दोनोका मेल कैसे रहेगा। इसलिये मनको ब्रह्ममें भेज दो अर्थात् ब्रह्ममें लगा दो तो उनका मेल बन जायगा क्योंकि मन नपुंसक लिङ्ग है और ब्रह्म भी नपुंसक लिङ्ग है। समान-समान लोगोका

ही प्रेम बढ़ता है ऐसा प्रायः देखा जाता है।

'अन्तर चतुर्दश भेद बाहर संघ दशधा तें टलें' जो चौदह प्रकारके अन्तरङ्ग और दश प्रकारके बहिरङ्ग परिग्रहसे दूर रहते हैं उन्हीके परिग्रहत्याग महाव्रत होता है। संसारमे अनुभव करके देख लो कि परिग्रहमें क्या सुख है ? मुझे तो रंचमात्र भी सुख नहीं मालूम होता। परिग्रह सुखदायी है यह लोगोकी कल्पनामात्र है। अधिक परिग्रहकी बात जाने दो एक मात्र लंगोटीका परिग्रह भी दुःखदायी होता है।

एक साधुके पास लंगोटी थी। उसे अक्सर चूहा कतर जाया करता था अतः चूहा भगानेके लिये उसने बिल्ली पाल ली। बिल्लीके लिये दूधकी आवश्यकता पड़ी इसलिये एक गाय रख ली। गाय थी उसका बच्चा था इन सबकी देखभाल कौन करे ? इसके लिये एक दासी रख ली, एक बार साधु किसी दूसरे गाँव जाने लगा। उसके सब पदार्थ उसके साथ हो लिये। जब नदीमें पहुँचा तो कहीं दासी उसका हाथ पकड़ती है तो कहीं बिल्ली हाथ पकड़ती है और कही गायका बछड़ा पीछे लगता है। यह सब देख साधु घबड़ा गया और बोला यह सब दोष इस लंगोटीका है अतः लंगोटी छोड़नेमे ही सुख है।

महाराजने संयम धर्मका वर्णन किया है। आप गृहस्थ हो, सुनकर यो ही न रह जाओ। कमसे कम संयमका इतना पालन तो अवश्य करो कि जब स्त्रीके पेटमे दूसरा बच्चा आ जाय तब उसका संसर्ग छोड़ दिया जाय, आजके मनुष्य कैसे निर्दय और दुष्ट हो गये हैं कि स्त्रीके पेटमे बच्चा आ जाता है फिर भी विषयोपभोग करने जाते हैं। यही नही जबतक बच्चा माँका दूध पीकर पुष्ट न हो जाय तबतक स्त्रीका संसर्ग न करो। इस प्रकार निर्बल और निकम्मी सन्तान पैदा कर समाज और देशका क्या भला करोगे ? किसीका लीवर बढ़ रहा है, किसीकी आँखे दुःख रही है, कोई सुखीसे सूख

रहा है फिर भी संतान पैदा किये ही जाते हो। सिंहनीके एक बच्चा होता है, इसीसे वह सुखसे सोती है और गधीके अनेक बच्चे होते हैं पर जिंदगी भर उसे भार ही ढोना पड़ता है। हम कपड़ेवाले हैं। हमारी बात न मानो पर महाराज तो दिगम्बर हैं इनका प्रभाव तो दूसरा ही होता है अतः इन्हींकी बात मान जाओ।

यह पाँच महाव्रतका वर्णन हमने आपको बतलाया। सो महाव्रती ही देव हो सकते हों सो बात नहीं। अव्रती लोग संयमी भले ही न कहलावें पर मरकर देव तो हो सकते हैं। जैनधर्मके अनुसार अव्रती भी देवायुका बन्ध करते हैं। जब यहाँ शान्ति सागर महाराजका संघ आया था, तब मैं भी उनके पास गया था। महाराजने मुझसे कहा कि मुनि हो जा। मैंने कहा महाराज मैं चार बार पानी पीनेवाला दो बार भोजन करनेवाला निर्बल व्यक्ति हूं इस महान् भारको कैसे धारण कर सकता हूँ? तब उन्होंने कहा अभ्याससे सब हो जावेगा। मैंने कहा महाराज! आज कलके मुनि मरकर कहाँ जावेंगे? उन्होंने कहा स्वर्ग जावेंगे। फिर मैंने कहा ऐलक क्षुल्लक ब्रह्मचारी तथा अन्य श्रावक कहाँ जावेंगे? उन्होंने कहा स्वर्ग जावेंगे। फिर मैंने पूछा और महाराज ये अविरत सम्यग्दृष्टि जीव कहाँ जावेंगे? उन्होंने कहा ये भी स्वर्ग जावेंगे। मैंने कहा तो महाराज! फोकटमें कष्ट क्यों सहूं? स्वर्ग तो वैसे ही मिल जावेगा (हँसी) सुनकर महाराज हँस गये।

कहनेका मतलब यह है कि अव्रती भी रहो पर अन्याय न करो।

(सागर ३०-८-५२)

७

आज तप धर्मका वर्णन है। 'इच्छानिरोधस्तपः' उसका लक्षण है। जिसने अपनी बढ़ती हुई इच्छाओंको रोक लिया वही तपस्वी

है। अष्टावक्र गीतामें कहा है—

'विहाय वैरिणं काममर्थश्चानर्थसंकुलम्'

कामरूपी शत्रुको तथा नाना अनर्थोंसे भरे हुए अर्थको और इन दोनोंकी जड़ स्वरूप धर्मको छोड़कर चतुर्थ पुरुपार्थ जो मोक्ष है उसका साधन करो।

अलमर्थेन कामेन सुकृतेनापि कर्मणा

अर्थ काम और पुण्य रूप धर्मसे वश करो अर्थात् मुझे इनकी आवश्यकता नहीं। वास्तवमें आप विचार कर देखो अर्थके द्वारा आज तक किसीको तृप्ति हुई है? इतने आदमी बैठे हो कोई तो कहो कि अर्थसे—सम्पत्तिसे मुझे संतोप हुआ है। अरबोंकी संपत्ति हो जावे फिर भी संतोष प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार कामसे किसीको तृप्ति नहीं होती। साठ साठ सत्तर सत्तर वर्ष विपय भोग करते हुए आप लोगोंके वीत गये पर किसीको तृप्ति हुई हो तो कहो। इसी प्रकार पुण्य कर्मसे किसीको तृप्ति नहीं होती। एक फलकी प्राप्ति हुई नहीं कि दूसरे पदार्थकी इच्छा आकर उत्पन्न हो जाती है। इससे मालूम पड़ता है कि संसार रूप कान्तारमें ये तीनों सुख प्राप्तिके साधन नहीं है। और संसार अन्धा होकर इन्हींको प्राप्त करनेके लिये रात-दिन प्रयत्न करता रहता है।

'येन दृष्टं परं ब्रह्म सोऽहं ब्रह्मेति चिन्तयेत्'

जो परब्रह्म है वही मैं हूँ। मुझमें और उसमें कुछ भी अन्तर नहीं है ऐसा चिन्तवन करना चाहिये। वास्तवमें अपनेमें और ब्रह्ममें अन्तर क्या है? कर्मका ही तो अन्तर है हम कर्म सहित है और ब्रह्म कर्म रहित है। एक सोना निर्मल है और एक सोना किट्ट कालिमादिसे सहित है पर सोना तो दोनो ही हैं। हम लोग रात दिन भगवान् भगवान् रटते हैं पर भगवान्‌के स्वरूपको नहीं समझते। विकार भावसे रहित आत्माकी जो शुद्ध दशा है वही

तो भगवान् है। निश्चिन्त होकर रात दिन क्या सोचते रहते हो ? सबसे हटकर अपने आपको देखो। हम सुलट जावें तो सब सुलट जाँय। अपने आपको सुलटाना ही सबसे बड़ा कठिन कार्य है। जो स्वयं सुलट जाता है उसका तो प्रभाव ही विलक्षण हो जाता है। वह स्वयं शब्दोंसे कुछ न कहे तो भी उसके शरीरकी शान्त मुद्राको देखकर दूसरे लोग सुलट जाते हैं।

लोभ और कषाय (विषय और कषाय) संसारको बढ़ानेवाले हैं। इन्हें छोड़कर संसारको बढ़ानेवाला और कोई नहीं। लोभ और कषायको रोक लिया सो ही तप है। अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग आदि तपके भेद हैं। इन्हें कोई भले करे पर कषायका अभाव न हो तो इनका करना व्यर्थ है। शुक्लध्यानकी प्राप्ति कषायके अभावमें ही होती है। पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक प्रथम पायेमें अवश्य कषायका सद्भाव रहता है पर संज्वलनका अत्यन्त मन्द उदय रहता है। इससे ध्यानमें बाधा नहीं पड़ती। द्वितीयादि भेदोंमें किसी भी कषायका सद्भाव नहीं है। ध्यान कषायके अभावमें होता है और कषायका अभाव चारित्र कहलाता है इसीलिये ध्यानको चारित्रकी पर्याय कहते हैं न कि ज्ञानकी। जिन्हें तप करना है वे इससे न डरें कि हमें उपवास करना पड़ता है। देखो, भरतको कब उपवास करना पड़ा। दीक्षा लेनेके बाद अन्तर्मुहूर्तमें ही केवली हो गये। भगवान् आदिनाथको एक वर्ष तक अनशन करना पड़ा। छ माहका बुद्धि पूर्वक अनशन था और छ माहका आहार न मिलनेसे हो गया। एक हजार वर्ष तक तपस्या इन्हें करनी पडी तब केवली हो सके परन्तु भरत अन्तर्मुहूर्तके भीतर केवली बन गये। इसका यही तो अर्थ है कि भरतके कषायका अभाव जल्दी हो गया और भगवान् आदिनाथके बादमें हुआ। इतना निश्चित समझो कि जब भी कल्याण होगा तब कषायके अभावसे ही होगा। आप लोग परिग्रही जीव हैं सो मैं

किसीका परिग्रह नहीं छुड़ाता। आप एक पगड़ी बाँधे हो सो दो बाँध लो और एक अँगूठी पहने हो सो दो पहिन लो पर कषाय छोड़ दो।

टीकमगढ़का किस्सा है एक स्त्रीका पति बम्बई गया। वहाँसे लौटते वक्त वह सोना लाया। स्त्रीने कहा इसकी बरजुरियाँ बनवा दो। पुरुषने स्त्रीकी इच्छानुसार बरजुरियाँ बनवा दी। स्त्रीने बड़ी शौकसे अपनी भुजामे पहिन ली। उसकी इच्छा थी कि स्त्रियाँ इन्हें देखकर मेरी प्रशंसा करें पर किसी स्त्रीने उससे इनके विषयमे कुछ पूछा भी नही। एक दिन उसने अपने घरमे आग लगा दी। लोग बुझानेको आये स्त्रियाँ भी समवेदनाके लिये आईं। वह बरजुरियाँवाला हाथ चलाती हुई सबके साथ बात करती रही। एक स्त्रीने उसी भीड़-भाड़मे पूछ लिया कि ये बरजुरियाँ कब बनवाई थी बड़ी अच्छी हैं। सुनकर वह स्त्री बोली अरी ५ मिनट पहले यही बात पूछ लेती तो मै घरमे आग क्यों लगाती (हँसी)। देखो अपनी कषायसे ही तो उसने घरमे आग लगा ली। आप लोग भी तो इसी प्रकार अपने घरमे अपनी आत्मामे रात दिन आग लगाये रहते है और उसके सन्तापसे रात दिन दुःखी बने रहते हैं।

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, और अध्यवसान भाव इनसे अपनेको भिन्न समझो। समयसारमे कुन्द-कुन्द स्वामीने लिखा है कि शास्त्र जुदी चीज है और ज्ञान जुदी चीज है शब्द जुदी चीज है और ज्ञान जुदी चीज है। अध्यव-सान भाव भी तुम्हारा नहीं है क्योंकि वह परके निमित्तसे होने-वाला एक प्रकारका विकार ही तो है। विकारको आत्मस्वरूप कैसे समझा जा सकता है।

'जीव एव एकं ज्ञानम्' अर्थात् जीव ही एक ज्ञानस्वरूप है, क्योकि ज्ञानके साथ जीवका अविनाभाव सम्बन्ध है। दर्शन सुख और वीर्य भी आत्मासे अव्यतिरिक्त पदार्थ हैं। परसे भिन्न और

निजसे अभिन्न स्वस्वरूपका जो ध्यान करता है उसीके प्रव्रज्या सिद्ध होती है। प्रव्रज्या संन्यासको कहते हैं और जिसके प्रव्रज्या होती है वह परिव्राजक कहलाता है। 'परितः सर्वान् त्यक्त्वा यः व्रजति सः परिव्राजकः' अर्थात् जो सबको छोड़कर आत्माका ध्यान करता है वह परिव्राजक है। क्षमा आदि दशो धर्म परस्परमें एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं इनमें क्षमा धर्म प्रकट हुआ कि मार्दव आदि नौ धर्म अपने आप प्रकट हो जाते हैं।

कुन्दकुन्द स्वामीने प्रवचनसारमें 'कर्ता करणं कर्म और ज्ञान' ये चार बातें बतलाई हैं सो सभी आत्माके परिणमनको लिये हुए हैं अतः आत्मरूप है।

एक बात है जिसे आप सागरवालोंसे कहना चाहता हूं मनमें ही करना, नहीं, छोड़ देना। बात यह है कि आपके यहाँ जितना रुपया मासिक खर्च होता है, उतने पैसा दानमें दे दो। इससे आपकी सब संस्थाएँ चल सकती हैं कहो भाई! मंजूर है।

१-६-५२

८

समय हो गया है। पंडितजी ने (पं० दयाचन्द्रजी ने) आपके सामने अच्छा विवेचन कर दिया और समगौरयाजी ने भी सबका सब उड़ेल दिया है। हम क्या कहें? हम दानके विषयमें अपनी देखी बात कहते हैं। वास्तवमें जैनधर्ममें त्यागके सिवाय दूसरा उपदेश ही नहीं हैं। सर्व प्रथम मिथ्यात्वके त्यागका उपदेश है फिर हिंसा आदि पापो, पंचेन्द्रियोंके विषयों और क्रोधादि कषायो के त्यागका उपदेश है। त्याग पर पदार्थका ही तो होता है। स्व वस्तुका कोई क्या त्याग करेगा? पंडित ठाकुरप्रसादजी थे जिनके पास मैं पढ़ता था। व्याकरण और वेदान्त दो विषयके आचार्य

थे। उनकी प्रथम पत्नीका देहान्त हो गया था अतः ४० वर्षकी उमरमे उनका दूसरा विवाह हुआ। उनकी यह स्त्री बड़ी उदार और शान्त प्रकृतिकी थी। उस समय पंडितजी आगरा कालेजमें प्रोफेसर थे। वहाँसे ५०) मासिक उन्हे मिलता था। वे उनमे से अपनी स्त्रीको १०) मासिक देते थे। स्त्रीके हाथमें १०) आये कि उसने पूरा पड़ौसमें जो गरीब हुआ उसे बॉट दिये। पण्डितजी को फिर १००) मासिक मिलने लगा तो वे उसे २०) मासिक देने लगे। उन्हें भी वह पहलेकी तरह गरीबों को एक दिनमे बांट देती थी। पण्डितजी उससे कहते कि यह रुपये तो मैं तुम्हे देता हूँ तुम दूसरोको बॉट देती हो? पंडितजी की बात सुनकर वह कहती कि आप आखिर मुझे देते हैं न? मै जो चाहूं सो करूँ। यदि आप न देना चाहे तो न देवें। पंडितजी चुप रह जाते। कुछ समय बाद वे जोधपुर महाराजके यहाँ चले गये और वहाँ उन्हें ५००) मासिक मिलने लगा। उनमेंसे वे स्त्रीको १००) मासिक देने लगे पर वह पहलेकी भाँति दो चार दिनमे बॉटकर खतम कर देती। एक दिन पंडितजी २००) की बनारसी साड़ी लाये। स्त्रीने कहा यह किसके लिये लाये हो। पंडितजीने कहा तुम्हारे लिये लाया हूं। तब स्त्रीने कहा यह मुझे शोभा नहीं देती। यह किसी महारानीको शोभा देगी अथवा वेश्याको। मैं तो एक ब्राह्मणकी लड़की हूं। २) की दुकड़ी ही मुझे अच्छी लगती है। पण्डितजीने कहा कि अब तो आ चुकी। इसका क्या होगा? उसने कहा, होगा क्या? किसीको दे दो। यह कहकर उसने अपनी नौकरानीको उठाकर दे दी। वह लेनेसे सकुचाई,तो इसने कहा सकुचानेकी क्या बात है? इसे पहिनना नहीं। पण्डितजीसे कहा कि जाओ इसे १०) के टोटेसे वापिस कर आओ। पण्डितजी वापिस कर आये। अनन्तर उसने उन रुपयोंसे नौकरानीको एक जमीन लुवा दी जिससे उसकी खेती होने लगी।

धीरे-धीरे पण्डितजीकी आयु ५० वर्षकी हो गई और उसकी २६ वर्षकी। इस बीचमें इसके एक लड़का और एक लड़की उत्पन्न हुए। एक दिन पंडितजी बैठे थे, उसने जाकर कहा। कहो पण्डितजी! क्या मजा लूटा। आप तो वेदान्तके आचार्य हैं, आपसे क्या कहूं? आप ५० वर्षके हो गये। २ संतान पैदा हो गई अब तो विषय सम्बन्ध छोड़ो। पण्डितजी निरुत्तर हो गये, उनसे कुछ कहते नहीं बना। वह जाकर पण्डितजीकी गोदमें जा बैठी और बोली आप छोड़ो चाहे न छोड़ो, मैं तो छोड़ चुकी, आप पिता हैं और मै पुत्री हूँ। पण्डितजीने प्रभावित होकर उसके पैर पकड़ लिये और कहने लगे—माँ तुमने मेरी आँखें खोल दीं! तुम धन्य हो। उस समयसे दोनो ब्रह्मचर्यसे रहने लगे! २६ वर्षकी स्त्रीके इतना त्याग होना आश्चर्यमें डालनेवाला है।

वास्तवमें जो विषय कषाय छोड़ देता है वह संसारका कल्याण कर देता है। पर पदार्थका क्या छोड़ना? वह तो छूटे हुए ही हैं। सच्चा त्याग अपने विषयोंका छोड़ना है। धन और ज्ञान दोनों एक समान हैं। धन पाकर जिसने दान नहीं किया उसका धन निरर्थक है और ज्ञान पाकर जिसने दूसरोंका अज्ञान नष्ट नहीं किया उसका ज्ञान निरर्थक है। इस वास्ते इन पण्डितोंने जो व्याख्यान दिया उसे श्रवणकर विषयाभिलाषाको छोड़ो, परिग्रहकी ममता दूर करो। अनेक पाप हैं लेकिन सबसे बड़ा पाप परिग्रह ही है। यह सबके मन चंचल बना देता है। इसकी दशा गुड़के समान है। एक बार गुड़ने सोचा कि जो देखो वही मुझे खा जाता है यदि सूखा होता हूँ तो डलीकी डली लोग खा जाते हैं, यदि कुछ गीला हो जाता हूँ तो पक्वान बनाकर लोग खा लेते हैं और कहीं अधिक पतला हो गया—राब बनकर बहने लगा तो तमाखु पीनेवाले गुड़ाखू बनाकर पी जाते हैं इस प्रकार

तो संसारमें जीना बड़ा कष्टका है। ऐसा विचारकर वह परमेश्वरके सामने गया और बोला—भगवन् आप तो सबकी रक्षा करनेवाले हैं। मै भी सबमें से एक हूं अतः मेरी भी रक्षा करो, जो देखो वही मुझे चट कर जाता है। गुड़की प्रार्थना सुनकर परमेश्वर चुप हो रहे। पाँच मिनट बाद गुड़ने फिर पूछा महाराज क्या आज्ञा होती है, तब परमेश्वरने कहा, जा भाग जा, तुझे देख मेरे मुँह मे भी पानी आ गया (हँसी)। सो भैया परिग्रह ऐसी ही चीज है। सबके मनको लुभा लेता है। अतः ऐसा अभ्यास करो जिससे उससे तुम्हारा सम्बन्ध छूटे।

त्याग करनेसे पीछे दुःखी होना पड़े यह बात नही है। ये जो कुन्दनलाल सुतलीवाले हैं न? इनकी लड़कीने एक बार नैनागिर जीमें अच्छा व्याख्यान दिया। मेरे पास और तो कुछ था नहीं एक चद्दर ओढ़े था वही उतारकर उसे दे दी। शीतकालकी रात्रिका समय था। वह बोली यह क्या करते हैं? शीतका समय है आपकी रात कैसे कटेगी? मैंने कहा कट जायगी ताप लेंगे। यह कहकर मैंने चद्दर उसे दे दी। अब क्या होगा? यह विकल्प मेरे मनमे नही आया। मैं धर्मशालाकी अटारीपर ठहरा था, ज्यो ही सभास्थानसे अपने ठहरनेके स्थानपर पहुँचा कि अयोध्याप्रसादजी देहलीसे आकर कहते हैं वर्णीजी मै आपके वास्ते यह चद्दर लाया हूँ। मैंने लेते हुए कहा कि दानका फल तुरंत मिल गया। इस हाथ दे उस हाथ ले। इसलिये देनेवालोंको यह विकल्प नहीं करना चाहिये कि देनेके बाद हमारे पास क्या बच रहेगा। मै नहीं कहता कि तुम लोग परिग्रहका त्याग कर दो। तुम लोग तो एक एकके बदले दो दो लपेट लो पर मैं कहता हूँ कि उनमे जो मूर्च्छाभाव है—ममेदं भाव है उसे छोड़ दो। वह ममेदं भाव ही सच्चा परिग्रह है और उसके त्यागसे ही आत्माका सच्चा कल्याण है।

———

६

आकिंचन्य धर्मका वर्णन तो आपने सुन लिया। इन्होंने बतलाया कि सब द्रव्य अकिंचन है। इससे यही सिद्ध हुआ कि कोई किसी का नहीं है। न मैं आपका हूँ और न आप मेरे हैं। सब पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें अवस्थित हैं, स्वचतुष्टयको छोड़कर कोई भी द्रव्य पर चतुष्टयमें प्रवेश नहीं करता। आकिंचन्य धर्मकी बड़ी महिमा है। विषापहार स्तोत्र जो आदिनाथ स्तोत्र है उसमें धनंजय सेठ कहते हैं—

'तुङ्गात्फलं यत्तदकिञ्चनाच्च प्राप्यं समृद्धान्न धनेश्वरादेः।
निरम्भसोऽप्युच्चतमादिवाद्रेर्नैकाऽपि निर्याति धुनी पयोदेः॥'

तुङ्गका अर्थ ऊँचा होता है और उदार भी होता है सो उदार प्रकृतिके धारक अकिंचन मनुष्यसे जो प्राप्त हो सकता है वह सम्पत्तिशाली धनेश्वरसे कुबेर आदिसे प्राप्त नहीं हो सकता है। देखो, पहाड़ ऊँचा है, यद्यपि उसके पास पानीका अंश भी नहीं दिखाई देता तो भी उससे जिस प्रकार नदियाँ निकलती हैं उस प्रकार समुद्रसे एक भी नदी नहीं निकलती। मतलब यह है कि मनुष्यको उच्च प्रकृतिका बनना चहिये। उच्च प्रकृति कौन कहलाता है? जो परको अपना मानना छोड़ देगा वही तो परका परित्याग कर सकेगा और जो परको अपना मानता रहेगा वह उसे क्यों छोड़ने चला। परको अपना माना यही खराबी है। कुंदकुन्द स्वामी ने तो यहाँ तक लिखा है कि जो परमाणुमात्र परद्रव्यको अपना मानता है वह कुगतिका पात्र होता है।

पर्वके नौ दिन निकल गये, नौ अध्यायोंका प्रवचन आपने सुन लिया। कल दशमां दिन है मोक्ष तत्वका वर्णन सुनोगे। पर कल भीड़-भाड़का दिन है, कुछ -होने -जानेका नहीं। इन विद्वानोंको

चाहियं था कि कुछ संस्थाओंके विषयमे करते। आप लोगोको भी इनका विचार करना चाहिये था सालमें चालीस पचास हजार रुपयों का खर्च है। उसे आप लोगों को ही तो पूरा करना है। माँगनेके लिये किसीको बाहर भेजना यह तो मुझे पसंद नहीं। अपना गौरव आपको रखना चाहिये। यहाँ पाँच हजार जैन हो। यदि एक एक आदमी एक एक रोटी प्रतिदिन दे दें तो ४०० विद्यार्थियोका कल्याण हो जावे।

'आत्मनश्चकचकायमानत्वेन ज्ञान ही स्वरूप है। आत्मामे अन्य पदार्थोंका समावेश नही है। कर्म और नोकर्ममे जब तक आत्मीय बुद्धि है तबतक हमारा कल्याण नहीं हो सकता। हम पहिले किसीके थे, अब किसीके हैं और फिर किसीके होगे यह कल्पना मोहजनित है। मोहके सद्भावमे ही ऐसी कल्पना उत्पन्न होती है। जिस प्रकार दर्पणकी स्वच्छता ही उसका निजका स्वरूप है उसी प्रकार ज्ञान गुणकी स्वच्छता ही उसका सब कुछ है। मयूरादिके निमित्तसे दर्पण मयूरादिके आकार परिणमन करता है पर वह परजन्य होनेसे पररूप कहलता है इसी प्रकार आत्माकी स्वच्छता ही आत्माकी निजकी चीज है। उसमें जो घटपटादि पदार्थ प्रतिविम्वित होते हैं वे पर हैं।

१०

महाराजका व्याख्यान ब्रह्मचर्यपर हुआ आपने श्रवण किया। मै भी इसपर एक बात कहता हूं। भर्तृहरिने एक श्लोक लिखा है।

'मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कंदर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥'

अर्थात् मदोन्मत्त हाथियोके गण्डस्थल विदारण करनेमे शूर-वीर कितने ही मनुष्य इस पृथिवीपर हैं। और कितने ही मनुष्य प्रचण्ड सिहके वधमे दक्ष हैं–समर्थ हैं, किन्तु मै वलवान् पुरुषोंके सामने जोर देकर यह कहता हूं कि कंदर्पके दर्पको नष्ट करनेमे विरले ही मनुष्य शूर हैं। जिसने कंदर्पका दर्प दल दिया वह आगामी भवमें पैदा नही होता। यह कठिन वात नही है अभ्याससे सब संभव है। वलवान् मनुष्य ही ब्रह्मचर्यका पालन कर सकता है, निर्वल मनुष्य इसका क्या पालन करेगा ?

आपने छत्रशालका जीवनचरित्र नहीं पढ़ा। वह वड़ा सुन्दर था। उसे देखकर एक स्त्री उसपर मोहित हो गई पर कहे कैसे ? एक दिन छत्रशाल वन विहारके लिये गया वह स्त्री भी वहीं थी। अवसर देख स्त्रीने कहा कि मेरे इच्छा है कि आप जैसा पुत्र उत्पन्न करूँ। क्षत्रशाल उसके भावको समझ गया और झटसे घुटने टेक उसके चूचुक अपने मुंहमे देकर कहने लगा मेरा जैसा क्यों ? मै ही तेरा पुत्र हूं। स्त्रीका भाव वदल गया।

मेरा तो विश्वास है यदि ब्रह्मचर्य व्रत न होता तो संसार ही डूव जाता। ब्रह्मचर्यकी रक्षासे ही संसार टिका हुआ है। समन्तभद्राचार्यने गृहस्थोंके लिये स्वदारसंतोप व्रतका उपदेश दिया है। इसीका पालन कराते कराते सप्तम प्रतिमामें स्त्रीमात्रका भी त्याग करा दिया है। देखो, ब्रह्मचर्य की साक्षात् मूर्त्ति स्वरूप महाराज आपके सामने वैठे हुए हैं। नग्न मुद्राके धारक हैं। वालकके समान निर्विकार हैं। आज ब्रह्मचर्यका दिन है अतः सबको स्वदार संतोप व्रत लेना चाहिये।

वाली मोक्षगामी पुरुप हुआ है। अपने यहाँ उसकी कथा दूसरे प्रकार है पर रामायणमे कथा है कि उसने अपने भाई सुग्रीवकी स्त्रीका अपहरण किया था अतः सुग्रीवके कहनेसे रामचन्द्रजीने

उसे युद्धमें मारा था। रामचन्द्रजीके प्रहारसे घायल होकर बाली कहता है कि, 'मैं तो सुग्रीवका वैरी हूं आपने मुझे किस कारण मारा।' तब रामचन्द्रजीने कहा कि तुमने अपने अनुजकी वधूका अपहरण किया है इसलिये तुम आततायी हो और इसीलिये तुम्हारे मारनेमे पाप नहीं है। कहनेका मतलब यह है कि परस्त्री सेवन महान् पाप है। वे संसारमे आततायी कहलाते हैं।

ब्रह्मचर्यसे क्या नहीं होता? अन्य लाभ तो जाने दो मोक्ष लक्ष्मीकी प्राप्ति भी इसीसे होती है। मुझसे पूछो तो जो विषय सुख चाहते हैं उन्हे भी ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। अभी महाराजने बताया कि मनुष्य एक मन भोजन ८० दिनमे करता है। एक मन भोजनमे एक तोला वीर्य तैयार होता है। आप उसे विषय सेवन द्वारा रोज-रोज नष्ट करते रहोगे तो क्या होगा? ऐसे आदमियों को तपेदिक न हो तो क्या होगा।

एक बार एकने लिखा कि '**बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमप्याकर्षति**' अर्थात् इन्द्रियोका समूह इतना बलवान् है कि विद्वानोंको भी आकर्षित कर लेता है। उसने यह श्लोक लिखकर एक ऋषिको दिखाया। ऋषि वसतिके बाहर मठ बनाकर रहता था। बोला इस श्लोकमे जो 'विद्वान्समप्याकर्षति' लिखा है उसे काट दो। यह ठीक नहीं है। लिखनेवालेने कहा अच्छा महाराज काट दूँगा। अब उसने जाकर बहुरूपिणी विद्या सीखी और सोलह वर्षकी युवतीका रूप बनाकर दिनके तीन बजेके करीब ऋषिकी कुटियाके पाससे निकला और वहाँ ठहरनेकी इच्छा प्रकट की। ऋषिने कहा कि तुम स्त्री हो। यहाँ स्त्रियाँ नही ठहर सकती अतः आगे चली जाओ। उसने कहा महाराज मै अकेली अवला, रात आनेवाली है, जंगलमें कहाँ रहूंगी? यहाँ आपके आश्रय एक वृक्षके नीचे पड़ी रहूँगी। ऋषिने फिर भी मना किया पर वह वहाँसे नहीं हटा। रात्रि होने

पर ऋषिने अपनी कुटिया की साकल भीतरसे बन्द कर ली। उस पुरुषने भी बाहरसे सांकल लगा दी। जब मध्यरात्रि हुई तो उस स्त्री वेषधारी पुरुषने शृङ्गारके गाना शुरु किये। रूप तो ऋषि महाराज दिनको देख ही चुके थे। उसके हाव-भाव भी उनके मनमें जमे हुए थे। गाना सुनकर उनके मनमें कामभाव जागृत हो उठा। बोले, बेटी साकल खोलो, मुझे पेशाब जाना है। वह बोला, महाराज, मैं यहाँ अकेली अबला आपका क्या विश्वास? मेरी यहाँ कौन रक्षा करेगा? आप अपने ठीकरेमें पेशाब कर लीजिये, सबेरे फेंक देना। अन्तमें ऋषि छप्पर तोड़कर उसके पास आ गये। तब तक उसने स्त्रीका वेष हटा दिया था और अपने पिछले रूपमें प्रकट होकर महाराजको वह श्लोक दिखाया और पूछा कि इसमेंसे 'विद्वान्समप्याकर्षति' अंश रहने दिया जाय या हटा दिया जाय। ऋषि बोले बेटा, इसे सुवर्ण अक्षरोंमें लिख दो।

कहनेका तात्पर्य यह कि यद्यपि इन्द्रियाँ बलवान् अवश्य हैं पर अभ्याससे इन्हें जीता जा सकता है। यदि कोई नहीं जीत सके तो मोक्षमार्ग ही कैसे चले।

दैनन्दिनीके पृष्ठ

दैनन्दिनी के पृष्ठ

आत्मपरिणतिको कलुषित होनेसे बचाओ। परकी सहायता-से किसी भी कार्यकी सिद्धि न होगी, और न कोई अकार्यकी सिद्धि होगी। जैसे शुद्धोपयोग निजत्वका साधक है, वैसे ही राग-द्वेष संसारके साधक है। मेरा न कोई शत्रु है और न कोई मित्र है। मैं स्वकीय परिणति द्वारा स्वयं ही अपना शत्रु और मित्र हो जाता हूँ।

(इटावा, पौष शु० १२)

सर्वसे क्षमा मॉगनेकी अपेक्षा अंतरंग क्रोधपर विजय प्राप्त करो। ऐसा वचन मत बोलो, जिससे किसीको अंतरंगमे कष्ट पहुंचे। इसका अभिप्राय यह है, जो अपने हृदयमे परको कष्ट पहुॅचे, ऐसा अभिप्राय न हो। वचनकी मधुरता और कटुकतासे इसका यथार्थ तत्त्व अनुमित नहीं होता।

(पौष शु० १३)

लोक वञ्चनाको उन शब्दोका व्यवहार करते है, जो लोक समझे यह विरक्त है। विरक्तताका अंश भी नहीं, यदि विरागता-का अंश भी होवे, तब स्वप्रतिष्ठाके भाव न होवें।

(इटावा, पौष शु० १४)

संसारमे सुखका उपाय निराकुलता परिणति है। निराकुल परिणतिका मूल कारण अनात्मीय पदार्थोमे आत्मीय बुद्धिका त्याग है। उसके होते ही राग-द्वेष स्वयमेव पलायमान हो जाते हैं। पौरुप सर्वसे मुख्य यह है, जो अभिप्रायमे साधुता आजावे। जब तक परको निज मानता है, तब तक असाधुता नही जा

सकती। जहाँ असाधुता है, वहां राग-द्वेषकी सन्तति निरन्तर स्वकीय प्रभुत्व स्थापित किए है।

(पौष शु० १५)

सर्वको प्रसन्न रखनेकी चेष्टा, अग्निमें कमल उत्पन्न करनेकी चेष्टा है। अपनी परिणति स्वच्छ रखो, संकोच करना अच्छा नहीं।

(माघ कृ० १)

आज श्रीगुरुदेवसे यह प्रार्थना की, हे गुरुदेव! अब तो सुमार्गपर लावो। आपकी उपासना करके भी यदि सुमार्गपर नही आए, तब कब अवसर सुमार्गपर आनेका आवेगा। गुरुदेव! अभी तुमने गुरुदेवकी उपासना नहीं की, केवल गल्पवादमें तुम्हारी चेष्टा है। हम तो निमित्त है, तुम्हें उपादानपर दृष्टिपात करना चाहिए।

(माघ कृ० २)

कोईका सहारा लेना उत्तम नही, सहारा निजका ही कल्याण करनेवाला है। पंचास्तिकायमे श्रीयुत कुन्दकुन्द महाराजने यहाँ तक लिखा है, जो आत्मन् संसार बन्धनसे छूटना चाहता है, तब श्रीजिनेन्द्रकी भक्तिको भी त्याग दे। यह औपचारिक कथन है, जिस समय यह जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है, शुभ और अशुभ कार्योंमे इसकी उपादेय बुद्धि नहीं रहती। करना नहीं चाहता, करनी पड़ती है।

(माघ कृ० ३-४)

निवृत्ति ही कल्याणका मार्ग है, अन्ततो गत्वा यही शरण है। पर पदार्थका सम्बन्ध छोड़ना ही शान्तिका मार्ग है, शान्तिका उपाय अन्य नहीं। शान्तिका मार्ग निजत्व दृष्टि है।

(माघ कृ० ७)

जैसे हमारी दृष्टि परकी ओर है, वैसे आत्माकी ओर लगाना ही कल्याणका मार्ग है। लोक परकी चिन्तामें अपना काल व्यय कर देते हैं।

(माघ कृ० १०)

दान करना उत्तम है; परन्तु रूढ़िमें पर्यवसान सर्व हो जाता है। जैनधर्ममें दानकी विधि है, आज दान देनेमें कोई क्षति नहीं। पर पदार्थको जब चाहे त्याग सकता है। परन्तु उससे पुण्यकी आशा करना अच्छा नहीं।

(माघ कृ० ११)

संसारमें शान्ति सर्व चाहते हैं। उसका मूल उपाय यह है जो अशान्ति होती है, उसका मूल कारण क्या है उसपर हमें ध्यान देना चाहिए। अशांतिका मूल कारण अभिलाषा है और उसकी मूल जननी पर पदार्थोंमें आत्मीयता है। पर पदार्थोंके संग्रहमें एक अपना उपयोग फँसा देते हैं। जिस दिन हमारे ये नहीं है, यह ज्ञान हो जावेगा अनायास वह मिट जावेगी।

(माघ कृ० १२)

कमण्डलु-पीछी परमार्थसे वही रख सकता है, जिसके अंतरंगमें संसारसे भीरुता हो। भीरुता उसे हो सकती है, जो इसे दुःखात्मक समझे। दुःखका कारण परमार्थसे पर नहीं, हमारी कल्पना ही इन पदार्थोंमें निजत्व मान दुःखकी जननी बन जाती है। दुःखका कारण रागादिक है।

(माघ कृ० १३)

शान्तिका मूलमंत्र अन्तरंगकी कलुषता न हो। कलुषताका कारण पर पदार्थोंमें ममत्व बुद्धि है। ममता बुद्धि ही संसारकी जननी है। जब पर पदार्थोंमें आत्मीय अंश भी नहीं, तब उसमें राग करना व्यर्थ है। परन्तु यह मोही जानकर भी गर्तमें पड़ता

है। इसके दूर करनेका यत्न करो।

(माघ कृ० १४)

धर्म के अर्थ सरल परिणाम ही कारण हैं। सरलतासे तात्पर्य परिणामोमे पर पदार्थोंसे जो राग द्वेष होता है वह नहीं होना चाहिए। यह बात कब हो? जब परमे निजत्व कल्पना न हो। निजत्व कल्पनासे ही अनुकूल और प्रतिकूल भाव होते हैं। जहाँ स्वरुचिके अनुकूल पदार्थ हुआ, वहाँ राग और प्रतिकूल हुआ, वही द्वेष हो जाता है।

(माघ कृ० ३०)

आत्मतत्त्वकी यथार्थता प्रत्येक व्यक्तिमे होती है। परन्तु उसकी अनुभूतिसे वञ्चित रहते हैं। इसका मूल हेतु हमारी अनादिकालसे परानुभूति ही है। यद्यपि परानुभूति होती नहीं; क्योंकि ज्ञानमें स्व पर्यायका ही संवेदन होता है। किन्तु हमारे मिथ्यात्वकी इतनी प्रबलता है, जो हम स्व-स्वरूपसे वञ्चित रहते हैं; परको ही निज मान रहे हैं।

(माघ शु० १)

शान्तिका मार्ग स्वाधीन है, इस प्रतिज्ञासे नहीं मिलता। कर्तव्यसे मिलता है।

(माघ शु० २)

वास्तवमें आत्मा एकाकी है, परका सम्पर्क ही उसकी जड़ है। दुःख क्या है? जो नाना प्रकारकी इच्छाएँ हैं, वही इस दुःखकी खनि हैं।

(माघ शु० ३)

शान्तिका आस्वाद आज तक नहीं आया, इसका मूल कारण विरोधी पदार्थोंमें तन्मयता है। हम क्रोधको त्यागनेमें असमर्थ हैं, और क्षमाका आस्वाद चाहते हैं। यह असम्भव है। संस्कार निर्मल

बनानेकी आवश्यकता है। हम आज तक जो संसारमें भ्रमण कर रहे हैं, इसका मूल कारण अपनेको अनादि संस्कारोंके न त्यागनेकी ही कुटेव है।

(माघ शु० ७)

आज भारतमें नवीन विधान लागू होगा। श्रीयुत महाशय राजेन्द्रप्रसादजी विहारनिवासी इसके सभापति होंगे। आज भारत को स्वतंत्रता मिली, परन्तु इसकी रक्षा तो निर्मल चारित्रसे होगी। यदि हमारे अधिकारी महानुभाव अपरिग्रहवादको अपनावें, सरल रीतिसे स्व-परका भला कर सकते हैं।

(मा० शु० ८ । ७ २६ जनवरी)

विना स्वार्थके कोई भी महाशय इष्ट पदार्थके अधिकारी नहीं। स्वार्थसे तात्पर्य निज स्वभावका है। अनादिसे हमारे साथ शरीरका सम्बन्ध है। शरीरको ही हम निज मान रहे हैं, निरन्तर इसकी रक्षामें आत्मीय शक्ति लगा देते हैं। यह जड़ है, इसके पोषण-शोषणसे आत्माका न हित है और न अहित है।

(माघ शु० ९)

जिनने ध्यान पर दृष्टि दी, उनने संसार बन्धनको काटा। संसार बंधनका कारण चित्तकी व्यग्रता है। जहाँ चित्तकी व्यग्रता है, वहाँ अनेक प्रकारके पदार्थोंका विकल्प रहता है और वह विकल्प रागादिसे दूषित रहता है। मनमें पदार्थ आवे, इससे कोई क्षति नहीं, परन्तु उसके साथ इष्टानिष्टकी कल्पना रहती है और यही विष है।

(माघ शु० ११)

शान्तिका मार्ग न तो पुस्तकोंमें है और न तीर्थयात्रादिमें है, और न सत्समागमादिमें है और न केवल दिखावाके योग निरोधमें है; किन्तु कषाय निग्रह पूर्वक सर्व अवस्थामें है। मेरी यह अटल

श्रद्धा है। श्रद्धाकी यह शक्ति है; जो उसके साथ ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है और स्वानुभावात्मक निज स्वरूपमें प्रवृत्ति हो जाती है।

(माघ शु० १२)

बाह्य दृष्टिसे लोक प्रभावना चाहते हैं, प्रभावनाका जो मूल तत्त्व है, वह बहुत दूर है।

(माघ शु० १३)

हम निज परिणति पर ध्यान नहीं देते, इसीसे दुःखके पात्र होते हैं। दुःखका सद्भाव अपनी भूलसे ही है, आज तक भूलका कारण परको ही निज जाना। मुखसे तो पाठ सर्व पढ़ते हैं। करनेमे क्या पर है? परके उपदेष्टा अनेक हैं। आप चाहे गर्तमें पड़ें।

(माघ शु० १५)

मोक्षमार्गके उपदेश कहे और सुने; परन्तु उनपर आरूढ़ नहीं हुए और न इसकी चेष्टा ही है। अनादिकालसे संस्कार परमें निजत्व कल्पनाका है, वह कब दूर हो? ऐसी कथा करनेसे उसका दूर होना कठिन है।

(फाल्गुन कृ० १)

सर्वोत्तम बात तो यह है; जो किसीके चक्रमें न आवे। चक्र ही भ्रमण करनेका मुख्य कारण है। मनुष्योंसे स्नेह करना ही पापका कारण है। संसारका मूल कारण यही है; जिन्हें संसार बंधन उच्छेद करना है, उनको उचित है पराई चिन्ता त्यागें। परकी चिंता करना मोही जीवोंका कर्तव्य है।

(फाल्गुन कृ० २)

कोई भी परके विषयमें भलाई-बुराई नहीं सोचता। आत्मीय कषायके अनुकूल ही प्रवृत्ति करता है। इस प्रकारकी प्रवृति ही संसारकी है। विशेष ऊहापोहकी आवश्यकता नहीं।

(फाल्गुन कृ० ३)

आत्माकी परिणति देखने-जाननेकी है। उसमे इष्टानिष्ट कल्पना जो होती है वही संसारकी जड़ है। जिनको संसारका अन्त करना है वे परसे आत्मीयता त्यागें।

(फाल्गुन कृ० ४)

स्वाध्यायका फल स्व कहिए आत्मविषयक अध्ययन जिसमे हो अर्थात् स्वका परसे भेदज्ञान हो जावे। यही कारण स्वाध्यायसे संवर और निर्जरा होती है। आगमाभ्याससे उत्तम मोक्षमार्गमे अन्य सहायक नही।

(फूफ, फाल्गुन कृ० ८)

महती आवश्यकता विशुद्धिकी है, बिना भेदज्ञानके विशुद्ध परिणति होना दुर्निवार है। भेदज्ञानका बाधक परपदार्थमें निजत्व कल्पना है। भेदज्ञानके होनेमे सर्वसे मुख्य कारण आत्मीय ज्ञानको अपनाना चाहिए। जैसे हम घटपटादिक पदार्थोंको जाननेमे मनोवृत्ति रखते है, उसी प्रकार आत्मज्ञानमे चेष्टा करनी चाहिए।

(भिड फाल्गुन कृ० ११)

उपदेशका फल तो यह है, जो परलोकके अर्थ प्रयत्न किया जावे। जो मनुष्य आत्मतत्त्वकी यथार्थतासे अनभिज्ञ हैं, वे कदापि मोक्षमागके पात्र नहीं हो सकते।

(फाल्गुन कृ० १३)

प्रायः चर्चाका विषय यही रहता है, जो सम्यग्दृष्टि कुदेवादिका पूजन कर सकता है या नही ? निष्कर्ष यही निकला, जो नहीं कर सकता। तथा प्रमाण भी दिया—"भयाशास्नेहलोभाच्च०" सम्यग्दर्शन तो वह वस्तु है, जो अनन्त संसारके बंधनोंसे छुड़ा देता है। वह क्या कुदेवादिकोकी सेवा कर सकता है ?

(फाल्गुन कृ० २०)

मेरा तो यह विश्वास है; जो वक्ता है वह स्वयं इसके प्रभावमें

नहीं आता। अन्यको प्रभावमे लाना चाहता है। यह महती त्रुटि प्रवचनकर्त्तामें है, एक हजार वक्ता और व्याख्यानवालोमें एक ही अमल करनेवाला होना कठिन है।

(फाल्गुन शु० १)

कषाय करना अत्यन्त हेय है, उसे त्यागना चाहिए। परन्तु यही कठिन है, कारण अनादि की वासना कठिन है।

(फाल्गुन शु० २)

सर्व मनुष्योंके धर्मकी आकांक्षा रहती है, अपना उत्कर्ष भी इष्ट है; परन्तु मोहके नशामें अन्धे की सी दशा होरही है। यही अकल्याणका मूल है।

(फूफ, फाल्गुन शु० ४)

मिलना ही बन्धका जनक है। जो आत्मा बन्धनसे मुक्त होना चाहता है, उसे उचित है कि परपदार्थोंकी संगति छोड़े। द्वादशांग (श्रुतज्ञान) शास्त्रका अन्तिम उद्देश्य परसे भिन्न अपनेको जानो, गल्पवादसे सुरक्षित रहो।

(इटावा, फाल्गुन शु० ७)

आजसे अष्टान्हिका पर्वका आरम्भ होगया, यह महा पर्व है। इस पर्वमें देवगण नन्दीश्वर द्वीप जाते हैं। वहाँपर बावन जिनालय हैं। मनुष्योंका गमन वहाँपर नहीं। देवगण ही वहाँपर जाते हैं। मनुष्य चाहे विद्याधर हों, चाहे ऋद्धिधारी मुनि हो, नहीं जा सकते। किन्तु मनुष्योंमें वह शक्ति है; जो संयमांशको ग्रहणकर देवोंकी अपेक्षा असंख्यगुणी निर्जरा कर सकते हैं।

(फाल्गुन शु० ८)

संसारके चक्रमें जीव उलझ रहा है। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, इन संज्ञाओंके आधीन होकर आत्मीय स्वरूपसे अपरिचित रहता है। आत्मामें ज्ञायकशक्ति है, जिससे वह स्व-परको

जानता है। किन्तु अनादिकालसे मोहमदका ऐसा प्रभाव है, जो आपापरकी ज्ञप्तिसे वञ्चित रखता है।

(फाल्गुन शु० ९)

संसार एक अशान्ति का भण्डार है, इसमें शान्तिका अत्यन्त अनादर है। वास्तवमे अशान्तिका अभाव ही शान्तिका उत्पादक है। अशान्तिके प्रभावसे सम्पूर्ण जगत व्याकुल है। अशान्तिका वाच्यार्थ है अनेक प्रकारकी इच्छाएँ। वे ही हमारे शान्तिस्वरूपमें बाधक है। जब हम किसी विषयकी अभिलापा करते हैं, आकुलित हो जाते हैं। जब तक इच्छित विषयका लाभ न हो, दुखी रहते है।

(फाल्गुन शु० १०)

दुखका कारण हर्ष-विषाद है। हर्ष-विषादका मूलकारण ममताभाव है।

(फाल्गुन शु० ११)

जो मनुष्य शान्ति चाहते है उन्हें उचित है जो परजनोके संसर्गसे सुरक्षित रहें। परके संसर्गसे बुद्धिमें विकार आता है। विकारसे चित्तमे आकुलता होती है। जहाँ आकुलता है वहाँ शान्ति नहीं। शान्ति विना सुख नहीं। सुखके अर्थ ही सर्व प्रयास मनुष्य करता है। मेरा तो यह विश्वास है, शान्तिके अर्थ ही जितने उपाय किए जाते हैं, बाधक ही है। उपायोसे दूर रहना ही उपाय है।

(फाल्गुन शु० १२)

जिन जीवोंको यह निश्चय होगया जो मैं परसे भिन्न हूं। वह कदापि परके संयोगमें प्रसन्न और विषादी नहीं हो सकता। प्रसन्नता और अप्रसन्नता मोहमूलक है। मोह ही एक ऐसा महान् शत्रु इस जीवका है जो उसीके प्रभावसे यह चौरासी लाख योनियें भ्रमण है। अतः जिन्हें यह भ्रमण इष्ट नहीं उन्हें इसको त्यागना चाहिए।

(इटावा, फाल्गुन शु० १४)

निवृत्तिमार्गकी सिद्धि मानना परम अज्ञानता है।

(चैत्र शु० १०)

जैनधर्मका मर्म अब प्रतिदिन ह्रास होता जाता है प्रायः मनुष्य शुद्ध भोजन करनेवाले नहीं रहे और जो हैं वे भी नगण्य हैं, अस्तु, यह कक्षा भी मोहकी है।

(चैत्र शु० ११)

मोक्षमार्ग उसीके होता है, जो परकी चिन्तासे दूर रहता है। पर चिन्तातुर धर्मसे दूर रहता है।

(चैत्र शु० १५)

आज यहाँ कमेटी हुई, परन्तु कुछ हुआ नहीं, केवल परस्पर मनोमालिन्य ही तत्त्व निकला। यहाँ पर श्री धनवन्तीजी विधवा, जो कि श्री स्वर्गीय ज्ञानचन्द्रजी की धर्मपत्नी हैं, अपना द्रव्य ७५०००) विद्यालयमें देना चाहती हैं, किन्तु ट्रस्ट बननेमें विलम्ब हो जाता है। नाना मनुष्य नानामेल हैं। परोपकारमें प्रथम तो प्रवृत्ति नहीं होती। यदि कोई करना चाहे तब उसमें रोरा अटकानेवाले बहुत हो जाते हैं। अस्तु, हम स्वयं अपनी परिणतिको पवित्र रखनेमें अक्षम हैं। घर छोड़ा, श्री पूज्या स्वर्गीय चिरौंजा माताने पुत्रसे अधिक पाला। परोपकारकी भावना भी उनकी न थी। केवल इसका भला हो जावे इसके अर्थ उनने अपना सर्वस्व लगा दिया और यह भी शिक्षा दी कि "बेटा! आत्मकल्याणके अर्थ किसी संस्था या संघमें न पड़ना, अन्यथा पछतावेगा। आत्मद्रव्य स्वतन्त्र है, अनादिसे मोहके द्वारा परको आत्मीय मान अनन्त यातनाओंका पात्र बन रहा है। अतः सबसे प्रथम तो इस आत्मीयभावको जो परको आत्मीय मानता है, त्याग दे। पश्चात् जो शक्ति अनुसार बने त्याग मार्गमें चेष्टा कर। केवल लोक प्रतिष्ठाके अर्थ त्याग मत कर। यदि लौकिक प्रतिष्ठाके अर्थ

त्याग है तब यह निश्चय कर जो अभी मैंने अपने स्वरूपको नहीं समझा। मुझे यह विश्वास है, जो मै सरल हूं, अतः मेरी बात मानेगा।"

(वैशाख बदी १)

सर्वत्र सब देखा, पर आपमें आप न देखा। संसारको कल्याणका पाठ पढ़ाते, शाब्दिक जालसे निरन्तर पुरुषार्थ करनेमें सर्व शक्तिका अपव्यय करते करते यह जन्म बीता जाता है। परन्तु एक मिनटके सहस्र भाग कालको स्वात्महितमें नहीं लगाया, इसी पर यह अभिमान जो हम क्षुल्लक हैं। क्षुल्लक ही तो रहे, आप शूद्रोंकी यही दशा होती है।

आगमकी आज्ञा तो मुख्यतया निवृत्तिमार्गके अग्रेसर बनो, यही है। हमलोग जो काम करते हैं, लौकिक प्रशंसाके लिए ही करते हैं। शरीरमे निजत्वबुद्धिकी कल्पना ही इसका मूल कारण है।

(वैशाख कृ० ४)

अपनी ज्ञायक परिणति निर्मल करना चाहिए। परसे ममता भावको कर निजत्वको भूलना यही संसार बन्धनका प्रथम प्रयास है। इस हीसे अखिल उपद्रव होते हैं और यही अनर्थोंका मूल कारण है। इसीके प्रतापसे आज संसारमे त्राहि-त्राहिकी आवाजें आ रही हैं।

आज शास्त्र प्रवचनमें मेरे मुखसे असभ्य शब्द निकल गया कि दान देनेवाले भी लुटेरे हैं और लेनेवाले भी लुटेरे हैं। यद्यपि यह शब्द कटुक है, परन्तु अन्तरङ्गसे, जब सर्व द्रव्योंकी सत्ता पृथक्-पृथक् है तब जीव द्रव्य चेतना गुणका पिण्ड मात्र वस्तु है और धनादिक द्रव्य जड़ स्वरूप भिन्न हैं। जब उन दोनोंकी सत्ता भिन्न-भिन्न है तब जो जीव उसे निज माने वह मिथ्याज्ञानी

है, तथा परमार्थसे तस्कर है। उसको अपना मानकर ही तो प्रदान करता है। यदि उसको लुटेरा कह दिया तब इसमें कौन-सा अपराध है ? और जिसने उसे लिया, उसमें निजत्व ही तो माना अर्थात् मैंने इतना द्रव्य पाया। वह भी तस्कर हुआ और जिसने इसकी अनुमोदना की वह तस्करोंकी अनुमोदनाका कर्त्ता हुआ। और जिसने हमें उपदेश दिया, उसमें प्रथम तो हमें पर द्रव्यका स्वामी माना फिर करुणा-बुद्धिके वश हो हमसे अन्यको दिलाकर तस्कर बनानेकी ही चेष्टा की। अतः मेरा तो यह विश्वास है कि ये सर्व मोहके चक्रमें हैं। तात्त्विक बात तो यह है, जो संसारसे मुक्त होना चाहे वह इन विकल्पोंको छोड़ ज्ञाता-दृष्टा रहे, यही मोक्षमार्ग है।

(वैशाख बदी ५)

चित्तवृत्तिको स्थिर करो। किन्तु भावना पवित्र हो। आर्त-रौद्रकी गन्ध न हो, धर्मध्यानकी भी अभिप्रायसे वासना न हो। जहाँ शुभको भी अनुपादेय माना है, उस तत्त्वकी प्राप्तिमें परकीय अवलम्बनको अवकाश नहीं। धर्मध्यानमें पर पदार्थ आलम्बनसे हानि नहीं, परन्तु उसके साथ कषायके अंश हैं, वे बाधक हैं। यदि कषायके अंश न रहें, तब ज्ञान स्वयमेव स्थिरभावको प्राप्त हो जावे।

(वैशाख कृ० ६)

वृद्धसे तात्पर्य जो आयुसे वृद्ध हो उनसे तात्पर्य नहीं। तात्पर्य उनसे है जो ज्ञान, चारित्रसे वृद्ध हो। जिसका चारित्र निर्मल है वह परोपकार कर सकता है। आत्माकी परिणतिका स्वच्छ होना ही संसारको निर्मूल करनेवाली है। जिसने इस ओर दृष्टि नहीं दी वही इस चतुर्गति संसारके दुःखोंका पात्र है। दुःखका उदय आप हीमें होता है और आप हीसे उसका विलय हो जाता है। यह पर

सापेक्ष पर्याय है, यह निमित्तकी अपेक्षा कथन है। उत्पत्तिका मूल तो स्वयं है, किन्तु इसमे मोहादि अनेक कारण कलाप चाहिए। इसीसे इन भावोंको परजन्य कहा है।

किसीके सहवासमें रहकर आत्मकल्याणका होना असम्भव है। मोक्ष नाम ही छूटनेका है। अर्थात् केवल जीवकी अवस्थाका नाम ही मोक्ष है। आत्माकी शरीरके साथ जो एकता है वही संसारकी जननी है।

(वैशाख कृ० ७)

सर्व ही मनुष्य स्वार्थी है, तब तुम भी स्वार्थी हो। जीवका स्वभाव ही स्वार्थानुरूप होता है, तब तुम क्यो इससे वञ्चित रहते हो ? क्योकि जब जीवका स्वभाव यथार्थ है, तब इसमें कोई भी शङ्का मत करो।

(वैशाख कृ० ८)

द्रव्यकी सिद्धिसे चारित्रकी सिद्धि होती है। अर्थात् जिसको द्रव्यका सम्यग्ज्ञान होता है वही आत्मा सम्यक्चारित्रका पात्र होता है। तथाहि—'**न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते ज्ञानानन्तरं चारित्राराधनं तत्मात् ।**'

स्वामी समन्तभद्राचार्यने भी कहा है—

'मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥'

इससे यह सिद्ध होता है कि चारित्र धारण करनेका पात्र सम्यग्ज्ञानी ही हो सकता है। अतः 'प्रवचनसार' के चारित्राधिकारमें प्रथम ही लिखा है। "**द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः चरणस्य सिद्धौ द्रव्यस्य सिद्धिः**"। पहले तो तात्पर्य यह है,

अन्तरङ्गसे विचार करके देखो तब आपने अपने ऊपर ही दया की। दूसरे पर दया कहना यह तो उपचारमात्र है। जिस दिन हम इस वस्तुको यथार्थ समझ जावेंगे, अनायास कर्तृत्वबुद्धिके अभिमानसे विनिर्मुक्त हो जावेंगे। अज्ञानसे आत्मामें कर्तृत्वका आरोप करता है।

'कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत्।
अज्ञानादेव कर्तायं मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥'

जैसे आत्माका भोक्तृत्व स्वभाव नहीं है वैसे ही कर्तृत्व स्वभाव नहीं। अज्ञानसे ही यह आत्मा कर्त्ता है, सो यह व्यवहार माननेवाले जीवोंका मोह है। परमार्थसे जो-जो पर्यायें होती हैं वे सब स्वीय-स्वीय द्रव्य और गुणोंमें होती हैं। ऐसा सिद्धान्त है—

'जो जम्हि गुणो दव्वे सो अणम्हि दुण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं॥'

जो पदार्थ है वह आत्मीय द्रव्य और गुणमें ही तादात्म्यसे रहता है। चेतन पदार्थ और चेतन गुण चेतन द्रव्यमें ही रहेगा, अचेतन पदार्थ और अचेतन गुण अचेतन द्रव्यमें ही रहेगा। अनादिसे ऐसी ही वस्तुकी मर्यादा है, इसका अविच्छिन्न प्रवाह चला आरहा है: इसका कोई अपलाप नहीं कर सकता।

गम खाओ और कम बोलो। गल्पवादसे बचो, आवश्यक कार्यसे कभी भी पराङ्मुख मत हो। केवल अन्यको उपालम्भ देते है कि आत्मकल्याण करो। मार्ग इसका क्या है? तब यही उत्तर मिलता है, मूर्च्छा त्यागो। इन महापुरुषोंसे कोई प्रश्न कर बैठे, क्या आप जो उपदेश दे रहे हो; सो क्या मूर्च्छाके बिना ही आपके दिव्य उपदेश हो रहे हैं? तब यही उत्तर मिलेगा चारित्रमोहकी

महिमा है, हमारा भी यही उत्तर है।

(वैशाख कृ० ९)

स्थिरतासे कार्य करो, अन्यकी प्रवृत्ति देख दुखी मत हो। सुख-दुख दोनों ही वैभाविक भाव हैं, इनका परित्याग करो। केवल ज्ञाता द्रष्टा रहो, परको जाननेसे या जाननेकी जिज्ञासासे आत्मा दुखी नहीं होता। दुःखका मूल कारण परमें ममता परिणति है। जानना न तो सुखका कारण है और न दुखका कारण है, परमें इष्टानिष्ट कल्पनासे सुख और दुखका शरण है।

मनुष्य जन्मका लाभ बहुत पुण्यका फल जानो, इसका महत्त्व सदाचार द्वारा व्यक्तकर कल्याणभागी हो। लोकमें इच्छाकी पूर्तिको सुख मानते हैं। अर्थात् जिस विषयकी इच्छा होती है; जब तक वह विषय प्राप्त न हो, महती आकुलता रहती है,—और आकुलता ही दुखरूप है। विषयके प्राप्त होने पर आकुलता उपशम हो जाती है। एतदपेक्षा इच्छाकी उत्पत्ति न हो, यह उससे भी उत्तम उपाय है।

(वैशाख कृ० ९, १०, ११)

जो अन्तःकरण साक्षी दे, उसे करो। संसार अनादिसे है, किसीके कालादि लब्धिवश सम्यग्दर्शनादि यथार्थ गुणोंके विकाससे संसारका अन्त भी हो जाता है। ऐसे जीवोको भव्य कहते है। जिनके यह योग्यता नहीं वे अभव्य हैं। शक्तिकी अपेक्षा भव्य और अभव्य व्यवहार नहीं। व्यक्तिकी अपेक्षा यह व्यवहार है। सदाकाल प्रसन्न रहो।

(वैशाख कृ० १२)

विभव पाकर शांत रहना महापुरुषोकी महत्ता है। जो वस्तु आत्मीय नहीं, उसका अभिमान करना महती अज्ञानता है। तत्त्वदृष्टिसे देखो तो धनादिक पदार्थ तो हैं ही; जो आत्मीय पुत्र

जिस कार्यके करनेमे भय हो मत करो। अन्तरंग ही बहिरंगसे अनुकूल रहे। संसारमें मायाका व्यवहार है; कहना कुछ, करना कुछ, मनमें कुछ, यह बात हम स्वयं कर रहे हैं। प्रतिदिन संसार असारताकी बात करते हैं और लोगोंको समझानेका प्रयत्न करते हैं। स्वयं कुछ करते नही। लोगोको वह समझाते हैं, मानो हममें वह परिणमन हो गया हो।

(वैशाख शु० ३)

हम परके कर्त्ता बनते हैं, फल उसका आकुलता और आगामी संसार है। कर्तृत्व इस आत्माका स्वभाव नहीं, किन्तु वैभाविक विकार है। स्वके परिणामका कर्त्ता तो आत्मा है ही; किन्तु परका कर्तृत्व इसमे नहीं। जो परका कर्त्ता अपनेको मानता है। वही संसारमे परिभ्रमण करता है और अनन्त यातनाओंका पात्र बनता है।

जो काम करते हो उसमे अन्तरङ्ग लोकेषणाकी भावना है, वही नाच नचाती है। यदि लोकेषणासे नहीं बच सके तब भेद-ज्ञानके पात्र होनेका संकल्प छोड़ दो। व्रतधारण करनेका तात्पर्य तो राग-द्वेष दूर होनेका है। यदि व्रतधारण करनेपर राग-द्वेष निवृत्त न हुए तब वह व्रत नहीं, एक तरहकी आत्मवञ्चना है।

आत्म-वञ्चनाका अर्थ उस व्रतका फल संसार निवृत्ति नहीं। मनुष्य पर्यायमें प्रायः इतर पर्यायोकी अपेक्षा सर्व साधन अनुकूल हैं। देवोंमें शक्ति बहुत है; परन्तु उसका उपयोग वे केवल शुभो-पयोगमें ही कर सकते हैं। वे भगवान् तीर्थंकरके जन्म कल्याणके उत्सवमें आते हैं और भगवान्को सुमेरु पर्वतपर ले जाकर क्षीर समुद्रके क्षीरसे भगवान्का अभिषेक करते हैं। राजगद्दीके अवसर पर अनेक प्रकारके बाह्य उपकरणो द्वारा इतनी शोभा कर सकते हैं, जो हमको दुर्लभ है। तप (दीक्षा) कल्याणकके अवसरपर भग-

वान्की लौकान्तिक देव आकर द्वादशानुप्रेक्षाका पाठ पढ़कर ही अपना नियोग पूर्णकर चले जाते हैं; किन्तु द्वादश अनुप्रेक्षा, जो वैराग्यकी जननी है; उसके लाभके वह पात्र नहीं होते। इन्द्रादि भगवान्को पालकीमें विराजमानकर दीक्षा उत्सवकर अपनेको कृत्य-कृत्य मानकर चले जाते,हैं अणुमात्र भी त्याग नहीं कर सकते।

मनुष्य पर्य्यायवाला जीव यदि चाहे तब भगवान्के सदृश ही दीक्षा धारणकर कर्मबन्धनको नाश करनेका पात्र हो जाता है। अतः सर्व पर्य्यायोंमें ऐसी उत्कृष्ट पर्य्यायका फल यदि संयम धारण न किया तब व्यर्थ ही मनुष्य भवको खोया। अहर्निश चर्चा करते हैं, जो मनुष्य पर्य्यायको पाकर व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिए। ऐसे-ऐसे उदाहरण सम्मुख रखेंगे, जो मनुष्य पर्यायको पाकर संयम धारण न कर विषयोंमें लीन होकर आत्म-चरित्रसे वञ्चित रहते हैं। वे राखके अर्थ चन्दन वनको भस्म और काक उड़ानेके अर्थ चिन्तामणि रत्नको फेंक देते हैं। इत्यादि व्याख्यानों द्वारा श्रोतागणोंको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करते हैं; परन्तु स्वयं उस मार्ग पर आरूढ़ नहीं होते। ऐसे वक्ताओंके द्वारा न तो समाज का कल्याण होता है और न अन्य समाजका ही कल्याण होता है। हाँ, थोड़े समयके लिए तालीकी झंकार कर्ण विवरमें प्रवेश हो जाती है। धन्य हो। धन्य हो!

(वैशाख सु० ४)

वक्ता जिस ध्येयको श्रोताओंके समक्ष पालन करनेका उपदेश देता है, उस पर स्वयं आरूढ़ नहीं। अतः उस उपदेशका अणु-मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ता, प्रत्युत हास्यरसमें परिणमन हो जाता है। सिनेमामें जो पार्ट दिखाए जाते हैं उनसे जो विषय पुष्ट करनेवाले होते हैं, उन पर एकदम प्रभाव पड़ जाता है, क्योंकि वह हमारे अभ्यस्त हैं। योगशक्तिसे आत्मप्रदेश चञ्चल होने पर

भी कषायके अभावमें स्थिति और अनुभागबन्ध नहीं होता। अतः जिन्हें संसारसे मुक्त होनेकी अभिलाषा है, वे इच्छाओंको रोक देवें।

(वैशाख सुदी ५)

आगममें यह कथन बार-बार आता है, जो आत्मामें भाव अतत्स्वभाव कर उपलब्ध होते हैं। और न जिनकी नियत अवस्था तथा जो क्षणिक हैं, तथा व्यभिचारी हैं, तथा सर्व मिलकर भी स्थातु आत्मामें रहनेको असमर्थ हैं। इनसे विरुद्ध ज्ञायक भाव ही एक ऐसा है जो स्थाताके साथ नियमसे रह सकता है। अतः इन अनेक औपाधिक भावोंको छोड़ इसीकी उपासना करो।

आत्मामें अचिन्त्य शक्ति है, इसमें कुछ आता-जाता नहीं, जब तक उसका विकास न हो उसकी महत्ता नहीं। जैसे पौंड़ा (इक्षुदण्ड) में मिश्री शक्तिसे विद्यमान है। एतावता साँटाको चूसकर कोई शुद्ध मिश्रीका स्वाद नहीं ले सकता। एवं आत्मामें केवलज्ञानके सद्भावकी शक्ति है, परन्तु जब तक मोहका अभाव न हो शुद्ध ज्ञानका स्वाद नहीं आ सकता, ज्ञेयमिश्रित ज्ञानका ही स्वाद आवेगा। यद्यपि यह निर्विवाद है, जो ज्ञानमें ज्ञेय एक अंश भी नहीं जाता। यह सर्व कोई कह देता है, परन्तु अनुभवसे पूछिए क्या बोलता ? ज्ञानमें मीठा नहीं गया और न अन्य इन्द्रियजन्य ज्ञानमें रूपादिका अंश भी गया; परन्तु फिर भी पौंड़ा मीठा है। उसे इन्द्रिय जन्य ज्ञान विषय करता ही है।

(वैशाख सुदी ६)

शरीरकी निर्बलतासे कुछ आत्मकल्याणमें बाधा नहीं, बाधक तो हाय-हाय करना है। हाय-हाय पाठसे कुछ नहीं मिलता; केवल

संक्लेशता होती है, जो पाप बन्धका कारण है। अतः जो कल्याण चाहते हो, तब इसे छोड़ो। (वैशाख सुदी ७)

चित्त तो शान्त है। फिर भी भीतर न जाने कौनसी बला है; जो बलात्कार प्रेरणा करती है जो अमुक कार्य करो, अमुक न करो। काम जहाँ पर पर पदार्थ होते हैं, वहीं होता है। एकाकी पदार्थ कुछ नहीं करता। स्वयं आकाशादि पदार्थोंके सदृश स्वाभाविक परिणमन करता है। यह बात तो जब बने जब आत्मा एकाकी हो जावे। यद्यपि आत्मा जिस स्वरूपवाला है, उसी स्वरूपवाला रहेगा; यह अटल सिद्धान्त है। जैसे पुद्गल, द्रव्य रूप रस-गंध-स्पर्शवाला है, कितनी ही कैसी अवस्था उसकी हो रूप-रस-गंध-स्पर्शसे शून्य कभी न होगा। यद्यपि स्कन्धमे शब्द-बन्ध-सूक्ष्म-स्थूल आदि अनेक अवस्था पुद्गल द्रव्यकी होती हैं; परन्तु वे रूपादिसे शून्य कभी नहीं होतीं। क्योकि उनके साथ पुद्गल द्रव्यका अभेद है। यद्यपि पुद्गल विषरूप भी परिणमता है, अमृतरूप भी परिणमता है; परन्तु रूपादि गुणोंको लेकर ही परिणमता है।

(वैशाख शु० ८)

सर्व तरफसे चित्तवृत्ति हटाओ और स्वाध्यायमे लगाओ। किसीसे गल्पवाद न करो, स्पष्ट उत्तर दो। अन्तमे यह समागम त्यागना पड़ेगा। जिसको त्यागना ही पड़ेगा उसे पहलेसे त्यागो। औदारिक शरीर नश्वर है; तब क्या वैयक्रिक नित्य है? दोनो ही नश्वर हैं, फिर उनमें निजत्वबुद्धि त्यागो। इसीप्रकार आत्मानामक जो द्रव्य है, वह पुद्गलके निमित्तको पाकर अनेक अवस्थाओका पात्र होता है और वे अवस्था विजातीय पुद्गल और जीव दो द्रव्यके सम्बन्धसे जायमान है।

(वैशाख शु० ९)

संयम गुणका यह अर्थ है: जो राग-द्वेषके वशीभूत होके आत्माकी परिणति पर पदार्थोंमें विचरण करती है। वह वहाँ न जावे, निजमें ही रह जावे। दुखका मूल आकुलता है, आकुलताका मूल इच्छा है, इच्छाकी उत्पत्ति मोहसे होती है, मोहसे यह आत्मा परमें निजत्व और निजमें परत्व मानता है। यही अभेद-बुद्धि संसारकी जननी है। उन्हींको निज मान संसारमें परिभ्रमण करता है। केवल जीवमें विभाव और योगशक्ति विद्यमान है। परन्तु अष्टकर्मके सहकार विना वे शक्ति स्वभाव रूपसे पड़ी रहती हैं, कुछ हलचल और कलुषता आत्मामें नहीं होती। इसीसे भगवान् नेमिचन्द्राचार्यने बंधका कारण कषाय कहा है।

(वैशाख शु० १०)

विचारकी बात है जो अर्हतादि पञ्च परमेष्ठीका तो शुद्र जाप्य कर सके, एकदेश अन्तरङ्ग धर्मका पात्र हो सके, अनन्त संसारके कारण मिथ्यात्वको ध्वंस कर सके; किन्तु ईंट-चूनेके मन्दिरमें न आसके। श्रीचन्द्रप्रभ आदि तीर्थंकरका स्मरण कर सके; परन्तु उनकी जिसमें स्थापना है उस मूर्तिको न देख सके। यदि देखे तो बाहरसे देखे। बुद्धिमें नहीं आता। पंच पापको त्याग सके, अणुव्रती हो सके; अणुव्रतके उपदेष्टाओंके दर्शन कर सके। बलिहारी इस बुद्धिकी। (वैशाख शु० ११)

विवेकका महत्त्व आत्मदृष्टि ही जानता है, सर्व पदार्थ पृथक् सत्तालिए परिणमन कर रहे हैं। उनमें अन्यथा कल्पना ही अनर्थ संतानकी मूलखनि है। इसको जिसने उन्मूलन किया, वही विवेकका पात्र है। (वैशाख शु० १२)

परके सम्बन्धसे जैसे अग्नि घनघात सहती है, एवं आत्मा नाना दुखोंका पात्र होता है।

(वैशाख शु० १३)

यद्यपि श्री महावीरजीकी निरीहता जगत स्वीकार करता है। अहिंसाका प्रचार जितना जगतमें दृष्टिपथ है, श्री वीरके प्रभावका फल है। परन्तु जगत उतना उसका आदर नहीं करता, इसमे जैनियोका दोष नहीं। जगत स्वयं इस धर्मके स्वरूपको अपनानेसे डरता है। महावीरका धर्म वही पालन करेगा; जो निरीह होगा।

(वैशाख शु० १४)

यातनाओके होनेमें मूलकारण परमें निजत्व कल्पना है। समयसार द्वारा स्व-पर भेदविज्ञान हो जाता है। भेदविज्ञानके बाद आत्मा अपने स्वरूपमे रम जाता है, तथा परसे विरत होजाता है। इससे पर निमित्तक विकल्प मिट जाते हैं।

(वैशाख शु० १५)

न हम किसीके हुए, और न कोई हमारा है। हम परको अपना मानते हैं, इसका अर्थ यह है हम परके हैं। न तो तुम किसीके उपकारी हो, और न अपकारी हो। मोहमें कल्पना कर व्यर्थ ही कर्त्ता बनते हो और उसका फल यह जगत प्रत्यक्ष है; जहाँ अनन्त दुःखोके भोक्ता बनते हो। बुद्धिसे काम लो, परसे सम्बन्ध छोड़ो; आज ही सुखके भाजन हो सकते हो।

(ज्येष्ठ कृ० १)

अनुभव तो कहता है कि आत्माकी शांति और ज्ञान आत्मामे ही है। हम उसे अन्यत्र अन्वेपण कर रहे हैं। औदयिक भावोंसे लेकर क्षायिक भावोंकी उत्पत्ति आत्मामे ही होती है। हम उसे अन्यत्र मान रहे हैं। क्रोधादि कषाय आत्माको दुःखदायी हैं। हम क्रोधके बाह्य कारणोको त्याग करनेकी चेष्टा करते हैं।

(ज्येष्ठ कृ० ४)

संसारमें शांति सर्वत्र नहीं, यह जन-साधारणकी धारणा है।

यह कहना आपातसे है। संसार वस्तु बाह्य द्रव्य नहीं। अर्थात् संसार और मोक्ष यह दोनो आत्माके परिणाम विशेष हैं। इसीसे गृद्धपिच्छने "संसारिणो मुक्ताश्च" दो प्रकारका जीव स्वरूप बताया; एक संसारी और एक मुक्त। जिनके रागादि दोष विद्यमान हैं वे संसारी और जो इन दोषोंसे मुक्त हो गए वे मुक्त जीव है।

(ज्येष्ठ कृ० ६)

जिस कार्यके करनेमें अन्तरंगसे संक्लेश हो उसे मत करो। ऐसा कार्य न करो जिससे आत्मामें पश्चाताप हो। पापकी जड़ अज्ञानता है।

(ज्येष्ठ कृ० ८)

पदार्थ तो अन्यरूप होता नहीं और न अन्य पदार्थ आत्मरूप होता है। फिर भी हमारी अनादिसे यह धारणा बनी हुई है; जो परको अपना मानते हैं और आपको परका मानते हैं। यह कथा चेतनमें ही घटती है। अचेतन पदार्थमें न तो कल्पना है, और न कोई तज्जन्य दुःख है।

(ज्येष्ठ कृ० १०)

संसारका प्रभाव इतना विशेष है; जो उत्तमसे उत्तम मानव इसके चक्रसे मुक्त होनेको तरसते हैं। कहनेवाले बहुत हैं: परन्तु माननेवाले बहुत कम हैं।

(ज्येष्ठ कृ० १२)

पर पदार्थका परिणमन अपने अधीन नहीं। व्यर्थ खिन्न होना महती अज्ञानता है। प्रायः प्राणी अधिकांश इसीसे दुःखी रहते हैं. जो संसारमें हमारे अभिप्रायके अनुसार परिणमन हो। यह होना असम्भव है। पदार्थोंका परिणमन स्वचतुष्टयके अनुरूप होता है। उसे अन्यथा करनेमें आज तक न कोई समर्थ हुआ न होगा। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको देखकर मनुष्य उपादेय कार्यका निमित्तमे

आरोप कर लेता है। जैसे—मृत्तिकासे घट पर्याय होती है। मृत्तिका ही उसका कर्त्ता है, घट कर्म है; परन्तु व्यवहारसे कुम्भ-कारः घटं करोति अनुभवति च।' तत्त्वसे अन्तर्व्याप्यव्यापक भावके द्वारा विचार करो तव मृत्तिकाके द्वारा ही घट किया जाता है और मृत्तिका हीमें घट पर्याय अनुस्यूत रहती है। वाह्य व्याप्य व्यापक भावके द्वारा विचार करो तव मृत्तिकाके द्वारा ही घट किया जाता है, और मृत्तिका हीमे घट पर्याय अनुस्यूत रहती है। वाह्य व्याप्य-व्यापक भावके द्वारा कलश पर्यायोकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यापारको करनेवाला कुम्भकार है और कलशकृत जो लेपके उपयोग जन्य वृत्तिका अनुभवन करनेवाला कुम्भकार ही है। फिर भी लोकमे यह व्यापार होता है जो कुलाल घटको करता है और उसीको अनुभव करता है। परमार्थसे न तो कुम्भकार घटका कर्त्ता है और और न भोक्ता है। अन्यके परिणामोंका न कर्त्ता है और न भोक्ता है। निमित्त-नैमित्तिककी अपेक्षा कर्तृ-कर्मका व्यवहार मात्र होता है। इसका यह अर्थ नही जो निमित्त कुछ करता ही नहीं। यद्यपि यह सिद्धान्त है, जो कोई पदार्थ किसी पदार्थमे अपना न तो द्रव्य देता है और न गुण-पर्याय देता है। किन्तु ऐसा नियम है; जो उपा-दान कारण निमित्तकी सहकारिताके विना स्वीय कार्य करनेमे क्षम नहीं होता। जैसे—मोक्षपर्याय केवल आत्मा ही मे होती है; किन्तु मनुष्यायुका अभाव भी उसमें सहकारी कारण है। जीव ही ऊर्द्ध्व गमन करता है; किन्तु अधर्म द्रव्य उसमें सहकारी कारण है।

(ज्येष्ठ वदी १२)

प्राचीन विद्याके अभ्यासके विना हमलोग अध्यात्म ज्ञानसे वञ्चित रहते हैं। अध्यात्मके ज्ञान विना हमारी प्रवृत्ति वाह्य परिग्रहोंमे निरन्तर संलग्न रहती है। उन्हींके अर्जन और रक्षण करनेमे पर्यायका उपभोग रहता है। निरन्तर आर्त-रौद्र परिणामोंकी

शृंखलाबद्ध प्रवृत्ति रहती है। इस तरह यह मनुष्य जीवन व्यतीत हो जाता है। यह तो मैंने बहुभाग परकी कथाका उल्लेख किया। केवल बाह्य कार्योंसे यह हमारा लिखना है। परमार्थसे उनकी आभ्यन्तर प्रवृत्तिका हम यथातथ्य निरूपण नहीं कर सकते।

(जेठ वदी १३ सं० २०००)

जहाँ तक बने आत्माको पवित्र बनानेकी चेष्टा करो। पवित्रता ही संसार मूलको उच्छेद करनेवाली शक्ति है। अपवित्रताकी विरोधिनी शक्ति पवित्रता ही निर्धारित है। हम लोग बाह्य पदार्थों को संसारका कारण मान रहे हैं।

कल्याणके लिए तो—

'रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज॥'

यही अभिप्रायको हृदयमें धारणकर श्री शुभचन्द्र स्वामीने 'ज्ञानार्णव' में लिखा है।

'रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यते'।
एषो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद्बन्धमोक्षयोः॥'

यह सर्व कुछ पढ़ लेते हैं और सभामें व्याख्याका अवसर आता है तब बाह्य वेप बनाकर प्रतिपादन करनेमें रञ्चमात्र भी त्रुटि नहीं रखते। परन्तु दशा वही रहती है—

'जिस शिशु नाचत आप न राचत लखनहार बौराया'।

ठीक दशा यही हमारी प्रतिदिन होरही है; अतः जिन्हें कल्याण करना हो, इन कर्तव्योंको आत्मीय परिणामों मे उतारना चाहिए। अन्यथा नेत्र विहीनकीलालटेन और नपुंसककी सुन्दर स्त्रीकी तरह भावशून्य ज्ञानीका ज्ञान उपयोगमे नहीं आता।

(जेठ वदी १४)

किसीके व्यवहारसे सर्वथा मोहित मत हो जाओ। अनादिकालसे परके व्यवहारहीमें तो आत्माका अस्तित्व मानकर नाना यातनाएँ पाईं। यह यातनाएँ परजन्य नहीं, तुम्हीं इसके अपराधी हो। और जब तक इस अपराधको न त्यागोगे; कदापि सुखके पात्र न होंगे। सुखका अर्थ यही है; जो आत्मामें आकुलता न हो।

(जेठ कृ० ३०)

सुननेवालो और वक्ता महाशयोंमें इतना ही अन्तर है कि वक्ता ज्ञानी है, श्रोतालोग अज्ञानी हैं। सो जबतक वक्ता कथन करता है, श्रोता भी उतने काल ज्ञानी ही हो जाता है। कर्तव्यपथमें वक्ता और श्रोताओंमें विशेष भेद नहीं देखा जाता। अस्तु—मैं तो निजकी कथा कहता हूँ, जो श्रोताओंकी कथा मैं कह ही क्या सकता हूँ? परन्तु हमारी आत्मपरिणति तो स्वच्छ नहीं हुई। मेरेको इसका महान् हर्ष है; मैं अपनी त्रुटिको अनुभव करता हूँ। जन्म बीत गया, भीतरकी परिणति स्वच्छ नहीं हुई। क्षुल्लकपद केवल लंगोटी और एक खण्ड वस्त्रसे नहीं होता। उसकी प्राप्ति अन्तरङ्ग कषायका उस पदके अनुकूल अभाव होना चाहिए। यद्यपि यह निर्विवाद है, जो हमारे ज्ञानमें यह नहीं आता जो हमारे एकादश प्रतिमाके अनुकूल कषायका अभाव है, फिर भी बाह्य परिणामोंसे अन्तरङ्ग परिणामोंकी सत्ताका प्रत्यय होजाता है। अनुमान सम्यक् भी हो सकता है, विपर्यय भी हो सकता है। फिर भी चरणानुयोगकी पद्धतिके अनुकूल ही लोकमें व्यवहार होता है। जो कुलसे जैन है और यदि प्रवृत्ति अन्य धर्मके अनुकूल है तब वह जैनधर्मके अनुकूल सम्यग्दृष्टि नहीं।

(जेठ सुदी २)

कल्याणके लिए निमित्त कारण अनुकूल होना चाहिए। यद्यपि निमित्त कारण कुछ बलात्कार नहीं करता फिर भी कार्यकी उत्पत्ति

उसके सद्भाव विना नहीं होती। यथा चौदह गुणस्थानमें सम्यग्द-र्शन, ज्ञान, चारित्रकी पूर्णता होगई, फिर भी आयुके अभावकी आवश्यकताका सद्भाव अपेक्षित ही है।

(जेठ शु० ८)

जो शास्त्र उपयोगमें लाओ उसे सम्यक् जानकर स्वाध्याय करो। किसी कार्यको करनेकी यदि आकांक्षा है, तब एकरूपसे उसमें अपनेको अर्पित करदो। किसी कार्यके करनेके अव-सरपर अपनेको भूल जावो, अनायास कार्य हो जावेगा।

(जेठ शु० ९)

चित्तको उदार वनाओ। परकी आशा छोड़ो, आराधना अपनी करो। आत्मगत देखो करो। परके दोष देखनेका जो स्वभाव वना रखा है; उसे त्यागो। केवल ज्ञायकभावके कहनेसे ज्ञाता-द्रष्टा नहीं हो जावोगे, परमें इष्टानिष्ट भावोंको त्यागो।

भारतवर्षमें पर्वके दिनोंमें विशेष रूपसे दान करते हैं और उस दानसे पुण्य मानते हैं। पुण्य होनेका कारण मंद कषाय है और यह होना कोई कठिन वस्तु नहीं; परन्तु जिसको आज संसार पुण्य मान रहा है वह यही तो है—जो परोपकार करना, दुखित जीवोंके कष्ट दूर करनेके भाव होना, परमात्माकी उपासना करना अथवा जो परमात्मा पदकी प्राप्तिमें संलग्न हैं उनकी वैयावृत्य करना या उन्हें आहारादि प्रदान करना इत्यादि अनेक कारण पुण्य सम्पादनके हैं। फल पुण्यका यही है जो वाह्य कारण ऐसे मिल-जावें जिससे हम लौकिक मनुष्योंकी दृष्टिमें विशेष माने जावें। वास्तवमें जिन जीवोंने उपादेय बुद्धिसे पुण्यका संचय किया है, प्रथम तो जो मनुष्य पुण्यसे विशेष सुखकी वाञ्छा करते हैं, उन्हें स्वाभिप्रायके अनुकूल उतना फल नहीं मिलता। जो मिलता है, वह सुखका जनक नहीं, सुखका लक्षण तो निराकुल परिणति है

पदार्थोंके भोगनेमें सुख है नहीं, सुख तो आत्माका गुणविशेष है। उसका विकास आत्मामें ही होता है। जब हम किसी कार्यकी इच्छा करते हैं, उस कालमें हमारी आत्मामें अशान्तिका उद्वेग होने लगता है और हम निरन्तर बेचैन रहते हैं। जब हमारा इच्छित कार्य हो जाता है, उस कालमें हम सुखी हो जाते है। उसका कारण जो हमारे कार्य करनेकी इच्छा थी, वह आकुलताकी जननी थी। कार्यके होते ही इच्छा निवृत्त होगई, वही शान्तिकी जननी है। इससे यह निष्कर्ष फलित हुआ जो इच्छाके अनुकूल कार्य सम्पादन कर शान्त होनेकी अपेक्षा आकुलताकी जननी इच्छा ही की उत्पत्ति न हो। यह मार्ग प्रथम मार्गकी अपेक्षा प्रशस्त है; अतएव मोक्षमार्गमें निर्जराकी अपेक्षा संवरकी उपयोगिता कई अंशोंमें श्लाघ्य है। 'संवरो हि मार्गः'। भगवान्‌की आज्ञा ही मार्ग है। भगवान्‌की आज्ञा क्या है? परम वैराग्य करण प्रवर्णी ही तो है।

वैराग्य ही तो मोक्ष मार्गोपयोगी वस्तु है। सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है? संवररूप ही तो पड़ता, जो आत्मामें अनादि कालका विपरीत अभिप्राय था उसका त्याग अर्थात् उसका न होना। जो होता है उसकी तो निर्जरा होती है न होनेका नाम संवर है। यदि कल्याण चाहते हो तब कलुषित परिणति न होने दो। जन्मान्तरार्जित जो औदयिक भाव हैं, उनमें निजत्व त्यागो। अनादिसे तो उनका सम्पर्क है, उसके सहवाससे कौनसी अद्भुत निधि पाई। केवल जड़ात्मक पुद्गल पिण्ड ही तो पाया। पुद्गल पिण्ड भी आपके कलुषित भावोका संसर्ग पाकर इतनी वीभत्स दशाका पात्र हुआ जिसे न तो शब्दके द्वारा यह जीव श्रवणेन्द्रिय द्वारा जानना चाहता है, आँख देखनेसे भयभीत होता है। घ्राणेन्द्रिय सूँघना नहीं चाहता, रसनेन्द्रिय स्वाद लेना नहीं चाहता, स्पर्श-

रहा है। जिससे यह जीव शरीरको ही सर्वस्व मान बैठता है। सहस्रों मनुष्योंके वियोगको प्रत्यक्ष देखकर भी अपनेको अजर-अमर समझ रहा है। इस शरीरकी रक्षाके लिए अनुचित उपायोंका भी अवलम्बन करता है। भक्ष्याभक्ष्यका विवेक विकीर्ण कर देता है। ऐसे-ऐसे औषध आदि पदार्थोंका उपयोग करता है; जिनमें सहस्र जीवोंकी जानकी कोई गणना नहीं। मन्दिरादि निमित्तोंसे इसे तत्त्वज्ञान हो जाता है, जो शरीर पर मैं अपर हूँ। जहाँ यह बोध हुआ वहींसे संयम भावोंकी रुचि होजाती है। अनन्त स्वरूपाचरण तो भेदज्ञानका अविनाभावी है। सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेपर ज्ञानमें समीचीनता और स्वरूपाचरण ये दो कार्य तो सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हैं। वास्तवमें मोक्षमार्गकी जो बाधक प्रणाली थी वह प्रणाली सम्यग्दर्शनके होते ही पलायमान हो जाती है। गाड़ी लेनपर आगई, अब भयकी बात नहीं। इस गुणके विकाससे अनन्त संसारके कारण मिथ्यात्वादि ४१ प्रकृतियों का बन्ध होता ही नहीं।

(जेठ सुदी १४)

कल्याणकी उत्पत्ति आत्मामें ही होती है। आत्मा और अनात्मा दो ही पदार्थ जगतके उपादान हैं और ये ही निमित्त हैं। जो कार्य जिसमें होता है वही उसका उपादान होता है। निमित्त कार्यमें सहकारी होता है, कार्यरूप परिणमन नहीं होता। कार्य-जनक सामग्री होती है। न केवल उपादान ही जनक है और न सहकारी ही जनक है।

(ज्येष्ठ शु० १५)

दृढ़प्रतिज्ञ बनो, जो कहो उसे करो। यह तो परम पुरुषोंका लक्षण है, यों तो बाजा भी बोलता है। मनुष्योंको रंजायमान करनेके लिए शास्त्राभ्यास करनेसे विशेष लाभ नहीं। मनुष्यों के

द्वारा धन्यवाद मिल जाता है, पल्ले कुछ नहीं आता। किसीको उपालम्भ देनेसे कुछ नहीं मिलता, अन्तःकरणको निर्मल बनाना ही श्रेयोमार्गका उपाय है।

यह मेरेमे महान् दोष है; जो मेरे द्वारा अनेक सज्जनोको कष्टका प्रत्यक्ष अनुभव करना पड़ता है। उत्तर देता हूँ; परन्तु उस उत्तरमे यह झलकता है जो इनने मुजफ्फरनगर आनेकी अनुमति दी। हे आत्मन्! इस दुर्बलताको त्याग दे और साधु व्यवहार करनेका प्रयत्न कर। लिख देना कोई कार्यकर नही। स्पष्ट उत्तर न देनेमे कारण अन्तरंग लोकेषणाकी सत्ता है। और जिनके लोके-षणाकी सत्ता है; उन जीवोका संसारतट अतिविस्तीर्ण है। जिन-जिन महापुरुषोंका संसारतट अतिसमीप रह जाता है उनके निन्दा-प्रशंसा उभय ही पलायमान हो जाते है। उन्हे आत्मीय निन्दासे विषाद और आत्मीय प्रशंसासे हर्ष नही होता और न वे परकी निन्दा तथा प्रशंसामें ही स्वीय उपयोगको भ्रमण कराते है।

(प्रथम आषाढ़ वदी १)

प्रातःकाल श्रीमान् जुगलकिशोरजी मुख्तार और पं० परमा-नन्दजी कलकत्तासे आए और दो बजे तक रहे पश्चात् देहली चले गए। उनके कहनेसे ऐसा बोध हुआ जो वीर सेवामन्दिरकी नींव दृढ़तम हो गई।

मैने सत्समागमसे यह निश्चय किया, जो मनुष्यको ऐसा परिणाम निर्मल करना चाहिए जो अनादिकालसे आत्मामे कलु-षताकी परिणति हो रही है वह निर्मूल हो जावे। उसका उपाय भेदविज्ञान है। भेदविज्ञानके विना वह कलुषता नही जा सकती। विज्ञानसे यह तात्पर्य है जो परमे निजत्वकी कल्पना मिट जावे। कल्पना हीका संसार है।

(प्रथम आषाढ़ कृष्ण २)

बोलो कम और खाओ कम तथा जगतके सम्बन्ध कममें कम......यथार्थ तो यथार्थ ही है; परन्तु मोही जीव इसका उपयोग नहीं करते। केवल पराश्रय होकर आत्मीय कल्याणसे वञ्चित रहते हैं। कल्याणका मार्ग स्वाश्रित है। कल्याण वस्तु क्या है? पर-पदार्थोंके सहवाससे छूट जाना ही है। आत्माका शरीरसे सम्बन्ध है, उसे निज मानना ही संसार है।

कलकत्तावाले बाबू छोटेलालजी साहब तथा बाबू नन्दलालजी साहबकी इस ओर अच्छी दृष्टि है। आप साहित्यके महान अनुरागी हैं। आप यह चाहते हैं। जो मानवमात्रके हृदयमें जैन-धर्मका विकास हो। जैनधर्म तो व्यापक धर्म है। हम किसीको धर्म देते हैं यही बड़ी भारी भूल है। धर्म तो आत्माकी वह परिणति विशेष है जो आत्माको संसार बन्धनसे विमुक्त कर देती है। यह परिणति शक्तिरूपसे जीवमात्रमें है। उसका आंशिक विकास नारक, तिर्यञ्च, मानव, देवमें होता है; परन्तु संज्ञी होना चाहिए। तिर्यञ्चगतिको छोड़ शेष तीन गतियोंमें जीव संज्ञी ही होते हैं। तिर्यञ्चगतिमें असंज्ञी भी होते हैं, संज्ञी भी होते हैं। अतः संज्ञी तिर्यञ्चमें भी आंशिक धर्मकी योग्यता होती है। वह धर्म जिससे संसार-बन्धन छूट जाते हैं, रत्नत्रयात्मक है। अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप है। उसमें भी आत्माकी श्रद्धा आत्माका ज्ञान तथा आत्मा हीमें चर्य्या ये रत्नत्रय हैं। यह धर्म निरपेक्ष आत्मामें ही विकसित होता है। यह धर्म किसीकी अपेक्षा न रखकर ही आत्माको मोक्षमें ले जाता है। मोक्ष कोई स्थान विशेषका नाम नहीं। वह इन रूप आत्माकी अवस्थाविशेष है। इन्हीं महापुरुषोंकी पञ्च परम गुरुरूपसे उपासना होती है। जबतक ज्ञान गुणका जघन्य परि-णमन है, तबतक आत्मामें अवश्यम्भावी बन्ध है। वह अवस्था 'यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविराग सद्भावात्'

होता है। अतः जिन्हें बन्ध इष्ट नही, उन्हे अवश्य इन कर्मादि शत्रुओंको त्याग देना चाहिए। कहनेका तात्पर्य यह है; जो धर्म साक्षात् मोक्षका पात्र आत्माको बनाता है। उन्हें तो इन वाह्य धर्मोंकी आवश्यकता नहीं। परन्तु उच्च भावोके अभिलाषी होकर भी पात्र नहीं। वे उन्हीं गुणोंके लाभार्थ पञ्च परमेष्ठीकी उपासना करते हैं; जैसा कि लिखा है—

'वन्दे तद्गुणलब्धये' उस अन्तर धर्मकी पात्रताके लिए ही हम लोग मन्दिरादि निर्माण कराते हैं। जो मंदिर निर्माण करते हैं उनमें उसी महानुभावका बिम्ब रहता है। उसको देखकर हम उस महा-पुरुषके गुणोका स्मरण कर आत्मलाभ करनेकी चेष्टा करते हैं। मूर्तिको निमित्त मानकर ही तो हम स्व गुण विकास होनेका बुद्धि-पूर्वक प्रयत्न करते हैं। इससे यही तो निकला; जो गुण तो हमारी आत्मामें है।परन्तु जब कार्य होता है, तब उपादान और निमित्त कारणके सद्भावमेंही होता है।अतः लोकमें देखा जाता है कि कार्यके उत्पादनमें मनुष्य निमित्तकारणों को भी आश्रय देते हैं। तब यह क्या राजाज्ञा है जो आपलोग तो आत्मधर्मके विकासके अर्थ श्रीजिन बिम्ब का दर्शन कर सकें और अस्पृश्यादि शूद्र न कर सकें। आप श्रीपरमेष्ठी का मन्त्र जाप्य कर सकें और हरिजन उस मन्त्र का जाप्य न कर सकें।

(प्रथम असाढ़ वदी ३)

आत्मा की उस अवस्था का नाम परमात्मा है, जिसमें घाति कर्म का नाश होकर स्वच्छ परिणमन ही जहाँ होता है। वह पर-मात्मा दो रूपसे कहा जाता है। घातिया कर्म का अभाव तो हो

गया; किन्तु अघातिया कर्म अभी विद्यमान है। उसे तो सकल परमात्मा कहते है। जहाँ घातिया-अघातिया उभय कर्म नहीं रहे वह निकल परमात्मा कहा जाता है।

शरीर की अवस्था शिथिलता का पात्र हो रही है; इसके अनुकूल मति-श्रुतज्ञान भी शिथिलताके सम्मुख है। परन्तु इतनी दुरवस्था होने पर भी कपाय की शिथिलता नहीं होती। इसका कारण इसमें निजत्व कल्पना है। यद्यपि वृद्धावस्थामें इन्द्रियोंकी शिथिलता से तद्विपयक अनुराग स्वभाव से ही नहीं रहता। किन्तु सर्वसे महती व्याधि लोकेषणा अपना प्रभुत्व आत्माके ऊपर जमाए हुए है। यद्यपि इसमे आय-व्यय कुछ नहीं; किन्तु कषायोके उदयमे यही तो होगा, अतः इसको दूर करने का प्रयत्न करो। कोई कठिन कार्य नहीं। अपने स्वरूप को विचारो; ज्ञाता-द्रष्टा रहो। आत्मामे अनन्त गुण हैं; किन्तु एक चैतन्य गुण ही ऐसा है जो उनके स्वत्व को बताता है। यदि ज्ञानमें वस्तु न आवे तब होकर भी नहींके तुल्य है।

(प्रथम अपाढ़ वदी ४)

आज पं० देवकीनन्दजीके स्वर्गवास के उपलक्ष्यमें आठ बजे सभा हुई। पं० कमलकुमारजीने उनके गुणोका सम्यक्रीतिसे वर्णन किया। सुनकर यह मनमें आया, एक दिन इस शरीरका वियोग होगा। जब तक आयुकर्मका सम्बन्ध है, निवृत्तिमार्गको अपनाओ, गल्पवादमें दिन मत व्यय करो। समीचीन शब्दोकी जो परिपाटी उपयोगमें लाते हो, इस वञ्चक प्रणालीके साथ कुछ उस प्रणाली को भी अपनाओ जो श्रेयोमार्गकी सहचरी है।

(प्र० आपाढ वदी ५)

आज मंदिरमें दर्शन करते-करते यह मनमें कल्पना आई, जो मंदिर बना है। ईंट, चूना, पत्थर ही से तो इसका निर्माण हुआ। इसमें जो मूर्तिमण्डल है वह भी पत्थर आदिसे बने हुए समचतुरस्रसंस्थान मनुष्योंके आकार ही तो है। उनमें मनुष्योंद्वारा ही श्री आदिनाथसे लेकर श्रीमहावीरस्वामी तक तीर्थंकरोंकी स्थापना है। तब कल्पना करो, जो मनुष्य जड़में भगवानकी स्थापना करले, यदि वह चेतनमें भाव भगवानका निक्षेप करले तो कौन इसको वारणकर सकता है?

जो आत्मा अपनी शक्तिसे पाषाणकी मूर्तियोंमें भी श्रीआदिनाथ आदि चतुर्विंशति तीर्थंकरोंकी स्थापनाकर पाषाणोंमें पूज्यता ला देवे क्या वह जीव अपनेको भगवान नहीं बना सकता? परन्तु खेद है, हम अपनी शक्तिका अनादिसे सदुपयोग नहीं करते। यही कारण है कि चतुर्गतिके पात्र बन रहे हैं।

(प्र० अषाढ़ वदी ६)

आत्मा तो सर्व ही अपने अस्तित्वको स्वीकार करते हैं। शरीरको आत्मा कैसे मान सकते है? जिस घरमें हम रहते हैं, कोई भी ज्ञानी उसे अपना स्वरूप मानता हो ऐसा नहीं देखा गया है। घर चूता है तब घरमें खप्पर लगाता है, शरीरमें नही।

प्रवचनमें सांख्य सिद्धान्तकी परिपाटी दिखाई गई। यह लोग कर्मप्रकृतिको ही कर्त्ता मानते है और भोक्ता आत्माको मानते है। देखो, कर्म ही तो आत्माको अज्ञानी बनाता है। ज्ञानावरण कर्मके उदयसे ही तो ज्ञानका विकास रुक जाता है तथा कर्म ही आत्माको ज्ञानी बनाता है। ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमके बिना ज्ञान नहीं होता। इसी तरह कर्म ही आत्माको निद्रा उत्पन्न करता है। दर्शनावरण कर्मके उदयके बिना निद्रा नहीं, एवं आत्माको जगाता है; क्योंकि दर्शनावरण कर्मके क्षयोपशमके होनेपर ही आत्माकी जागृत

अवस्था होती है। इसी तरह कर्म ही आत्माको सुखी करता है। सातावेदनीय कर्मके उदयमे ही तो सुख संवेदन आत्मा करता है। इसीतरह कर्म ही आत्माको दुखका संवेदन कराता है, क्योंकि असातावेदनीयके उदयके बिना दुख संवेदन नहीं होता। इसीतरह कर्म ही आत्माको मिथ्यादृष्टि बनाता है। दर्शनमोहका उदय होने पर ही आत्मामे मिथ्यादर्शनका उदय होता है। इसी तरह कर्म ही आत्माको असंयमी बनाता है, क्योंकि चारित्रमोहके बिना असंयमभावकी उत्पत्ति नहीं। इसी सरणीके अनुसरण करनेसे कर्म ही आत्माको स्वर्ग-नरक तथा तिर्यग्लोकमे भ्रमण कराता है। आनुपूर्वी कर्मके उदय होनेपर ही तो यह प्रक्रिया बनती है। इसीतरह कर्म ही कर्त्ता है, कर्म ही धर्त्ता है, कर्म ही दाता है, कर्मकी उदयदशाके बिना पत्ता नहीं हिल सकता। कहा तक कहे, जो शुभ-अशुभ कर्म यह जीव करता है; वह सब चारित्रमोहके तीव्र-मन्द उदयका ही तो कार्य है। जिस वास्ते यह व्यवस्था हो रही, वह सब स्वतन्त्ररूपसे कर्म ही करता है। कर्म ही देता है; जीव यावत् है, वे सर्व अकर्त्ता हैं। यह हमारा दृढ़तम निश्चय है। हम ही इस तत्त्वका प्रतिपादन नहीं करते; किन्तु जिनेन्द्र भगवानकी श्रुति भी इस ही अर्थको कहती है। तथाहि—देखो, जब पुंवेद नामक कर्मका उदय आत्माके होता है तब इस जीवको स्त्रीविषयक भोग करनेकी अभिलाषा होती है। जब स्त्रीवेदका उदय होता है तब इस जीवको पुरुषसे रमनेकी अभिलाषा होती है। तथा जब नपुंसकवेदका उदय होता है उस कालमे दोनोसे रमण करनेकी अभिलाषा होती है। यह तीनो मोहनीय कर्मके ही तो भेद हैं। इससे सिद्ध होता है कि कर्म ही अब्रह्मकी अभिलाषाका कर्त्ता है। आत्मा अब्रह्मका कर्त्ता नहीं। इसीप्रकार जो परका घात करता है अथवा परके द्वारा घाता जाता

है; कह क्या है ? जब परघात नामकर्मका उदय आता है तब यह क्रिया होती है, जीव इसका कर्त्ता नही। इस प्रकार यह सांख्यका सिद्धान्त जो जैन सिद्धान्तके मर्मको नही जाननेवाले, श्रमणाभास हैं वे ही इसका प्रतिपादन करते हैं। उनके अभिप्रायसे जीव सर्वथा अकर्त्ता ठहरा। प्रकृति ही कर्त्ता हुई। कई तटस्थ इस दोषका इस प्रकार निवारण करते हैं जो आत्मामे अज्ञानादि भाव होते हैं, परमार्थसे इन भावोका कर्त्ता तो प्रकृति ही है। और आत्मा जो है, वह अपना कर्ता है। इससे आत्मा कर्त्ता है इस श्रुति को लोप होने का कोई अवसर नहीं; यह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि आत्मा द्रव्यरूपकर नित्य है, असंख्यातप्रदेशी है। नित्य जो है, वह कार्य नहीं होता; क्योकि कृतकृत्य और नित्यत्व धर्मों का परस्परमें विरोध है। अवस्थित असंख्यात प्रदेशवान् जो आत्मा है, उसके जैसे पुद्गलस्कन्ध की तरह न तो प्रदेशो का आगमन होता है और न निकलना ही होता है। यदि ऐसा होने लगे तब नित्यत्व भाव ही मिट जावे।

(प्र. अषाढ़ वदी ७)

वास्तवमें आत्मा ज्ञानगुणका पिण्ड है। किन्तु साथमें अनादि कालसे आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, इन चार संज्ञाओंसे दुखी रहता है। कम बोलो, इसके साथ कायव्यापार भी कम करो। तथा साथमें मनोव्यापार भी कम करो। इसके साथमें कषाय भी कम करो; आत्माको आकुलताकी करनेवाली कषाय है। जिनने कषाय पर अधिकार न किया, वे कुछ नही, संसारी जीव हैं। संसारका मूल कारण कषाय है, यही महती बला है।

अनादि कालसे जो वासना आहारादि विषयक आत्मामें अभेद रूपसे अपना अस्तित्व बनाए है और तुम इन ।सना।ओं इतने लिप्त हो, जो निजके ज्ञानसे शून्य हो रहे हो। अ

स्वत्वमें उनका ज्ञान होता है, किन्तु खेद आप उनसे अपना अस्तित्व मान रहे हो। वह वासना विकारजन्या है, तुम्हारा अस्तित्व स्वयं सिद्ध अनादि निधन है।

(आषाढ़ कृ० १२)

कहाँ तो यह कायरता और कहाँ आगमकी अगाधता, जो वस्तु स्वरूपको निरूपण कर कायरोंको भी मोक्षमार्गके पथका पात्र बना देता है। जो आगमाभ्यास करते हैं और उस प्रतिपाद्य अर्थ पर आरूढ़ होते हैं, वही महापुरुष आगमके रचयिता होते हैं।

(आषाढ़ कृष्ण ३०)

सर्व मनुष्य कहते जगत मायाका जाल है। जगतसे तात्पर्य चतुर्गति है। यहाँपर जो पदार्थ दृष्टिगोचर देखे जाते हैं वे सर्व-पौद्गलिक हैं। इन्हे हम अपना मानते है। हम क्या मानते हैं? संसारकी यही पद्धति है। इस पद्धतिको जिनने ध्वंस किया उन्होंने निज पाया। निज पाना ही संसारका अन्त करना है।

(आषाढ़ शुक्ल १)

यदि अन्तरंग गृद्ध्रता है तब त्यागी होना समाजको भार है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, इसका उपयोग करो। उसमे हर्ष-विषाद मत करो; अन्यथा वह उदय जो आया है, निर्जीर्ण होकर भी आगामी बन्धका जनक होगा। जैसे—गज स्नान तो करता है; स्नानसे पूर्व धूलिका सम्बन्ध विलग होजाता है। परन्तु फिर नवीन धूलिका सूंडके द्वारा सम्बन्ध कर लेता है और प्राचीन दशाका भोक्ता होता है। ज्ञानी जीवका यह निर्मल विचार होता है जो उदयगत कर्मको ऋण समझकर भोगकर ही उसका पिण्ड छुड़ाना चाहिए। आत्मा एक स्वतन्त्र पदार्थ है; इसके आभ्यन्तर अनन्त शक्तियाँ हैं। जिनमें ज्ञान भी एक शक्ति है। उसमें जो पदार्थ आता है उसे पर जानता है। इतना काम तो ज्ञानका है; परन्तु

मोही जीव उस ज्ञेयको अपनेसे अभिन्न मानकर मिथ्यादृष्टि बन जाता है। इसीके प्रभावसे जो पदार्थ अपने सम्मुख आते हैं, श्रद्धा-नुरूप किसीसे राग और किसीसे द्वेष कर लेता है।

(आषाढ़ सुदी ५)

कर्मकी मुख्यता पर परस्पर वार्तालाप हुआ, एक पक्षका कहना था देखो, दीपायन मुनिके द्वारा ही द्वारिका भस्मीभूत होगई। कृष्णमहाराजके अवसानमे जल तक न मिला। अतः कोई प्रकारके वैभवका मान मत करो। देखो, वर्तमानकी व्यवस्था, जो राजा थे वह सर्व प्रजा के शासनमे आगए। संसारकी गति विचित्र है।

आत्मन्! अब तो संसारकी विडम्बना त्यागो। इसका यह अर्थ नहीं कि संसार कोई दृश्यमान जगत है।

इसमें जो परिणमन हो रहे हैं यह विडम्बना नहीं। अथवा कुछ रहो, उससे हमारा कोई सम्पर्क नहीं; हमें सुख-दुखके दाता नहीं। हमारे आत्मामे जो मोहादि उत्पन्न होते हैं उनके परवश मे होकर हम किसी पदार्थमें मोह और किसीमें राग-द्वेष उत्पन्नकर नाना प्रकार मानसिक मन, वचन, कायके व्यापार कर निरन्तर मोह, राग, द्वेषको दूर करनेका प्रयत्न करते हैं। किन्तु कल्पना यह करते हैं, जो पदार्थ रागमे कारण पड़ता है; उसे सुखका कारण मान लेते हैं।

वहुत कम भाषण करो; परकी समालोचना त्यागो। जो मनमें आवे, उसे ही वचन और कायसे व्यक्त करो। यदि कोई तुमको मूरख कहे तब प्रसन्न हो उसे साधुवाद दो। यदि कोई प्रशंसा करे तब समझो कोई विशेष वात है। प्रतिदिन शास्त्र सुनाओ; अपनी कथा मत मिलाओ। जो आगममें लिखा है, उसे सुनादो। परन्तु यत्नपूर्वक पदार्थोंका विवेचन करो। वर्तमानमें जितने मन इन्द्रियपथ

द्वेष उत्पन्न होते हैं, उनको हम त्यागें। तथा जो हमारा दर्शन, ज्ञान, चारित्र है उसे स्वीकार करें। विशेष बातें अनुभवसे पूछो।

(अषाढ़ शु० ९)

जिस कार्यके करनेमें शक्तिहीन हो उसका विकल्प करना सर्वथा त्यागो। कल्याणका मार्ग त्यागमें है। सबसे प्रथम मिथ्यात्वका त्याग करो। मिथ्यात्वके त्यागसे ही अनायास असंख्य असत्यों का त्याग हो जाता है। जितने विवाद है, मिथ्या कल्पनाके द्वारा ही होते हैं। आज संसारमें जितनी कुरीतियाँ आ रही है इसका मूल कारण मिथ्या अभिप्राय ही है। अतः चेष्टाकर इस रोग को निवारण करो। चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं, स्वयं स्वको जानो यही इसका मूल उपाय है। आज तक हमने हमको नहीं जाना, केवल मुखसे कहनामात्र ही जाना है।

जब हम स्वयं अन्यकी वैय्यावृत्य करनेमें संकोच करते है तब अन्य हमारी वैय्यावृत्य करें, यह सर्वथा अनुचित है। श्रीदयाचन्द्र-जी जो वैय्यावृत्य करता है, वह सापेक्ष है। उसे आभ्यन्तर तपमें नही गणना कर सकते है। और जो त्यागी है उनको अन्तरङ्गसे वैयावृत्य करनेकी रुचि नहीं। यद्यपि हम एक प्रकारसे वृद्ध है, करनेमें अशक्य हैं। यदि कोई हमारा उपचार करे तब उचित ही है। परन्तु ऐसा सरल प्रकृतिका अब मनुष्य नहीं रहा है। शास्त्रों-में जीव वर्णन है, वह कहनेका पदार्थ है। उस रूप प्रवृत्ति करना परम दुष्कर है। जब यह व्यवस्था है तब भक्तप्रत्याख्यानमरण तो हो नहीं सकता, क्योंकि उसके अनुकूल सामग्री नही। प्रायोप-गमन सन्यास तो इस कालमें सर्वथा असम्भव है। ऐसे शक्तिशाली जन नहीं जो न परसे वैयावृत्य करावें और न आप करें। अतः इंगिनीमरणका ही शरण लेना चाहिए। यदि कोई रोग आजावे तो स्वयं उपचार करे। यह विचार करें, कर्म तो स्वयं तुमने

उपार्जन किए हैं। अब जब उदयकालमें वह आया तब भय करना व्यर्थ है। वह जो कृतकर्म है उसे भोगना ही पड़ेगा। अतः सर्व विकल्प त्यागकर जो कर्म सातासाता रूप उदयमें आवे उसको आनन्दके साथ भोगकर संतोष करो।

प्रतिदिन विचार करता हूं जो अब इन गल्पवादसे आत्मीय परिणतिको रक्षित करनेमें पूर्ण सफल होऊँ। किन्तु फल इसके विरुद्ध ही पाता हूं। इसका मूल कारण यह है,हमने अपने लक्ष्यका निश्चय ही नहीं किया। जिनका कोई लक्ष्य ही नहीं उनका मनुष्य जीवन ही नहीं। मनुष्य वही है जो अपनेको अनन्त संसारकी भीषण यातनाओंसे बचा सके। प्रतिदिन मंदिरमें शास्त्र बाँचते हैं अथवा सुनते हैं। परन्तु फिर वही प्रवृत्ति जो संसारकी जननी है रही उसको पृथक् न कर सके तब तोतारटन्त ही हुआ। तोताराम नग्न प्रतिदिन रहता है; परन्तु राम कौन थे, उनके नाम लेनेसे क्या हमको होगा? नहीं जानता है। इसी प्रकार हम लोग प्रतिदिन भगवन्नामका उच्चारण करते हैं और उस नामसे हमको क्या लाभ होगा? इसपर कुछ भी विचार नहीं करते।

(प्र० अषाढ़ सुदी १०११)

मनोरथ करना कोई कठिन कार्य नहीं; परन्तु कार्य करनेमें अपनी शक्तिका सदुपयोग करना कठिन है। प्रतिदिन राग-द्वेष, मोहके त्यागकी कथा करते-करते जन्म बीत गया। जितने वर्ष आयुके गए, अब उतने मास भी जीवनास्तित्व रहना कठिन है। परन्तु एक दिन भी जो बोला उसका शतांश भी न किया।

प्रायः संसारमें मनुष्य समाजमें ही विशेष ज्ञान और विशेष कार्य करते देखा जाता है। पशुओंमें न तो उतना ज्ञान है और न परिग्रह भी है। पशु जो मनुष्य पालते हैं उनके तो परिग्रहका लेश भी नहीं, मनुष्यों के ऊपर ही उनकी रक्षाका भार है। जो

स्वतन्त्र बड़े-बड़े पशु हैं उनके पास भी परिग्रह नहीं। दिनभर घास आदि खाकर रात्रिको किसी स्थानमें पड़कर सो जाते हैं। कोई निश्चित स्थान भी नहीं, जहाँ पर स्वामित्वकी कल्पना हो सके। हाँ यह देखा जाता है जो बड़े-बड़े तिर्यञ्च हैं वे रात्रिको निकलकर कृषक लोगोंकी खेतीको खाजाते हैं। स्थलचारी तिर्यञ्चोंमें यह देखा जाता है; परन्तु जो व्योमचारी पक्षिगण हैं वे रात्रिको वृक्ष आदि पर सो जाते हैं। पशुगणमें यह बात नियमित है, जो तिर्यञ्चिनी गर्भिणी हो जानेपर वे उससे विषय सेवन नहीं करते। तथा तिर्यञ्चोंमें यह भी देखा गया है जो स्वामीकी रक्षा करनेमें प्राण तक विसर्जन कर देते हैं। तथा कोई जातिके पशुओंमें तो यहाँ तक देखा गया है जो अपने बालकोकी रक्षा निमित्त सिंहादिक पशुओसे भी सामना करनेमें नहीं चूकते।

तथा कोई पशु ऐसे भी देखे जाते हैं जो अपना सम्पर्क केवल अपनी स्त्रीसे रखते हैं। सिंह सिंहनी, उड़नेवालोंमें प्रायः कबूतर और कबूतरी इनका जोड़ा रहता है। पक्षियोंमें बाजे महान् चालाक होते हैं। जैसे—कोयलका अण्डा कागिली द्वारा ही प्रायः पुष्ट होता है। कोयल कागिलीके अंडोमें अपने अंडे रख आती है और जब वे पुष्ट हो जाते हैं, ले आती है। और इसीसे कोकिलाका नाम काकपुष्टा है। पशुओकी अपेक्षा मनुष्य बहुत बुद्धिशाली जीव है। इसने मानव-समाजमें बहुत उन्नति की है। प्रथम तो इसमें सर्वजीवोंकी अपेक्षा विवेक शक्ति बहुत है; इसका यदि उपयोग करे तब बड़ेसे बड़े कार्य कर सकता है। पशुओंमें इतनी बुद्धि नहीं जो वर्षादिसे रक्षा कर सके। मनुष्य सर्व ऋतुओसे रक्षाके लिए गृह बनाता है।

(आषाढ़ सुदी १२)

नियमसे त्याग करो तथा त्यागसे खिन्नता मत होओ। जो हृदयसे

राग-द्वेष मोह नहीं, वहीं अनन्तसुख, अनन्तवीर्य है। जहाँ आकुलता नहीं वहीं सुख और शांति है।

पद्मपुराणका पाठ हमारे द्वारा हुआ। श्रीहनुमानजी दूत बनकर लंका जारहे हैं। बीचमें महेन्द्रपुरके राजाको परास्त किया। राजा बहुत प्रसन्न हुआ। महेन्द्र अञ्जनाके पिता थे। अपने पोतेका वैभव देख बहुत ही प्रसन्न हुए।

पुण्यशाली जीवोंकी चेष्टा आश्चर्यकारिणी होती है। राजाको मिलाकर दो चारण ऋद्धिधारी मुनि और तीन राजकन्याओंका उपसर्ग मेटा। अनन्तर वे कन्या श्री रामके पास चली गईं और हनुमानने लंकाका कोट विध्वंस किया। कोटके संरक्षकको परलोक धाम पहुँचाया। अनन्तर उसकी कन्यासे बहुत युद्ध हुआ। अन्तमें कन्याने कामबाणसे हनूमानको परास्त किया। अन्तरङ्ग मोहकी प्रभुतासे कामदेवसा प्रबल योद्धा सामान्य कन्यासे पराजित हो गया। कन्या भी कामकी वेदनासे पितृ-जन्य शोकको भूलके हनुमानके साथ विषय सुखमें लीन होगई। जब तद्भव मोक्षगामी वीर भी कामके वशीभूत होकर ऐसी-ऐसी चेष्टा करते हैं तब अन्य सामान्य पुरुषोंकी कौनसी कथा।

(द्वि० आषाढ़ कृ० २)

प्रश्न—इस संसारका मूल कारण क्या है? उत्तर—मोह। प्रश्न—मोहका स्वरूप क्या है? उत्तर जिसके सद्भाव में अपना और परका ज्ञान न हो। आप क्या हैं? जो यह कहता है कि मैं कौन हूँ, जिसके यह शंका होती वही तो मैं हूँ। इससे अतिरिक्त यह है, इसी का नाम भेदविज्ञान है। इसके बल से ही आत्मा अनन्त संसार को मेट सकता है।

(द्वि० आषाढ कृ० ३)

मंदिरमें जिसका बिम्ब तुम्हारे ज्ञानमें आता है वह पूर्व में

मनुष्य ही तो थे। उन्होंने निज पुरुषार्थसे ही मोह शत्रुको पराजित किया। तुम भी मनुष्य हो, यथाशक्ति मोहको परास्त करो। और आंशिक शांतिका लाभ लेनेके पात्र बनो।

आज पण्डित पन्नालालजी के यहाँ भोजन हुआ। आप बहुत ही श्रद्धालु और कर्मठ जीव हैं। आपकी लोगोने योग्यता नहीं जानी। आपके द्वारा जो कार्य होता, वह बहुत कालतक जैनधर्मका द्योतक रहता; परन्तु यहाँ तो समाजकी गति विचित्र है। धनिक-वर्गकी गति धन पाकर जो होती है, वह किसीसे गोप्य नहीं।

आजकलमे महान्से महान् जो वर्तमानमे ऋपिराज है तथा उनके अनुगामी त्यागीवर्ग और जनता सामान्य है। मेरे प्रति यह भाव रहते है जो इस व्यक्तिको जैनधर्मका मार्मिक परिचय नहीं है। यदि इसे जैनधर्मका परिचय होता तब हरिजनोंको मन्दिर प्रवेश की अनुमति न देता। बस मूल तो इतना ही है। वर्तमानमें इसप्रकारके सुधारक बहुत होगए। ये सर्व जैनधर्मके अनुगामी नहीं, इनको जैनी नहीं समझना चाहिए। मै इन महानुभावोंको अबतक सादर दृष्टिसे देखता हूँ।

(द्वि० आषाढ़ कृ० ४)

कोई कुछ कहे, तुम अपने स्वरूपसे च्युत न हो। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमे लीन है। माननेसे पदार्थका अन्यथा परिणमन नहीं होता; हाँ, हमारी कल्पना मोह-मिथ्या होजावो। जैसे कोई महानुभाव चाकचिक्यादि दोपसे सीपमे चाँदी और रज्जुमें सर्पकी कल्पना कर लेवे। एतावता सीप रजत नहीं हुआ और न रज्जु सर्प ही होगया।

मनुष्यको उचित है प्रथम आत्म-कल्याणकी चेष्टा करे। आत्म-कल्याणके प्राक् आत्माको जाने पश्चात् उसमे जो कलंक हैं, उन्हे परिमार्जन करे। अच्छा अब बतलाओ आत्मा क्या है? उत्तर— महाशय जिसमें यह प्रश्न हुआ है जिसने उसके व्यक्त करनेके लिए

आत्मीय अभिप्रायको शब्द संकेतों द्वारा व्यक्त किया वही आत्मा है। वह कैसा है? इसका उत्तर अपनेसे पूँछो। वह कोई पुद्गल पिण्ड तो है नहीं, जो कोई झटिति उत्तर देवे, ऐसा है। जिसमें संकल्प-विकल्प होते हैं वही आत्मा है। संकल्प-विकल्पके अभावमें जो शान्तिका पात्र होता है वही तो वह है। श्री स्वामी नेमिचन्द्र महाराजने लिखा है—द्रव्यसंग्रहे—

'जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥'

सर्वसे प्रथम लक्षण आत्माका उपयोग आचार्यने बताया। वह लक्षण ऐसा है जो आत्माकी सर्व अवस्थाओंमें व्यापक होके रहता है। आत्मा द्रव्यरूपसे तो नित्य है; परन्तु पर्यायरूपसे एकरूप नहीं रहता। सामान्यतः आत्माकी दो अवस्था हैं—एक संसारी और एक मुक्त। मुक्त अवस्थामें तो आत्मा केवल रहता है, पर पदार्थोंके साथ जो गाढ़ सम्बन्ध था; वह छूट गया। उसका परिणमन शुद्ध ही रहता है। उस समय आत्माका ज्ञान केवल कहलाता है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ज्ञानका अभाव हो जाता है; क्योंकि ये ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। यदि वह क्षयोपशम न हुआ, ज्ञान मिट जाता है। जो-जो कार्य जिन-जिन कारणोंके सद्भावमें होते हैं वे-वे कार्य उन कारणोंके असद्भावमें नहीं होते। इससे सिद्ध हुआ कि केवलज्ञान ही एक ऐसा ज्ञान है जो स्वोत्पत्तौ परकी अपेक्षा नहीं रखता। अतः यह ज्ञान कभी भी नाश नहीं होता।

(द्वि० आषाढ़ कृ० ५)

जबतक स्थिर परिणति करनेमें असमर्थ आत्मा रहता है तबतक ही दुःखका पात्र होता है। एक तो वह मनुष्य सुखी होता

है जिसने परिग्रहको स्वाधीन कर रखा है। स्वाधीनका अर्थ परिग्रह त्याग दिया है। परिग्रहके लिए संसार प्रयत्न करता है, इसमें मूल कारण मिथ्यात्व है।

(द्वि० आषाढ़ कृ० ६)

चार मासमें आनन्दसे अध्यात्म शास्त्रका अध्ययन करो। व्यर्थके बकवादसे बचो, केवल स्वात्मचिन्तनमें काल लगाओ। क्षयोपशम ज्ञान है, ज्ञेयान्तरमें जावे जाने दो, राग-द्वेषकी मात्रा न हो। यही पुरुषार्थ करो, व्यर्थ दुखी मत होओ।

(द्वि० आषाढ़ कृ० ७)

संसारमें कर्मके आधीन सर्वप्रकारकी विपत्ति इस जीवको भोगनी पड़ती है। जीव अनन्त हैं। सबके परिणमन पृथक्-पृथक् हैं। अपने-अपने परिणामोंके अनुसार जीवोंको फल होता है। व्यवहारमें चार वर्ण हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनमें ब्राह्मण वर्ण अपनेको सर्वश्रेष्ठ मानता है, और वैसे शास्त्र भी मिलते हैं, जो कर्तृवाद मानते हैं। उनका तो कहना है—"**ब्राह्मणो-मुखमासीत्**"।

(द्वि० आषाढ़ कृ० ८)

ब्राह्मण भगवानका मुख है, अर्थात् मुखसे ब्राह्मणोंकी उत्पत्ति हुई और बाहुसे क्षत्रिय हुए, उरसे वैश्य और पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुए। ब्राह्मणोंका कार्य है जो वेदाध्ययन करें—तथा तीनों वर्णोंको सुमार्ग पर लानेका उपदेश करें। क्षत्रिय भूमिका पालन करें, वैश्य पशु पालन, कृषि, वाणिज्यादि व्यापार करें, धन संग्रह करें। शूद्र तीनों वर्णोंकी सुश्रूषा करें, सेवावृत्ति करें यह क्रम है। यही मान लिया जावे, परन्तु अब तो उन्होंने यह करना छोड़ दिया। सेनामें प्रविष्ट होते हैं, करबल आदि पदों पर भी प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

कृपि भी करते है, पशु पालन भी करते हैं. शिल्पीका भी कार्य करते हैं, रोटी बनानेका भी कार्य करते हैं, पानी भी भरते हैं। क्षत्रिय लोग भी खेती करने लग गए हैं, व्यापार भी करते हैं तथा सेवा-वृत्ति भी करते हैं। वैश्य भी सेनामें भरती होने लगे, नौकरी भी करने लगे। केवल शूद्रोंके प्रति यह प्रतिबन्ध है, तुम्हारा परिवर्तन नहीं हो सकता। यह महती बलात्कारिता है। यहाँ तक प्रतिबन्ध लगा रक्खा है कि जिस कूपका पानी उत्तम वर्णके उपयोगमें लावें, वहाँ पर अस्पर्श शूद्र जलादिपान नहीं कर सकते। बल्कि दक्खिनमें तो जिस मार्गसे ब्राह्मण गमन करें वहाँ अस्पर्श शूद्रोंको जाना तक निषिद्ध है।

(द्वि० आषाढ कृ० ९-१०-११)

धर्म किसीका मूल धन नहीं है। प्राणी मात्रमें धर्म है। उस पर भी लोगोंने हक जमानेकी चेष्टा कर खूबी की।

(द्वि० आषाढ कृ० १२)

मानकषाय ही संसारका कारण है। अतः जहाँ तक बने मानादिकषायोंका अभाव करनेका प्रयत्न करो। यही श्रेयोमार्ग है।

(द्वि० आषाढ़ कृ० १२)

शान्तिका कारण रागादि मलोंका न होना है। दुःखका मूल-कारण रागादि है, अन्य नहीं। यह आत्मा पर पदार्थोंको त्यागनेका प्रयत्न करते हैं तथा उनहींको निज मानते हैं। उनके वियोगमें बेचैन हो जाते हैं। यह विडम्बना सर्व भेदज्ञानके न होनेसे हो रही है।

(द्वि० आषाढ़ कृ० १२)

जो मनुष्य शान्तिके अभिलाषी हैं उन्हें पर पदार्थोंकी समा-लोचना त्याग देना चाहिए। आत्मा अचिन्त्य शक्तिवाला है, यह कोई महिमाकी बात नहीं। सर्व पदार्थ ही अचिन्त्य शक्तिशाली

हैं। आत्मा ज्ञानवान् है, यह उसकी विशेषता है। यह भी कोई महत्त्वका द्योतक नहीं, सर्व आत्माज्ञानी हैं। राग-द्वेषका ह्रास जिसमें हो वही पूज्य है।

(द्वि० आषाढ़ कृ० ३०)

हे आत्मन्! केवल कल्पनासे सुखका आस्वाद नहीं आता, सुखकी प्राप्तिके लिए आवश्यकताओंकी अल्पता ही सहकारिणी है। आत्मामें आवश्यकता होनेके मूल कारण परमें निजत्व मानना है। यही उसकी जड़ है।

(द्वि० आषाढ़ शु० ३)

अनेक सिद्धान्त जगतमें हैं, सर्वसे जघन्य सिद्धान्त चार्वाकका है। जो आत्माके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करता। उस सिद्धान्त को माननेवालोंका कहना है, जो भौतिक पदार्थोंके विकारमें कोई ऐसी सामर्थ्य शक्ति आ जाती है जो यह सर्व कार्य करती है, इसीमें सुख-दुखका संवेदन होता है।

(द्वि० आषाढ़ शु० ४)

मनुष्य जब अपनेको महान् समझता है और उसकी रक्षाके अर्थ प्रयत्न करता है, वह वास्तवमें मनुष्य हो जाता है। और जो अभिमानसे लिप्त होकर इतरका तिरस्कार करता है वह संसारमें मनुष्यतासे दूर होता है।

(द्वि० आषाढ़ शु० ५)

यह बड़े-बड़े शास्त्रोंकी सम्मति है जो सम्यग्दृष्टि विरले जीव होते हैं। जब यह व्यवस्था है तब खेद काहेका? कल्याणका मार्ग कठिन नहीं, परन्तु जब उस ओर दृष्टि ही नहीं तब नियमसे कठिन है।

(द्वि० आषाढ़ शु० ६)

सिनेमामें दृश्य देखकर जैसे मनुष्य लाभ उठाते हैं, यहाँ

वक्ताके वचनको भी श्रवण कर थोड़े समयको प्रसन्न हो जाते हैं। बहुत हुआ वक्ताको हर्षित करनेके लिए धन्यवाद शब्दका उपयोग कर देते हैं।

(द्वि० आषाढ शु० ९)

प्रत्येक कार्य शान्तिसे करो, और शान्तिके लिए करो। शान्तिका स्वरूप जानकर अशान्तिके मार्गमें मत जावो। जो भी कार्य करो उसमें आत्मीय लाभ और हानि देख लो। आत्मीय लक्ष्य कुछ नहीं, तब तुम्हारे सर्व प्रयत्न व्यर्थ हैं। सर्वदा आत्मीय लक्ष्य पर दृष्टिदान रक्खो। ओम्!

(द्वि० आषाढ शु० १०)

जो नियम लो; उसका पालन करो। उपदेश देकर मानको आसान करो। सद्वचन बोलो, अल्प विहार करो। यथार्थ सत्य कहो, जो कटुक भाषा हो उसका प्रयोग न करो। सत्यका पालन वही कर सकता है जो संसारसे भयभीत हो। जो लोक प्रतिष्ठा चाहता है वह मुमुक्षु नहीं।

(द्वि० आषाढ शु० ११)

शुद्ध भाव रक्खो, परकी मूर्च्छासे ही शुद्ध भावका घात होता है। अग्निका सम्पर्क ही जलमें विकृतिका कारण होता है।

पुण्य-पाप बन्धके कारण होनेसे दोनों ही कुशील हैं। उनमें एकको कुशील और एकको सुशील मानना बुद्धिमें नहीं आता। चाहे सुवर्णकी बेड़ी हो चाहे लोहेकी बेड़ी हो, दोनो ही पुरुषोंको बन्धनका कारण हैं। इससे कुशील जो हैं उनसे संसर्ग और राग त्यागो। कुशील शुभ कर्म भी है और अशुभ कर्म भी है। दोनों आत्माको संसार बन्धनमें डालते हैं। जैसे लोकमें जब यह निश्चय हो जाता है जो अमुक मनुष्यकी प्रवृत्ति दुष्टा है। तब हम उस मानुषका चाहे वह उत्तम वर्णका हो चाहे जघन्य वर्णका हो; संसर्ग

त्याग देते हैं। इसी सदृश वह कर्म प्रकृति चाहे वह शुभ हो चाहे अशुभ हो। जब हमको दोनों ही परिणतियाँ संसारका कारण होती हैं तब जो विज्ञानी वीतरागी हैं वे उनके साथ न संसर्ग करें और न राग करें। लोकमें यह भी देखा गया है, जो कुशल हस्ती होता है वह स्वकीय बन्धनके लिए तृणपटलसे आच्छन्न जो गर्त्त है, उसपर स्थित जो करेणु कुट्टिनी है; चाहे वह मनोरमा हो चाहे अमोरमा हो उसका संसर्ग नहीं करता। इसीसे भगवान् कुन्द-कुन्दाचार्यका उपदेश है—

'रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥'

ज्ञानार्णवेऽपि कथितं—

'रागी बध्नाति कर्माणि वीतरागो विमुच्यते।
एषो जिनोपदेशोऽयं संक्षेपाद्बन्धमोक्षयोः ॥'

जो रागी जीव है वह बन्धको प्राप्त होता है और वीतराग छूटता है, यही जिन भगवान्का उपदेश है; इससे रागको त्यागना चाहिए। जो मनुष्य परमार्थ-मार्गसे च्युत हैं, वे व्रत-शील तप करके भी संसारके पात्र होते हैं।

(द्वि० आषाढ़ कृ० १२)

सर्वसे पर अपनेको समझो, अपनेमें भी अपनापन छोड़ो अर्थात् अभिमान न करो। अभिमानसे आत्मगुणका घात होता है। जैसे मैलापन कपड़ेकी स्वच्छताका घातक होता है। अग्निकी उष्ण पर्यायके सम्बन्धको पाकर जलके शैत्यका पता नहीं चलता एक कालमें एक गुणकी एक ही पर्याय रहती है।

(द्वि० आषाढ़ कृ० १३)

शीघ्रता न करो, धीरतासे प्रेम करो। परको प्रसन्न करनेको आत्माको सुमार्गमें लगाओ। सुमार्गका अर्थ है अपनी परिणति इतनी स्वच्छ करो, जो उसमें ज्ञेय ज्ञेयरूप रहे। ज्ञानकी परिणति ज्ञानको ही स्पर्श करे, यद्यपि ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध मात्रसे एक दूसरेका सम्पर्क है और कुछ नहीं।

(द्वि० आषाढ़ शु० १४)

आज गुरुपूर्णिमा है। स्वयं रागादि दोषोंसे अदूषित हो प्राणी-मात्र पर अनुकम्पा करो।

(द्वि० आषाढ़ शु० १५)

पदार्थोंके परिणमन स्वाधीन नहीं, अज्ञानी जीवोंकी कल्पना असंख्य है। परमें ही अस्तित्व मानते हैं, अपने को कुछ नहीं मानते। यही महती अज्ञानता है। इसका मिटना असम्भव है।

(श्रावण कृ० १)

तत्त्व तो जो है सो रहेगा, वह कभी भी विनाश न होगा। केवल परके सम्बन्धको पाकर विकृत हो जाता है। जैसे कोई फल अधिक गर्मी पाकर सड़ जाता है, उसके रसादि गुण विकृत परि-णमनको प्राप्त हो जाते हैं। उसको अभक्ष्य संज्ञा दे दी जाती है।

(श्रावण कृ० २)

शान्तिके लिए व्यग्र मत होओ, वह अन्यत्र नहीं समीप है। परन्तु उस ओर हमारा लक्ष्य नहीं। हमारा विषय बाह्य है, अंतरंगकी ओर लक्ष्य नहीं। जो निजकी दशासे परिचय न किया तब मनुष्य जन्म यों ही विताया, मनुष्यसे उत्तम अन्य नहीं।

(श्रावण कृ० ३)

देखकर चलो, देखकर भोजन करो, भोजन करते समय उपयोग को अन्यत्र मत जाने दो। क्षुधाके अनुरूप भोजन करो, जो रुचे

तथा पचे उसे उपयोगमें लाओ। भोजनका प्रयोजन शरीरकी रक्षा है। यदि भोजनसे शरीर रोगी हो जावे तब वह भोजन विष है।

(श्रावण कृ० ५)

बहुत कम बोलो, कुछ न करो यह अच्छा है; किन्तु अनुचित काम न करो। उचित-अनुचितकी परिभाषाका निर्णय स्वानुभवसे करो। आपका अनुभव ही कल्याणका मार्ग है, अनुभव शून्य ज्ञान कल्याणका कारण नहीं।

संसारमें सर्व मनुष्य अपने-अपने गीत गाते हैं। कोई किसीका उपकारी नहीं। केवल जो आत्मामें कषाय उत्पन्न होती है, उसे दूर करनेका प्रयास करते हैं। कषायसे आत्मामें एक प्रकारकी बेचैनी हो जाती है। वह बेचैनी ही कार्यमे प्रवृत्ति कराती है। जैसे–जिस समय हमको क्रोध उत्पन्न होता है, उस समय परको अनिष्ट करनेकी इच्छा होती है। उससे हमको कुछ लाभ नहीं; परन्तु वह इच्छा जब तक है तब तक बेचैनीसे विकलता होती है। जब परका अनिष्ट हो गया, वह विकलता मिट जाती है। हमारी श्रद्धा क्रोध कषायका कार्य ही इसका कारण है। वास्तवमें जो विकलता थी, वह क्रोध कषायसे थी। कार्य होनेसे हमारा क्रोध मिट गया। विचार कर देखो न?

न हम क्रोध करते न विकलता होती; अतः क्रोधको न होने देना ही हमारा पुरुषार्थ है। इसका अर्थ यही है जो क्रोध होनेपर उसमे आसक्त न होना। यही आगामी न होनेका उपाय है। क्रोध यह उपलक्षण है यावत् मोहकर्मके उदयसे भाव हों उन सर्वमें आसक्त न होना। कहाँतक कहा जावे? देखने-जाननेमे जो पदार्थ आवें, आनेकी रोक-टोक नहीं हो सकती। उनमें रागादि न करना यही संसार-बन्धनसे मुक्त होनेका अद्वितीय मार्ग है। आत्मा द्रव्यकी परिणति आत्मातिरिक्त पदार्थोंके सम्बन्धसे ही कलुषित हो जाती

है। कलुषितका अर्थ यह है जो उन पदार्थोंमें निजत्व कल्पना कर हम किसी पदार्थसे राग करते हैं और जो हमारे रागके विरुद्ध होते हैं उनके वियोगका यत्न करते हैं। इस प्रकार प्रक्रिया करते-करते अन्तमें इस पर्यायका अन्त आ जाता है। अनन्तर जिस पर्यायमें जाते हैं वहाँ यही प्रक्रिया काममें लाते हैं। इस तरह अनन्त संसारके पात्र होते हैं। वास्तवमें न तो अन्य पदार्थ हमारा है और न हम अन्यके हैं। तब क्यो उनमें निजत्व कल्पना? यही कल्पना दूर करनेके अर्थ आगमाभ्यास है। आगम मे तो इतना सुन्दर कथन है। यदि वह हमारे अनुभव में आजावे तब कल्याण मार्ग अति सुलभ होजावे।

आत्मा नामक एक पदार्थ है। उसका अनादिकालसे अजीव पुद्गलके साथ सम्बन्ध है। आत्मा चैतन्यगुणवाला द्रव्य है। पुद्गल जड़ है, उसका लक्षण स्पर्श, रस, गंध, रूप है। जहाँ ये पाये जावें उसे पुद्गल कहते हैं। पुद्गल के साथ जीवका ऐसा सम्बन्ध है जो यह जीव उसको निज मान लेता है। निज मानकर उसको सदा रखनेका प्रयास करता है। यदि उसमे कोई बाधा पहुँचाता है तब उसे निज शत्रु मान लेता है।

(श्रावण वदी ५)

उचित और अनुचित विचारकर किसी कार्यमें प्रवृत्ति करनेका आरम्भ करो। उचित तो यह है कि प्रथम आपको जानकर तद्रूप रहनेका प्रयत्न करो। बात कहना बातुलका काम करना है।

(श्रावण कृष्ण ७)

शुद्धताका अर्थ है, एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यसे तादात्म्य नहीं। सम्बन्ध अनेक प्रकारके हैं। उनमें संयोगादि सम्बन्धका निषेध नहीं। तादात्म्य सम्बन्ध मात्रका निषेध है। जैसे आत्माका ज्ञानके

साथ तादात्म्य है, वैसा पुद्गलादि द्रव्यके साथ सम्बन्ध नहीं। अतः जो निज वस्तु है, उसीको अपनाओ।

(श्रावण कृष्ण ८)

हे आत्मन्। सर्व उपद्रवोंसे पृथक् होनेकी चेष्टा करो। संसारमें आपकी प्रवृत्ति ऐसी निर्मल करो जिसे देखकर अन्यको शान्ति पहुंचे। यह लक्ष्य मत रखो जो अन्यको शांति पहुंचे। परकी कल्पना त्यागो। परसे कभी भी आत्मशांति नहीं। शांतिका कारण आपको आप रखो।

(श्रावण कृष्ण ९)

आजका कार्य कल पर मत छोड़ो, अन्यथा कभी भी कोई कार्य नहीं कर सकोगे। जो कार्य करो, सांगोपांग करो। किसीके द्वारा यदि उस कार्यकी समालोचना हो तो यदि वह उचित है तब उसे स्वीकार करो। और जो कार्यमें दोष हों उन्हें पृथक् करो।

(श्रावण कृष्ण १०)

धर्म अतीन्द्रिय नहीं, यदि कोई मनुष्य प्रयास करे तब धर्म तत्काल अनुभवमें आ सकता है। धर्म आत्माका केवल परिणाम है। जिसके उदयमें अनायास संसार बन्धनसे छूटकर केवलदशा जीवकी हो जाती है।

(श्रावण कृष्ण १२)

संसारमें प्राणीमात्रके प्रति सद्व्यवहारसे प्रवृत्ति करो। किसीको तुच्छ मत मानो, तुच्छ मानना मान-कषायका द्योतक है। मान-कषाय ही संसारमें दुखदाता है। मनुष्योंसे मनुष्यताका व्यवहार करो, क्योंकि जैसे आप मनुष्य हो, अन्य भी मनुष्य हैं।

(श्रावण कृष्ण १३)

किसीसे द्वेषभाव न करो, द्वेषभावसे पाप प्रकृतियोंका बन्ध होता है। प्रकृतिके उदयमें निर्मलभाव नहीं होते, निर्मल भावोंके

अभावमें निरन्तर तीव्र संक्लेशता रहती है। संक्लेशता ही दुःखकी जननी है। जिन्हें दुःखसे मुक्त होना हो वे रागादिक परिणामों से बचें।

(श्रावण कृष्ण १४)

जब तक आप आकुलताके कारणोंमें व्यस्त हैं, परको वीतरागताका उपदेश देकर उपदेष्टा बननेकी चेष्टा मत करो। जो प्रतिज्ञा करो, उसका निर्वाह करो। यदि अनुचित प्रतिज्ञा हो, उसको भंग करनेमें ही लाभ है। किसी भी मनुष्यके साथ अशिष्ट व्यवहार मत करो, चाहे वह अपना शत्रु क्यों न हो?

(श्रावण कृ० ३०)

आज स्वराज्यका दिवस है, अतः भारत सरकारकी ओरसे छुट्टी है। दिन आना-जाना होता है। खेद इस बातका है कि हम लोग अपनेको नहीं सम्हालते। संसारको उपदेश देते हैं, कल्याण मार्ग पर चलो, परन्तु हम स्वयं कल्याण मार्ग पर नहीं चलते। अन्यको उपदेश देते हैं, क्रोध मत करो। हम स्वयं क्षमाकी अवहेलना करते हैं।

(श्रावण शु० २)

जो कुछ करो, विचारके करो। विचारसे तात्पर्य आत्मतत्त्वको ठीक समझो और उसीमें रत रहो। तथा उसका देखना जानना ही मानो। राग-द्वेष औपाधिक भाव हैं, उनको त्यागो। जो तुम्हारी निरपेक्ष परिणति है, उसका आदर करो।

(श्रावण शु० ३)

जिस कार्यके करनेमें उत्साह नहीं उस कामको मत करो। व्यर्थ परिश्रमसे कुछ लाभ नहीं। मनको स्थिर रखनेके लिए आत्मबोधकी महती आवश्यकता है। सम्यग्दर्शनका यह अर्थ है जो

वस्तुको यथार्थ प्रतीत करा देवे। सम्यग्दृष्टि जीव परके गुणोंकी प्रशंसा करते हैं, क्योकि गुण निज वस्तु है।

(श्रावण शु० ४)

जहाँ तक बने आत्माको प्रसन्न रखो, यदि कोई अपमान करे तब दुखी मत होओ। प्रसन्न कृत विकारोंसे निजकी रक्षा करो। ज्ञाता, दृष्टाका केवल अर्थ ही मत समझो प्रत्युत ज्ञाता दृष्टा रहो।

(श्रावण शु० ६)

किसीके साथ स्नेह मत करो। स्नेह ही बन्धनका मूल है। स्नेहका मूल मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व ही परमे निजत्व कल्पना करता है। प्रश्न यदि ऐसा है तब मिथ्यादर्शन जाने बाद क्यों पर पदार्थोंमें राग होता है? तत्त्वसे राग नहीं होता, संस्कार के बलसे वह थोड़े काल रहता है पश्चात् अनायास चला जावेगा। किसीसे राग न करो, द्वेष तो सुतरां हेय है। रागसे मोक्षमार्गकी उपलब्धि का उपाय होनेकी सम्भावना है, परन्तु है राग बन्धका हेतु, अतः हेय है।

(श्रावण शु० ८)

जिस कार्यके करने योग्य सामर्थ्य न हो, उसे आरम्भ मत करो। पराश्रित जीवनको मत बनाओ। पर घर भिक्षावालोंको उचित है जो दाताके घर पर भोजन मिले उसे सन्तोष पूर्वक भक्षण कर उदरपूर्ति कर लें। गृद्धताको त्याग भोजन करो। भोजन तो पर पदार्थ है, इतने मुग्ध क्यो होते हो?

(श्रावण शु० १०)

मेरा स्वयं विश्वास है, जो मनुष्य मात्र संयमका पात्र है। विकास उसकी योग्यताके अनुरूप होता है। किसीको तुच्छ

समझना महती अज्ञानता है। उत्तम कुलमें पैदा होनेसे ही आत्मा संयमका पात्र होता है, यह हमारी बुद्धिमें नहीं आता।

(श्रावण शु० ११)

शांतिका मार्ग कहीं नहीं, आत्मीय परिणतिमें है। परन्तु उसमें मोहादिजन्य विकार न होना चाहिए। मोहसे आत्मामें पर-पदार्थमें निजत्व भाव हो जाता है और जहाँ निजत्व हुआ, वहाँ ही राग-द्वेपको आश्रय मिलता है। जहाँ राग-द्वेप हुआ वहाँ ही फिर संग्रह करनेकी रुचि होती है।

(श्रावण शु० १३)

सबसे बलवान पाप पर-पदार्थमें निजत्वकी कल्पना है। जिस महापुरुषने इसे छोड़ा, अपने मनुष्य जन्मके लाभका फल पाया।

(श्रावण शु० १४)

परकी रक्षा वही कर सकता है, जो स्वयं आत्माकी रक्षा करनेमें समर्थ है, जो आत्माकी रक्षा करनेमें असमर्थ है वह क्या परका कल्याण कर सकता है? रक्षासे तात्पर्य आत्माको पाप से पृथक् करो, पाप ही संसारकी जड़ है।

(श्रावण शु० १५)

यह भारतवर्पमें अवस्था थी, जो पाँच वर्पके बालकोंकी रचना इस प्रकारकी कर्णप्रिय और भावपूर्ण होती थी। एक बालकका उपाख्यान है, जो एक पंडितने सभामें यह समस्या दी जो—"क्व यामः किं कुर्मः हरिणशिशुरेवं विलपति"।

(भाद्रपद कृष्ण २)

परकी समालोचना त्यागो, आत्मीय समालोचना करो। समालोचनामें काल लगाना भी उचित नहीं। प्रत्युत वह काल उत्तम विचारोंमें लगाओ। आत्माका स्वभाव ज्ञाता दृष्टा है, वही

रहने दो। उसमें इष्ट-अनिष्ट कल्पनासे बचो। अनादिकालसे यही उपद्रव करते रहे।

(भाद्रपद कृष्ण ३)

परके समागमसे लाभ भी होता है और हानि भी होती है। और न लाभ होता है न हानि होती है। जैसे जीवके मरनेपर हिंसा होती भी है और नहीं भी होती है। प्रमत्त योग सद्भावमें हिंसाका सद्भाव है, अभावमें नहीं। इसी कार्य मात्रमें यही प्रणाली है। स्वच्छ भावोंकी उत्पत्तिका मूल कारण स्वयं है।

(भाद्रपद कृ० ४)

बहुत विकल्प होना ही दुःखका मूल कारण है। आत्माका परिणाम दर्शन, ज्ञान है। उसमें जो इष्टानिष्ट कल्पना होती है, वही आत्माको पतित बनाती है। फिर उस पतितको दूर करनेके लिए पतित पावन तक पुकार होती है। जब पतित पावन कोई साक्षात् सुननेवाला नहीं मिलता और जो कृतकृत्य आत्मा हो चुके, उनके इन्द्रियजन्य ज्ञान नही, जो उसकी पुकारको सुनें। ज्ञानमें आनेपर भी मोहके अभावसे भक्तपर करुणा बुद्धि नहीं। फिर हम पत्थरकी मूर्तिमें भगवान्‌की कल्पना कर अपना दुःख सुनाते हैं। सुननेवाली मूर्ति ही तो है, उसके इन्द्रिय नहीं, कौन सुने? अन्ततोगत्वा यही समझमें आता है, जैसे हम पापके कर्ता हैं, तद्वत् हमारी आत्मा ही उसका वारण करनेवाली है। तब सिद्ध हुआ, हम स्वयंही पतित हैं और स्वयं ही पतितपावन हैं। किन्तु हमारी अनादि कालसे श्रद्धा परमे हो रही है। यही संसारका मूल कारण है।

(भाद्रपद कृ० ५-६-७)

अनादि कालसे पर पदार्थोंके सम्बन्धसे मोही, रागी-द्वेषी बन

रहा है, यदि यह आत्मीय ज्ञान, दर्शन पर ही आत्मीय स्वत्व रक्खे तब आज कल्याणका मार्ग प्राप्त हो सकता है।

(भाद्रपद कृ० ८)

आत्मीय परिणतिको स्वच्छ रक्खो; परन्तु सो तो कर्ता नहीं संसारका ठेका लेता है। जो मनुष्य आत्म-कल्याणसे वञ्चित हैं, वे ही संसारके कल्याणमें प्रयत्न करते हैं। परमार्थसे कोई भी पदार्थ किसी पदार्थका कुछ नहीं कर सकता, प्रतीति ऐसी होती है जो कुम्भकारने घट बनाया। कुम्भकारने प्रयत्न किया, कुम्भकार उस प्रयत्नका कर्त्ता है।

(भाद्रपद कृ० ९)

संसारमे यदि शान्ति चाहते हो तब सबसे पहले परमें निजत्व की कल्पना त्यागो। अनन्तर अनादिकालसे जो यह परिग्रह पिशाचके आवेगमें अनात्मीय पदार्थोंसे आत्महितका संस्कार है, उसे त्यागो। हम आहारादिक संज्ञाओंसे आत्म तृप्त करनेका प्रयत्न करते हैं, यह सब मिथ्या धारणा त्यागो। सन्तोषका कारण त्याग है। उस पर स्वत्व कल्पना करो। प्रतिदिन जो गल्पवादमें जगत को सुलझानेकी चेष्टा है, उसे त्यागो और आपको सुलझानेका प्रयत्न करो। संसारमें धर्म और अधर्म तथा खान और पान यही तो परिग्रह है। यह जो धर्म है, जिसे लोकमे पुण्य शब्दसे व्यवहार करते है, तुम्हारा स्वभाव नहीं। संसारमे ही रखनेवाला है।

(भाद्रपद कृ० ९-१०)

निःशङ्क रहो, यही मोक्षमार्गका प्रथम मूल मन्त्र है। गृहस्थोंके चक्रमे मत आओ। यह ही संसार वृद्धिकी मूल जड़ है। एकाकी ही रहना और आपत्तियोंसे सुरक्षा करनेवाला है। आत्मा जहाँ पराधीन हुआ, वहीं अनेक प्रकारके सङ्कटोंमे पड़ जाता है।

किसीको वचन मत दो, जो आपकी परिणतिको पराधीनतामें मत रक्खो।

(भाद्रपद कृ० ११)

दृढ़तम प्रतिज्ञाके अनुसार कार्य करनेवालोंको सिद्धि हस्तामलकवत् है। बहुतसे मनुष्य संसारमे ख्यातिकी चाहसे नाना प्रकारके कष्ट उठाते हैं। अन्ततो गत्वा यदि लौकिक यश न मिला तब पश्चात्तापके पात्र होते है। यदि शांति और सुखकी कामना है तब इन विकल्पोंको छोड़ो और सरल भावोंसे काम करो।

(भाद्रपद कृ० १२)

जो निर्भय होते है, वे ही कार्य करनेमे उत्तीर्ण होते हैं। संसार रागादि परिणामोके द्वारा जीव और पुद्गलकी विभाव पर्याय है। विभाव पर्यायकी उत्पत्ति ही पदार्थोंके विलक्षण सम्बन्धसे होती है। एक स्थान पर रजत और स्वर्णका पिण्ड रखा है, इससे उनमें विकृति नही होती। किन्तु जब दोनोका योग कर एक पिण्ड बना दिया जाता है तब विकृत हो जाते हैं। एवं जीव और पुद्गलका विलक्षण सम्बन्ध ही संसारका जनक है। किन्तु इनमे पुद्गल अचेतन है, उसको यह ज्ञान नहीं जो हमारी विकृतावस्थामे कारण जीवका विभाव परिणाम है। अतः उसके प्रति बदला लेनेकी चेष्टा है। जीवमें चेतन गुण है, अतः पदार्थोंके बाह्याभ्यन्तर कारणोंको जान उनके पृथक् करनेका प्रयत्न करता है।

(भाद्रपद कृ० १३-१४)

मैं इन सबका ज्ञाता दृष्टा हूँ, ऐसी मेरेमें शक्ति है। अनादिसे स्वभाव मेरा मेरे साथ है; किन्तु उसमे यह दोष आ गया, जिसको मैं देखता हूँ। उसको निज मानने लगा। यही महती त्रुटि हुई। दर्पणमे स्वच्छता है और उसका कार्य स्वपरप्रकाशकत्व है। जैसे दर्पणमें अग्नि झलकती है।

(भाद्रपद कृ० ३०)

स्वाधीनता ही सुखकी जननी है। परतन्त्रतासे आत्मविकासमें बाधा आती है। परके ध्यान करनेसे आत्माकी क्षति नहीं, उसमें राग-द्वेषकी कल्पना ही क्षतिका कारण है। राग-द्वेषकी उत्पत्तिका मूल कारण तो आत्मा ही है। परन्तु जिसमें मोहनीय कर्मकी सत्ता होगी, वही आत्मा रागादि परिणामोका पात्र होगा।

(भाद्रपद शु० १)

परका समागम ही दुखका निमित्त है। मोह, राग-द्वेषके लिए इसका अंश पर्याप्त है। महान् पुरुषोंने इसीसे एकाकी रहना इष्ट किया। यहाँ तक महापुरुषोंने विचार किया, जो हमारे आधुनिक मनुष्योंके ध्यानमें उनके विचारोंका आभास भी नहीं होता।

(भाद्रपद शु० २)

चित्तमें निर्मलता रखना। अपनी कषायको अपनी न समझो। जब अपनी नहीं तब उसे रखनेका प्रयास ही क्यों? आप तो ज्ञानादि गुणोका पिण्ड है, तब उसमें अन्यको रखनेकी चेष्टा क्यों?

(भाद्रपद शु० ४)

हम अपनेको भीरु समझते हैं यही हमारे ज्ञानमें बाधक है। जिस दिन हम सिंह बन निर्भय हो जावेंगे, अनायास आत्म-कल्याण सन्निहित है।

(भाद्रपद शु० ५)

दिन शांतिसे यापन करो। 'समयसार' में यह दिखाया है जो सर्वद्रव्य अपने-अपने स्वभावमें परिणमन करते हैं। अन्य द्रव्यका परिणमन करानेमें समर्थ नहीं। इससे यह न समझना, जो श्रीकुन्द-कुन्द महाराजने निमित्तको मेटा हो, उपादान कारणकी अपेक्षा यह कथन है।

(भाद्रपद शु० ७)

सत्यका अर्थ है यथावस्तु तथा निरूपण करना। शास्त्रके द्वारा निरूपण होता है। वह डंडा लेकर प्रवृत्ति नहीं कराता तथा यह भी नहीं कहता कि तुम हमको आचरण करो। हमको उचित है कि हम स्वयं मार्गपर चलकर उससे लाभ उठावें। वल्कि लाभकी आशा छोड़कर उसपर अमल करना ही आत्मकल्याणका साधक है। व्याख्यान देकर मनुष्य जगतको प्रसन्न करना चाहते हैं। आत्माको प्रसन्न करनेकी अवहेलना करते हैं। फल उसका उत्तम नहीं, उत्तमता तो इसमें है जो निरन्तर पापोंसे पृथक् रहनेकी चेष्टा करो। पापका मूल कारण राग है, इसका निपात करो।

(भाद्रपद शु० ८-९)

तत्त्वसे देखो तब आत्मा तो निर्विकल्प है। उसमे यशोलिप्सु ही व्यर्थ है। यश तो नामकर्मकी प्रकृति है। यशसे कुछ मिलता-जुलता नही।

(भाद्रपद शु० १०)

आपको निर्मल बनानेका प्रयास करो। परकी चिंता करनेसे कुछ लाभ नही। पर पदार्थके परिणामके तुम कर्त्ता नहीं और न दाता भी हो। व्यर्थके संकल्प-विकल्प जालमें अपनेको फँसाते हो। विचारो तो सही, वन्दर चनेके लोभसे घटमे अपने दोनों हाथोंको फँसा लेता है। धिक्! इस लोभको।

(भाद्रपद शु० ११)

संसारकी लीला अनन्त नही, कषायाध्यवसान असंख्यात लोक प्रमाण ही तो हैं।

(भाद्रपद शु० १२)

निरन्तर स्वात्मचिन्तन करो। इसका अर्थ यह है कि तुम अकेले हो, यह शरीर भी पर है, इसका स्वभाव अन्य है। तुम देखने-जाननेवाले हो। यह दृश्य है, इसमे तुम्हारा अंश भी नहीं।

इसका अंश तुममें नहीं, व्यर्थके जालमें मत पड़ो। जालमें फँसनेका कारण तुम्हारा लोभ है,—"लोभ पापका बाप बखाना।"

(भाद्रपद शु० १२)

निर्भीक होकर काम करो। भय पापसे करो। उत्तम अभिप्रायको व्यक्त करनेमें संकोच मत करो। जिसने उत्तम बातका प्रचार न किया वह मनुष्य गणनाका पात्र नहीं।

(भाद्रपद शु० १४)

सर्वसे महान् बंधन संसारमें परको निजत्व मानना है। आज शरीरको आत्मा मानकर सम्पूर्ण जगत अनन्त दुःखोका पात्र हो रहा है। यदि दुःखसे मुक्त होना चाहते हो, परमें ममता त्यागो।

(भाद्रपद शु० १५)

सर्वसे प्रथम आत्माकी आराधना करो जो मार्गको दिखानेवाला है। वही आराध्य देव है। उसमें अचिन्त्य सामर्थ्य है। वह चाहे तो आत्माको ऐसे स्थानपर लेजावे जहाँ एक श्वांसमें अठारह बार जन्म-मरण अनंतकाल भुगतना पड़े। और वह चाहे तो ऐसे स्थानपर ले जावे जहाँसे फिर आगामी काल कहीं पुनरागमन न होवे। यह लिखना सहज है; परन्तु करना कठिन है। विकल्पका करना सरल है; किन्तु उसका करना अति कठिन है। कठिन ही नहीं अति कठिन है। अतः जिन्हें सुख चाहना है उन्हें विकल्पोंका परित्याग करना चाहिए। केवल कथा करनेसे कोई लाभ नहीं।

(आश्विन कृ० १-२)

परमार्थसे क्षमा, अन्तरंग शांतिभावकी प्राप्ति हो जाना यही है। किन्तु हम लोग परसे क्षमा माँगते हैं और परको देते हैं। यह व्यवहार है, उसे त्यागना ही श्रेष्ठ है। इसपर लोगोंकी दृष्टि नहीं।

(आश्विन कृ० ३)

'जो काम करो, दृढ़ निश्चयसे करो।' परकी कल्याण कथा

छोड़ो। श्रेयोमार्ग पर दृष्टिपात करो। केवल गल्पवादमें समय न गमाओ।

(आश्विन कृ० ६)

आत्मद्रव्य है इसमे क्या प्रमाण है? आपका कहना ही इसमें प्रमाण है। आपके यह भाव हुआ, जो मै कौन हूँ? जिसमें यह इच्छा हुई वही तो आप हो।

(आश्विन कृ० ७)

काम संसारमे दुःखकी खनि है और अर्थ अनर्थका कारण है। इन दोनोंका मूल धर्म (गुण) है। अतः इसमें आदर त्यागो। **'पुत्र-मित्र-कलत्राणि न हि सुखकारणणि, एतानि त्रीणि परित्यज्य मोक्षमार्गे प्रवृत्तिं कुरु।**

(आश्विन कृ० १०)

परके ऊपर दया करना उसको उचित है जो यह समझे दया करनेवाला मैं कौन हूँ? जब मै स्वयं दुःखी हूं परके ऊपर क्या दया करूँगा? जिसपर दया करता है, उसे लघु मानता है। यही तो महती अज्ञानता है।

(आश्विन कृ० ११)

परसे समागम करना ही परम दुःखका कारण है। दुःख अन्य वस्तु नहीं; आत्मामे आकुलता ही दुःखकी जननी है। यदि इसको पृथक् करनेकी इच्छा है, तब परके समागमको त्यागो। गल्पवादसे कुछ नहीं होता। कर्तव्य-पथमे आओ, कुछ करके दिखाओ।

(आश्विन कृ० १२)

व्यग्रता त्यागो, कोई भी कार्य हो शान्तभावसे करो। शांतिके अर्थ अशान्त होना महान् अनर्थकी जड़ है। अनर्थ परम्परासे क्रांति बहुत दूर हो जाती है। अतः कोई भी परिस्थिति आजावे

इसमे व्यग्र मत होओ। व्यग्रतासे कार्यमें बाधा ही होगी। केवल शान्तिका लाभ भी न होगा।

(आश्विन कृ० १२)

अनेक प्रकारके विकल्प उठते हैं जो प्रायः व्यर्थ हैं। उचित तो यह है जो सर्व कल्पनाओंको त्यागकर केवल आप ही रह जावे। फिर पोत पक्षीके सदृश केवल आपही आप कल्याणका विषय रह जावेगा। उस कालमें जो कल्पना जालसे नाना प्रकारके आकुलताजन्य दुःख होते थे वे स्वयमेव शांत हो जावेंगे।

(आश्विन कृ० ३०)

प्रत्येक प्राणीको सुमार्गमें लगानेका प्रयत्न करो। किसीको बुरा मत समझो। सर्व प्राणी आत्मीय परिणतिके अनुकूल प्रवर्तन करते हैं। आज जिसे आप विपरीत मान रहे हो, कल उसीको सुपरीत समझने लगोगे। जैसे शीतकालमें घाम सुहाता है, वही गर्मीके कालमें असुहावना लगता है। अतः सहसा कोई सिद्धांत स्थिर मत करो।

(आश्विन शु० २)

चित्ताकी व्यग्रतासे कोई भी इष्ट सिद्धि नहीं होती। केवल पापका बन्ध होता है। पुण्य-पाप दोनों विकृत भाव हैं। इनसे परे जो भाव है वही शांतिका दाता है। शांति संसारमें कहीं नहीं, शांतिका उदय स्वयं आत्मामें होता है। आवश्यकता स्वच्छताकी है।

(आश्विन शु० ३)

कोईका अनिष्ट चिन्तन मत करो। किसीका हित हो इसका हर्ष मानो। परका उत्कर्ष देखकर हर्ष मानो। किसीको दुष्ट देख उसे सज्जन बनानेकी चेष्टा करो। उसकी निन्दा मत करो। कर्मके

विपाकसे प्राणी कहाँ-कहाँ नहीं जाता। यह सर्व विकृत परिणामोंका ही तो विपाक है, उन्हें त्यागो।

(आश्विन शु० ४)

परकी आशासे जो कल्याण चाहते हैं वह गर्तमें पात करते हैं।

(आश्विन शु० ६)

जिससे मनमें कलुषता आवे, वह परिणाम त्यागो। पर पदार्थको दुखदायी मत मानो। आत्मामें जो बात उत्पन्न हो उस परसे विशुद्धता और संक्लेशताकी कल्पना करो। परको व्यर्थ उपालम्भ मत दो। यह तुम्हारी कल्पना ही तो है उसका अंश भी तुममें नहीं आता।

(आश्विन शु० ८)

पाप कार्योंसे भय करो, अन्यसे भय करनेकी आवश्यकता नहीं। निज स्वरूपकी आराधना करो, परकी आराधना कुछ लाभप्रद नही, संसारकी जड़ है।

(आश्विन शु० ९)

वही महान् पुरुष है। जो अपने दोषोंको देखकर पृथक् करनेकी चेष्टा करता है।

(आश्विन शु० १०)

निर्भीक रहो। भयसे आत्मा पतित होजावेगा। मोक्ष-मार्गसे वञ्चित होना पड़ेगा, पाप मत करो। परमेश्वरकी आराधनाकी आवश्यकता नहीं। (आश्विन शु० ११)

ईश्वरकी उपासनासे ईश्वर नही होता और धनादिके व्ययसे आत्मा शांति नही पाता। आप स्वयं अपनेको अपनाओ, यही शांति और सुखका मार्ग है। आगम पढ़नेसे आत्मा ज्ञानी व्यवहारमें होजाता है; परन्तु उससे पारमार्थिक ज्ञानका लाभ नहीं।

(आश्विन शु० १२)

परका सम्बन्ध जबतक है तब तक ही संसार है। परके सम्बन्धका अर्थ यह है जो जिस भावसे परको अपना मानता है वही त्यागने योग्य है। अथवा जो भाव होगया उसका त्याग ही क्या हो सकता है? उसमें उपेक्षा बुद्धि ही (श्रेष्ठ है।

(आश्विन शु० १३)

निर्मल परिणामका यह अर्थ है जो आत्मामें कलुपता न आवे। कलुपताका यह अर्थ है जो आपकी परिणतिको क्रोधादि रूप न होने देवे।

(आश्विन शु० १४)

आनन्दसे जीवन यापन करो, विशेप चिंता त्यागो। कैसे ही प्रबल उपदेष्टा उपदेश देकर सुधारनेकी चेष्टा करें और तुम उसके मर्मको जान जाओ; परन्तु जबतक परपदार्थोंसे ममत्व न त्यागोगे तबतक भोदूके भोदू रहोगे। पर पदार्थोंका सम्पर्क छूटना ही कल्याणका मार्ग है।

(आश्विन शु० १५)

विरोध आनेपर संतोप करो, बिना विरोधके कार्यसिद्धि नहीं होती। विरुद्ध सामग्रीके समवधान होनेपर जिसके आत्मामें विषाद नहीं होता वही पक्का योद्धा है। समरभूमिमें जिसने पीठ दिखा दी वह शूर नहीं, कायर है। कायरोंसे देशका कल्याण नहीं।

(कार्तिक कृ० १)

बहुत विकल्प करना अपनेको दुखी बनानेका उपाय है। आपको आप रहने दो, फिर किसी आराधनाकी आवश्यकता नहीं। जो मनुष्य अधिक विकल्प करते हैं वे किसी कार्यके अधिकारी नहीं। क्योंकि सामग्री अल्प विकल्प बहुत, अतः जो सामग्री दे वह भी बेकार जाती है।

(कार्तिक कृ० २)

शांतिसे कोई कार्य करनेपर त्रुटि नही होती, तृष्णा ही संसारकी योनि है। जिनने आत्मा पर विश्वास किया वह संसार बन्धनसे विमुक्त होगए। जिन्होंने तृष्णा रोगको बढ़ाया उन्हें अनायास विना रोगके अनेक रोग हैं। अतः जो कोई शान्ति चाहता है वह तृष्णा त्यागे।

(कार्तिक कृ० ३)

जितना ठीक रहा जावे, उतना ही अच्छा है। कहाँ तक कहा-जावे, इस वाचालताने ही सर्व ध्वंस किया। आत्माका स्वभाव देखना-जानना ही है। इसके द्वारा जो मन, वचन, कायके व्यापार होते हैं उनके द्वारा कर्मका आस्रव होता है। फिर उसमे कषायकी पुटतामें बन्ध हो जाता है।

(कार्तिक कृ० ४)

अनेक मनुष्योंको प्रायः शांतिके उपायमें शंका होती है और इसका मूल कारण हम शाति परमें खोजते हैं। जो सर्वथा निर्मूल है। शान्तिका उदय परके अभावमे होता है। परकी चिता छोड़ो।

(कार्तिक कृ० ७)

स्वाधीन रहना ही सुखका मूल है।

(कार्तिक कृ० ८)

जो तुम्हारी दुर्बलताको कहे उसे आत्मीय मित्र समझो। और जो मिथ्या प्रशंसा करे उसे मित्र मानकर गर्तमें न पड़ो। आत्मा अचिन्त्यशक्ति है, इसमें हर्ष न करो। वस्तुस्वरूपको जानो। यशकी प्राप्तिमे जो प्रसन्न होता है वह कर्मके बंधनमे पड़ता है।

(कार्तिक कृ० ९)

किसीको अपना शत्रु मत मानो, मित्र भी मत मानो। आत्मीय रागादि परिणाम ही आपके शत्रु और मित्र हैं। अतः निमित्त कारणोंकी अनुकूलता और प्रतिकूलतामें हर्ष-विषाद त्यागो। कहाँ

तक कहे, परमात्माको भी अपना मित्र मत मानो। वह तो वीत-राग है।

(कार्तिक कृ० १०)

किसी कार्यकी चिंता मत करो। कार्यकी सिद्धिका मूल कारण उत्साह है। उत्साहहीन मनुष्य कुछ नहीं कर सकता। आत्मामें अनन्त शक्तियाँ हैं। उनके कार्य उत्साहसे ही व्यक्त होते हैं। मोही जीव निरन्तर दुखी रहते हैं।

(कार्तिक कृ० ११)

किसीसे भी स्नेह न करना। संसारका मूल कारण यही है। वल्कि यही स्नेह संसार है। इसके सत्त्वमे ही तिल घानीमे पेला जाता है। लोभ भी स्नेहकी पर्याय है। जिन्होंने इसको वश किया वही परमेश्वर हैं।

(कार्तिक कृ० १२)

परको प्रसन्न करनेकी अपेक्षा आत्माको आत्मा जानो। इतरको आत्मा मत जानो। सर्व आत्मा आत्मीय परिणामके कर्त्ता है। तुम व्यर्थ कर्त्ता बनते हो।

(कार्तिक कृ० १२)

प्रतिष्ठा की लिप्सा पतनका कारण है। वैसे तो परको निज मानकर आत्मा फँसा ही है। प्रतिष्ठाका अर्थ है, हम संसारमें उच्च कहलाएँ। उच्च-नीच दोनों ही विकार हैं। इनमें हर्ष-विषाद ही संसारका कारण है। संसार दुःखमय है। जो संसारके कारणोंमें रत हैं वह मूढ़ हैं।

(कार्तिक कृ० १४)

सर्वका संग छोड़ो और एकाकी रहो, इसीमें आनन्द है। परका समागम ही आपत्तिका मूल है। आपत्तिका अर्थ यह है जो परके

समागमसे प्रथम तो उसमें ममता बुद्धि होती है। ममतासे समताका अभाव होजाता है। तब आत्मा दुखी होता है।

(कार्तिक शु० १)

आत्मा जो कहे, सो करो। यही कल्याणका मार्ग है और जहाँ कल्याण है वही शान्ति है। शान्तिके अर्थ सर्व प्रयास हैं। विना शान्तिके कुछ तत्त्व नहीं। अर्थात् इसी प्रकार संसारकी यातनाएँ सहन करनी पड़ेंगी। केवल गल्पवादकी प्रवृत्तिसे संसारको वनाना है।

(कार्तिक शु० ५)

संकोचका त्याग करो। कोपीनमात्रकी लालसा अकिंचन भावनाकी वाधिका है। संसारकी चितासे कहाँ तक शान्ति मिलेगी? बुद्धिमे नहीं आता। रात-दिन उत्तमसे उत्तम ग्रन्थोंमे विवेचन मिलता है। परन्तु हम वही के वही हैं।

(कार्तिक शु० ७)

वन्धन ही दुखका मूल है। वन्धन स्नेहमूलक है। स्नेह मोह मूलक है। विना पर द्रव्यमें निजत्वकी कल्पनाके राग नहीं। जब हम पर को अपना मानते हैं तब इन विकारों की सृष्टि होती।

(कार्तिक शु० ८)

संकोचसे सर्व प्रकार हानि होती है। प्रथम तो अपना आत्मा भयभीत हो जाता है। तथा यथार्थ वात न करनेसे अन्यका वास्तविक जो कार्य है वह रुक जाता है।

(कार्तिक शु० ९)

प्रकृति नाम स्वभावका है। जिसकी जो प्रकृति है उसे अन्यथा करनेको कोई समर्थ नहीं यह सत्य है; परन्तु ऐसा नियम है, अज्ञानका अभाव कर सकते हैं; क्योंकि वह पर्याय है। पर्याय

क्षण-भंगुर है। एकके वाद अन्य पर्याय होती है। यदि मोह मिट जाये तव आत्मामे अज्ञान पर्याय मिट सकती है।

(कार्तिक शु० १०)

परमार्थसे विचार किया जावे तो लौकिक प्रतिष्ठा पतनका ही कारण है; क्योकि उसमे हर्ष मानना ही वन्धका जनक है। वन्ध-मे मूल कारण मोह है।

(कार्तिक शु० ११)

धार्मिक मनुष्योके सहवासमे दिन विताओ। गल्पवादवाले मनुष्योकी संगति त्यागो। जो त्यागी भी हो, यदि वह लिप्सावान है तव उसका समागम त्यागो। धार्मिक मनुष्योकी वृत्ति देखकर प्रमोद भावना भावो।

(कार्तिक शु० १२)

आत्म-द्रव्य ज्ञान-दर्शनका पिण्ड है, किन्तु अनादिकालसे शरीर-का सम्वन्ध है। अतः शरीरके साथ मोह है। उसकी रक्षाके लिए आहारादि विविध उपाय जीव करता है।

(कार्तिक शु० १४)

त्याग उत्तम वस्तु है; परन्तु उसका स्वरूप समझनेमें कुछ भ्रान्ति है। जैसे स्नान करनेसे शरीरमे स्फूर्ति आती है। शरीरकी निर्मलतासे हम अच्छा कार्य कर सकते हैं।

(कार्तिक शु० १५)

जो मनुष्य दृढ़तम विचारसे गिरे हैं उनसे न तो इस लोक सम्वन्धी कार्य हो सकता है और न परलोकका हो सकता है? वे इस लोकसे भी पतित हैं और परलोकसे भी वञ्चित हैं। आत्म-कल्याणका मार्ग उपेक्षा है। उपेक्षा संसारका नाश करनेवाली है। संसारका कारण मोह राग-द्वेष है। इसमे मोह ही मुख्य है। यही परमे निजत्व कल्पनाका कारण है।

(मार्गशीर्ष कृ० १-२)

बहुत विवादसे कोई स्वात्मसिद्धि नहीं होती। स्वात्मसिद्धिका मूल कारण पर पदार्थसे सम्बन्ध छोड़ना है। पर पदार्थ कुछ बलात्कार नहीं करता। जो तुझे ग्रहणकर यह आत्मा अपने राग भावसे स्वयं किसीको ग्रहण करता है और किसीको त्यागता है। जो अनुकूल है उसे ग्रहण करता है, प्रतिकूलका त्याग करता है।

(मार्गशीर्ष कृ० ३)

इस भीषण संसारमें अनादिसे यह जीव पर पदार्थमें निजत्वकी कल्पना करता है। जिसमें निजत्व मानता है उसे अपनानेकी चेष्टा करता है। उसमें अति प्रेम करता है, उसको किसी प्रकार बाधा न पहुँचे ऐसा प्रयत्न सतत करता है। यदि उसके प्रतिकूल हुआ तब उससे पृथक् होनेकी चेष्टा करता है।

(मार्गशीर्ष कृ० ४)

इस संसार अटवीमें अनन्तकाल भ्रमण करते-करते आज यह अलब्ध मनुष्य पर्यायका लाभ हुआ। यह भी कथनमात्र है, अनन्त बार यह पर्याय पाया। पर्याय ही नही पाया, अनन्तवार द्रव्यमुनि होकर अनंतवार ग्रैवेयक तक गया जहाँ इकतीस सागरकी आयु पाई, तत्त्वविचारमें समय गया; किन्तु स्वात्मज्ञानसे वञ्चित रहा। अब अवसर अच्छा है यदि अंतरंगसे परिश्रम किया जावे तब अनायास ज्ञानका लाभ हो सकता है। भेदज्ञान वह वस्तु है जिसके होते ही यह आत्मा अनन्त संसारके बन्धनको छेद सकता है। भेदज्ञानके अभावमें जो हमारी दशा हो रही है वह हमको विदित है। उसके बिना हम परको अपना मानते हैं।

(भिण्डके मार्गमें मार्गशीर्ष ६–७)

हम निरन्तर यही प्रयास करते हैं जो वह पदार्थ हमारे अनुकूल रहे। पदार्थ दो तरहके हैं–एक चेतन और एक अचेतन। अचेतन पदार्थ तो जड़ हैं। उनमें न तो राग है और न द्वेष हैं।

वह न तो किसीका भला करते हैं और न किसीका बुरा करते हैं। हम स्वयं अपनी रुचिसे अनुकूल प्रतिकूल देख काल्पनिक बुरा-भला मान लेते हैं। इसमे कारण हमारी रुचिभिन्नता है।

(मार्गशीर्ष कृ० ८)

पदार्थकी उत्पत्तिमें केवल उपादान कुछ कर सकता है और निमित्त कुछ कर सकता है। यद्यपि कार्यका ग्रहण उपादानमे ही होता है।

(मार्गशीर्ष कृ० १०)

सामग्री कार्यकी उत्पत्तिमे सहायक होतीहै। सामग्रीमे एक उपा-दान और इतर सहकारी अनेक होते हैं। जैसे कुम्भकी उत्पत्तिमें मिट्टी उपादान और कुम्भकार आदि सहकारी होते हैं। इन सहकारियोमे चेतन भी होते हैं और अचेतन भी होते हैं। अचेतन कारण हो चाहे चेतन हो, बलात्कारसे कार्य उत्पन्न नहीं करते। किन्तु उनकी सह-कारिता अति आवश्यक है।

(मार्गशीर्ष शु० ४-६)

गल्पवादसे आत्मा सुमार्गसे च्युत हो जाता है। आत्मामे जो आकुलता होती है उसका एक कारण यह गल्पवाद भी है। पर पदार्थोंका परिणमन होता है। इसमें आपका न लाभ है और न हानि है। तुम व्यर्थ उसे अपना मानकर दुखके भोक्ता बनते हो।

(फूफ मार्गशीर्ष शु० १२)

हे आत्मन्! तुम्हारी शक्ति अचिन्त्य है। अजीव पदार्थोंसे तुम बँधकर संसारकी विभूति दिखाते हो। और जिस दिन उनसे सम्पर्क छोड़ दोगे, आनन्दके पात्र होगे। व्यर्थ मायाके जालमें पड़कर अपनी परिणतिको कलुषित करते हो।

(फूफ मार्गशीर्ष शु० १३)

परिणामोंकी जाति असंख्य प्रकारकी है। जहाँतक बने इसे न्यून करो। विकल्पजाल ही से आकुलता होती है। ज्ञानमें ज्ञेय आनेसे कोई प्रकारकी आकुलता नही। आकुलताका उपादान मोह, राग-द्वेष है, कहना कुछ और करना कुछ यही महती अज्ञानता है।

(चम्बलतटपर मार्गशीर्ष शु० १५)

ज्ञानावरण आत्मासे ज्ञानगुण विश्वका प्रकाश प्रकट नहीं होने देता। उसमे मूल कारण मोह परिणाम है जो यह दुर्दशा कर रहा है। जिन महापुरुषोने इसपर विजय प्राप्त की वे धन्य है।

(मार्गमें पौप कृ २)

जो स्वाभिमानी है वह इतरको तुच्छ मानता है। इतरका उत्कर्ष न सहना यही महती अज्ञानता है। जहाँ अज्ञानता है वहाँ पर भेदज्ञान होना असम्भव है। सर्व जीव सामान्य रूपसे समान हैं, कर्मकृत भेदसे भिन्न हैं। कोई उत्तम हैं, कोई मध्यम और जघन्य हैं। इन भेदोंसे सर्वथा तुच्छ मानना ज्ञानी जीवोंको अच्छा नहीं।

(मार्गमें पौप कृ ३)

परमार्थसे देखा जावे तब केवल निजकी परिणतिसे हम च्युत हैं। अतः इन लोगोके चक्रमे आजाते हैं।

(पौष कृ० ४)

परका समागम सुखद नहीं; क्योंकि परके समागमसे अनेक विकल्प होते हैं। विकल्प ही आकुलताके जनक हैं। आत्मामें ज्ञान है। उससे वह उस विकल्पके अनेक अर्थ स्वरुचिके अनुकूल ही लगाता है। और कुछ यथार्थ भी लगता है तब उनको रखनेकी चेष्टा करता है।

(पौष कृ० ५)

परके समागममें अनिष्ट और इष्ट कल्पना मत करो। इष्टानिष्ट कल्पना अंतरंगसे होती है। अतः यदि समागमको नहीं

चाहते हो तब अन्तरंगकी कल्पना त्याग दो। परको इष्ट-अनिष्ट माननेकी वातको त्यागो। दोष आपमे देखो, तभी सुमार्ग मिलेगा।

(पौष कृ० ६)

आज सन पूर्ण हुआ और कलसे सन वदल जावेगा। संसारका चक्र इसी प्रकार चल रहा है। इसमे हर्ष विषादकी वात नहीं। संसारकी दशा सदा यही रहेगी और हम जैसे हैं वैसे ही रहेगे। वहुत अभ्यास किया परन्तु शांतिके उपायमें असफल ही रहे। इसका कारण मोहकी वहुलता ही पाई गई।

(पौष कृ० ७)